श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ जयतः

गौड़ीय–कण्ठहार

(गौड़ीय वैष्णवोंकी रत्न–मञ्जूषा)

गौड़ीय–सम्प्रदायैक–संरक्षक
श्रीचैतन्यमठ और श्रीगौड़ीयमठ–प्रतिष्ठाता
परमहंस परिव्राजकाचार्यवर्य अष्टोत्तरशत–चिद्विलास
श्रीश्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी ठाकुरजीके अनुगृहीत

श्रीपाद अतीन्द्रिय भक्तिगुणाकर द्वारा सङ्कलित

नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री
श्रीमद्‌भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामीचरणके
अनुगृहीत
त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्‌भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज
द्वारा
सम्पादित

गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन

प्रकाशक—

श्रीभक्तिवेदान्त माधव महाराज

द्वितीय संस्करण—

अक्षय तृतीया

श्रीजगन्नाथदेवकी चन्दनयात्रा

५१९ गौराब्द

प्राप्तिस्थान

श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ,
मथुरा (उ॰प्र॰)
२५०२३३४

श्रीरूप-सनातन गौड़ीय मठ,
दानगली, वृन्दावन (उ॰प्र॰)
२४४३२ ७०

श्रीगिरिधारी गौड़ीय मठ, दसविसा,
राधाकुण्ड रोड, गोवर्धन (उ॰प्र॰)
२८१५६६८

श्रीरमणबिहारी गौड़ीय मठ,
बी-३, जनकपुरी, नई दिल्ली,
२५५३३५६८

श्रीखण्डेलवाल एण्ड संस,
अठखम्बा बाजार, वृन्दावन
२४४३९०९

निवेदन

जीवमात्र स्वरूपतः भगवान्‌के नित्य सेवक हैं। वे अपनी स्वतन्त्रताका दुरुपयोगकर अनादि कालसे भगवानसे विमुख होकर नाना प्रकारके क्लेशोंसे भरपूर जन्म-मरणके चक्रमें पड़े हुए हैं। परम करुणावरुणालय स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण कभी इस जगतमें स्वयं आविर्भूत होकर कभी अपने अंशभूत अवतारोंको और कभी अपने विशेष परिकरोंको प्रभावशाली आचार्योंके रूपमें आविर्भूत कराकर विमुख जीवोंको पुनः उनके शुद्ध स्वरूपमें प्रतिष्ठित करानेका प्रयत्न करते हैं। इन विमुख जीवोंको भगवान्‌की ओर उन्मुख करनेके लिए जितने भी उपाय या साधन हैं, उनमें भगवद्‌भक्ति ही सर्वप्रधान एवं चरम साधन है।

लगभग ५२५ वर्ष पूर्व स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण राधाजीके भाव एवं कान्तिको ग्रहणकर श्रीशचीनन्दन चैतन्य महाप्रभुके रूपमें अवतरित हुए थे। उन्होंने अत्यन्त सरल, सहज और स्वाभाविक रूपसे नाम और प्रेमकी माला गूँथकर जीवोंको प्रदान की। इसके द्वारा उन्होंने पारमार्थिक जीवनमें क्रान्ति ला दी थी। मनुष्योंकी तो बात ही क्या जंगली पशु-पक्षी भी उनके दर्शन एवं संगके प्रभावसे संसारसे तर गये। उन्होंने श्रीधाम जगन्नाथपुरीमें अद्वैतवादी महाविद्वान श्रीसार्वभौम भट्टाचार्यको, गोदावरीके तटपर परम भक्त राय रामानन्दको, प्रयागमें परम रसिक चूड़ामणि श्रील रूपगोस्वामीको, काशीमें भक्ति-तत्त्वविद् श्रील सनातन गोस्वामीको तथा काशीमें ही धुरन्धर अद्वैतवादी श्रीप्रकाशानन्द सरस्वतीको जो शास्त्र-सम्मत भक्ति-तत्त्वकी शिक्षाएँ दीं, वे श्रीहरिभक्तिविलास, श्रीचैतन्यचरितामृत आदि प्रामाणिक ग्रन्थोंमें उल्लिखित हुई हैं। तत्पश्चात् उन शास्त्रीय प्रमाणोंके आधार पर श्रील चक्रवर्ती ठाकुर, श्रील बलदेव विद्याभूषण तथा श्रील भक्तिविनोद ठाकुरने अनेकानेक ग्रन्थोंकी रचनाएँ की हैं।

तत्पश्चात् कुछ वर्ष पूर्व इसी परम्परामें श्रीचैतन्य महाप्रभुके मनोऽभीष्ट शुद्ध भक्तिका प्रचार-प्रसार करनेवाले जगद्‌गुरु श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती 'प्रभुपाद' एक प्रतिभाशाली, अनुभवी एवं अतुलनीय आचार्य आविर्भूत हुए, जिन्होंने अल्प दिनोंमें ही विश्वके कोने-कोनेमें शुद्ध भक्तिका प्रचार किया। आज विश्वका कोई भी राष्ट्र इस प्रेम-भक्तिसे अछूता नहीं है। इन्होंने वेद, उपनिषद, रामायण, महाभारत, पुराण, वैष्णव आचार्योंके रचित ग्रन्थोंका सार सङ्कलनकर श्रद्धालु जीवोंको उपदेश देकर उन्हें उन्मुख करनेकी चेष्टा की है। इसके द्वारा श्रद्धालु जीव गुरुतत्त्व, भगवत्-तत्त्व, जीव-तत्त्व, माया-तत्त्व, भक्ति-तत्त्व आदिसे अवगत होकर सहज ही भक्तिकी ओर अग्रसर हो सकता है। इसी श्रृंखलामें जगद्‌गुरु श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती 'प्रभुपाद'के अनुकम्पित श्रीपाद अतीन्द्रिय भक्तिगुणाकरने प्रस्तुत गौड़ीय-कण्ठहारका सङ्कलन किया था, जो श्रीचैतन्य मठसे सन् १९२६ में सर्वप्रथम

प्रकाशित हुआ था। भक्ति-तत्त्वविद् अनुभवी महापुरुषोंके आनुगत्यमें वेद, उपनिषद्, श्रीमद्भागवत महापुराण आदि सात्त्वत-शास्त्रोंके अनुशीलनके बिना परमार्थ-राज्यमें प्रवेश करना असम्भव है। किन्तु, शास्त्ररूपी महासिन्धुसे शास्त्र- तात्पर्यरूपी रत्न संग्रह करना सरल नहीं है। श्रील भक्तिगुणाकर प्रभुने श्रीगुरुपादपद्मकी अहैतुकी कृपा और भगवत्-प्रेरणासे बहुत सावधानीपूर्वक शास्त्र-तात्पर्यरूपी इन रत्नोंका संग्रहकर संसारी जीवोंके लिए महान उपकारका कार्य किया है। आज सचमुच ही यह ग्रन्थ भक्तोंके गलेका हार बन चुका है, इसीलिए इसका 'कण्ठहार' नाम सार्थक है।

प्रसङ्गवश यह कहना अनुचित नहीं होगा कि श्रीपाद भक्तिगुणाकर प्रभु अस्मदीय गुरुपादपद्मश्री भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके परम बान्धव गुरुभ्राता थे। श्रील गुरुपादपद्मके आतिथ्य और सेवामय जीवनसे प्रभावित होकर इन्होंने श्रील प्रभुपादके श्रीचरणोंका आश्रय लिया था। श्रीपाद भक्तिगुणाकर प्रभुने इस अनुपम ग्रन्थ-रत्नका सङ्कलनकर अपने परमाराध्य श्रील प्रभुपादके करकमलोंमें समर्पित करते हुए कहा था—

परमाराध्य-परमाभीष्टदेव

परमहंस-परिव्राजकाचार्यवर्य अष्टोत्तरशतश्री चिद्विलास

ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त-सरस्वती-गोस्वामी-ठाकुर-

श्रीश्रीकरकमलेषु—

परम अर्चनीय श्रील प्रभुपाद

आप साक्षात् भक्तिसिद्धान्त वाणीस्वरूप हैं, साथ ही कीर्त्तनाख्या भक्तिके मूर्त्त-विग्रह हैं। मुझ जैसे हरिविमुख व्यक्तिने भी आपकी अहैतुकी कृपाके प्रभावसे इसका साक्षात् अनुभव किया है। कलियुग पावनावतारी श्रीगौरसुन्दरकी 'कीर्त्तनीयः सदा हरिः'—इस वाणीके आप मूर्त्तविग्रह हैं। संसारके तापसे दग्ध जीवोंको इस हरिकथारूपी शान्ति-सलिल द्वारा सींचकर उन्हें सुस्निग्ध करनेके लिए ही आपका इस संसारमें आगमन हुआ है। आप श्रीचैतन्य महाप्रभुके परमप्रिय परिकर हैं—यह यथार्थ सत्य है।

आपके श्रीमुखसे परम वीर्यवती भक्तिसिद्धान्त-सुधाकी अक्षय सरिताएँ सहस्र सहस्र धाराओंके रूपमें प्रवाहित हो रही हैं। आप असीम, अतल भक्ति-सिद्धान्तके रत्नाकरस्वरूप हैं। उसमें मुझ जैसे नीच व्यक्तिका अवगाहन करनेकी सामर्थ्य नहीं है। किन्तु, आप बड़े उदार हैं, इस उदारतारूपी तरंगोंसे आपने जीवोंके कल्याणके लिए शास्त्ररूपी महासागरसे जिन रत्नोंको निकालकर तटभूमिमें निक्षेप किया है, उनमेंसे केवल कतिपय रत्नोंको मैंने संग्रह करनेकी चेष्टा की है। आपके प्रिय 'श्रीगौड़ीय' (साप्ताहिक पत्रिका) में आपके मुख विगलित हरिकथामृतरूपी तरङ्गिनी सदा प्रवाहित हो रही है। मैंने उससे अठारह रत्नोंका गुच्छ संग्रहकर आपकी कृपा द्वारा परिपुष्ट गुरुभ्राताओंकी सहायतासे इस कण्ठहारका गुम्फन किया है।

हे स्वरूप दामोदरानुगवर! हे गौड़ीयवर्य! यह कण्ठहार आपके श्रीकरकमलोंमें अर्पित कर रहा हूँ। इसके द्वारा आपके प्रसन्न होनेपर मैं यह समझूँगा कि यह सचमुच ही गौड़ीय भक्तोंके गलेका हार होनेके योग्य है। आपकी ही वस्तु आपके करकमलोंमें भक्तिअर्घ्यके रूपमें अर्पित कर रहा हूँ। आप इसे ग्रहण करें। आपके करस्पर्शसे इस कण्ठहारकी स्निग्ध प्रभा मुझ जैसे बद्ध जीवोंके अविद्या-अहङ्कारको अवश्य ही दूर करेगी, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

हे मुकुन्दप्रेष्ठ! मैं नितान्त अयोग्य हूँ, फिर भी यह दृढ़ विश्वास है कि जो वस्तु आपके करकमलोंमें समर्पित होती है, उसे श्रीहरि अवश्य ही प्रेमसे ग्रहण करते हैं। मैं आशा करता हूँ कि आपके करकमलोंमें स्थित यह रत्नमाला श्रीकृष्णके चरण-कमलोंकी आरती उतारकर गौड़ीय भक्तोंके कण्ठमें सुशोभित होगी। गौड़ीय भ क्तगण इस प्रसादको अपने गलेंमें सर्दव धारणकर मेरे प्रति आशीर्वादकी वर्षा करेंगे। मेरी यही एकमात्र अभिलाषा है।

हे प्रभो! आप प्रसन्न होवें। आपकी कृपा ही भगवान्की कृपा है कीर्त्तनाख्या भक्ति ही साध्य और साधन है। आप जययुक्त होवें।

श्रीराधाष्टमी तिथि
श्रीगौराब्द ४४०,
श्रीगौड़ीय मठ, कलकत्ता।

भवदीय चरणसेवाभिखारी
अयोग्य-दासाभास
श्रीअतीन्द्रिय दासाधिकारी

जगद्गुरु श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर 'प्रभुपाद' ने इस ग्रन्थको पाकर अत्यन्त प्रसन्न होकर श्रीपाद अतीन्द्रिय भक्तिगुणाकर प्रभुको जो आशीर्वाद पत्र दिया था, वह नीचे उद्धृत किया जा रहा है—

शुद्धभागवतप्रवर

श्रीमद्अतीन्द्रिय दासाधिकारी भक्तिगुणाकरेषु—

स्नेहविग्रह,

आपके द्वारा गुथे हुए कण्ठहारको पाकर मुझे कितनी प्रसन्नता हुई, उसे व्यक्त करनेके लिए मेरे पास भाषा नहीं है। मैं निष्कपट गौड़ीय शुद्धभक्त गुरुवर्गके गलेमें इसे पहनाकर उनकी सेवाका एक सुअवसर प्राप्त करुँगा। आपने ही इसे भलीभाँति व्यक्त कर दिया है। बहुतसे लोग गौड़ीय विद्धाभक्तिका आश्रयकर हरिसेवाके बदले श्रीभगवान्को भी अपने भोगकी वस्तु समझते हैं। मुझे ऐसा लगता है कि वे लोग भी जब इस हारको गलेमें धारण करेंगे, तब उन्हें भी अपने स्वरूपका ज्ञान होगा तथा वे मुझ जैसे दीन-हीन-अकिञ्चनके साथ विद्वेष करनेसे विरत होंगे।

श्रील भक्तिविनोद ठाकुरने नामहट्टके झाड़ूदारके रूपमें अपना परिचय देते

हुए अप्राकृत लीलाको प्रकट किया है। हम शत-शत लोग शत-शत मुखोंसे महाजनोंका अनुगमन करते हुए उनके इस प्रपञ्च मार्जनकी लीला अर्थात् बद्धजीवकी अविद्या (कृष्ण विमुखता) रूपी मलको दूर करनेके उपकरण (झाडू) के रूपमें प्रस्तुत होंगे अर्थात् इस अप्राकृत हरिकथाका प्रचार करेंगे एवं लोगोंको दुसङ्गसे बचानेकी चेष्टा करेंगे। हमारा यह कार्य जगत्के लोगोंको अप्रिय लगेगा, किन्तु यही हमारे चरम कल्याणको प्रदान करेगा।

श्रीराधाष्टमी तिथि
श्रीचैतन्याब्द ४४०

पतितपावन-नित्यदास निराशीर्निर्नमष्क्रिय
श्रीसिद्धान्तसरस्वती

यह स्वप्रकाशित ग्रन्थ है। इसके सम्बन्धमें कुछ लिखना सूर्यको दीपक दिखानेके समान है। इसे पढ़कर श्रद्धालु पाठकवर्ग स्वयं इस तथ्यका अनुभव करेंगे।

सर्वप्रथम मैंने ओमप्रकाश व्रजवासी, एम. ए., 'साहित्यरत्न' को हिन्दी भाषामें इसके अनुवाद करनेकी प्रेरणा दी। उन्होंने अत्यधिक परिश्रमसे बङ्गला भाषासे हिन्दी भाषामें इसका अनुवाद किया। किन्तु, बङ्गला पयारोंका अनुवाद एवं परिशिष्ट श्लोकोंका सङ्कलन तथा अनुवाद बाकी रह गया था। यह कार्य श्रीमान् नवीनकृष्ण ब्रह्मचारी 'विद्यालङ्कार' , हरिप्रिय ब्रह्मचारी 'विद्याभूषण' तथा श्रीमान् शुभानन्द ब्रह्मचारी 'भागवत भूषण' ने परिश्रमसे किया। इस ग्रन्थके कम्पोजिंग, प्रूफ संशोधन आदि विभिन्न सेवाकार्योंमें श्रीमान् पुरन्दर ब्रह्मचारी 'सेवाविग्रह', श्रीपरमेश्वरी दास ब्रह्मचारी 'सेवानिकेतन', श्रीमान् पुण्डरीक ब्रह्मचारी तथा आर्थिक सहायताके लिए श्रीप्रेमानन्द ब्रह्मचारी 'सेवारत्न', सुबलसखा ब्रह्मचारी 'भक्तिचकोर' आदिकी सेवा-चेष्टाएँ अत्यन्त प्रशंसनीय हैं। श्रीश्रीगुरु-गौराङ्ग-गान्धर्विका-गिरिधारी इनपर प्रचुर कृपाशीर्वाद वर्षण करें—यही उनके श्रीचरणोंमें मेरी प्रार्थना है।

इस ग्रन्थमें कोई त्रुटि-विच्युति दिखाई दे तो पारमार्थिक पाठकगण निजगुणोंसे क्षमा करेंगे तथा संशोधनपूर्वक ग्रन्थका सार ग्रहणकर कृतार्थ करेंगे।

अक्षय तृतीया
श्रीजगन्नाथदेवकी चन्दनयात्रा
सम्वत्—२०५३, सन् १९९६
श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
मथुरा (उ. प्र.)

श्रीश्रीगुरु-वैष्णव-कृपालेशप्रार्थी
त्रिदण्डि भिक्षु—
श्रीभक्तिवेदान्त नारायण

U U U

रत्न-सूची

U U U

विषय-सूची

[बड़े अक्षरोंमें रत्न, बायीं ओर रत्न-संख्या, दाहिनी ओर पृष्ठ-संख्या है]
[छोटे अक्षरोंमें विषय समूह एवं दायीं ओर पृष्ठ-संख्या है।]

१३. साधनभक्तितत्त्व १८६—२२९

१५. आश्रमधर्मतत्त्व २५८—२७८

१६. शुद्धश्राद्धतत्त्व . २७९—२८४

१७. नामतत्त्व...... २८५—३२४

दोलक

मध्यमणि

U U U

श्लोक–सूची

[प्रत्येक श्लोक अंशके पश्चात् यथाक्रमसे रत्नसंख्या,
रत्नकी श्लोक संख्या और पृष्ठ संख्या प्रदत्त हुई है।]

U U U

बंगला-पद्य-सूची

U U U

प्रमाण-ग्रन्थ-तालिका

'श्रीगौड़ीय-कण्ठहार'में निम्नलिखित ग्रन्थोंसे प्रमाण उद्धृत किये गये हैं—

१। अग्निपुराण, २। अत्रिसंहिता, ३। अनन्त-संहिता, ४। आगमप्रमाण्यम् (यामुनाचार्य), ५। आदिपुराण, ६। आलवान्दारुस्तोत्रम्, ७। इशोपनिषत्, ८। उज्ज्वल-नीलमणि, ९। उपदेशामृत, १०। उपपुराण, ११। ऋग्वेद, १२। एकादशी तत्त्व, १३। कठोपनिषत्, १४। कलिसन्तरणोपनिषत्, १५। कात्यायनसंहिता, १६ कुल्लुकभट्ट टीका (मनुसंहिता), १७। कूर्मपुराण, १८। कृष्णकर्णामृत, १९। कृष्णामृतमहार्णव (मध्वमुनि), २०। क्रमसन्दर्भ टीका, २१। गरुड़ पुराण, २२। गीत गोविन्द, २३। गीता, २४। गीतावली (श्रील भक्तिविनोद ठाकुर) २५। गौरगणोद्देशदीपिका, २६। चतुर्वेद शिखा, २७। चैतन्यचन्द्रामृत, २८। चैतन्य चन्द्रोदय नाटक, २९। चैतन्यचरितामृत, ३०। चैतन्य भागवत, ३१। चैतन्यमङ्गल, ३२। छान्दग्योपनिषत्, ३३। जावालोपनिषत्, ३४। तत्त्वमुक्तावली, ३५। तत्त्वसन्दर्भ, ३६। तत्त्वसागर, ३७। तैत्तिरीय उपनिषत्, ३८। दशमूलशिक्षा, ३९। दशश्लोकी (निम्बार्क), ४०। दिग्दर्शिनी टीका (श्रीसनातन गोस्वामी), ४१। दुर्गम सङ्गमनी, ४२। नारद पञ्चरात्र, ४३। नारदसूत्र, ४४। नारदीय पुराण, ४५। नीलकण्ठ टीका (महाभारत), ४६। पद्मपुराण, ४७। पद्यावली, ४८। परम संहिता, ४९। परमहंसोपनिषत्, ५०। परमात्मसन्दर्भ, ५१। प्रमेय रत्नावली, ५२। प्रह्लाद पञ्चरात्र, ५३। प्रार्थना (श्रीनरोत्तम ठाकुर), ५४। प्रेमविवर्त्त, ५५। प्रेमभक्तिचन्द्रिका, ५६। वज्रसूचिकोपनिषत्, ५७। वराहपुराण, ५८। वायुपुराण, ५९। वासनाभाष्य, ६०। विदग्धमाधव, ६१। विलाप कुसुमाञ्जलि (श्रीदास गोस्वामी), ६२। विष्णुधर्मोत्तर, ६३। विष्णुपुराण, ६४। विष्णुभक्तिचन्द्रोदय, ६५। विष्णुयामल, ६६। विष्णुरहस्य, ६७। विष्णुस्मृति, ६८। वृहदारण्यकोपनिषत्,

६९। बृहद्भागवतामृत, ७०। वेदान्तसार (सदानन्द योगीन्द्र), ७१। वैष्णव चिन्तामणि, ७२। वैष्णव तन्त्र, ७३। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण, ७४। ब्रह्मसंहिता, ७५। ब्रह्मसंहिता टीका (श्रीजीव), ७६। ब्रह्मसूत्र, ७७। ब्रह्मोपनिषत्, ७८। भक्तिरसामृत सिन्धु, ७९। भक्तिसन्दर्भ, ८०। भगवत्सन्दर्भ, ८१। भरद्वाज संहिता, ८२। भावार्थदीपिका, ८३। मत्स्यपुराण, ८४। मध्वभाष्य, ८५। मनःशिक्षा (दास गोस्वामी), ८६। मनुसंहिता, ८७। महाजन कारिका, ८८। महाजन गीति, ८९। महाभारत, ९०। माठर श्रुति, ९१। मुकुन्दमालास्तोत्र (कुलशेखर), ९२। मुक्तिकोपनिषत्, ९३। मुण्डकोपनिषत्, ९४। लघुभागवतामृत, ९५। शरणागति (ठाकुर भक्तिविनोद), ९६। शाण्डिल्यभक्तिसूत्रम्, ९७। शिक्षाष्टक, ९८। श्वेताश्वतरोपनिषत्, ९९। श्रीमद्भागवत, १००। सत्क्रियासारदीपिका, १०१। सर्वसम्वादिनी, १०२। सात्त्वत तन्त्र, १०३। सात्त्वत पुराण, १०४। सात्त्वत संहिता, १०५। सामसंहिता, १०६। सारार्थदर्शिनी टीका, १०७। सूतसंहिता, १०८। स्कन्दपुराण, १०९। स्तवमाला, ११०। 'स्तवमाला विभूषण' भाष्य, १११। स्तवामृतलहरी, ११२। स्तोत्ररत्न (यामुनाचार्य), ११३। स्वरूपगोस्वामी कड़चा, ११४। हंसगीता (महाभारत), ११५। हरिनामचिन्तामणि, ११६। हरिवंश, ११७। हरिभक्तिकल्पलतिका, ११८। हरिभक्तिविलास, ११९। हरिभक्तिसुधोदय, १२०। हारीत संहिता।

शास्त्रसिन्धुत्थितैः रत्नैः कण्ठहारो विनिर्मितः।
स्मरण-सम्पूटे नित्यं रक्षितव्यः प्रयत्नतः।।

U U U

श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः

गौड़ीय-कण्ठहार

पहला रत्न

गुरुतत्त्व

सद्गुरु ग्रहण अथवा श्रौतपन्थाकी आवश्यकता—

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥१॥

(मुण्डक १/२/१२)

उन भगवद्वस्तुका विज्ञान (प्रेमभक्तिसहित ज्ञान) प्राप्त करनेके लिए वे यज्ञीय समिध् हाथमें लिये हुए वेदतात्पर्यज्ञ और कृष्णतत्त्वविद् सद्गुरुके पास कायमनोवाक्यके साथ पूर्ण समर्पित भावसे जाएंगे॥१॥

"आचार्यवान् पुरुषो वेद"॥२॥

(छान्दोग्य ६/१४/२)

आचार्यसे दीक्षा प्राप्त व्यक्ति ही उन परब्रह्मको जानते हैं॥२॥

उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान् निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया।
दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति॥३॥

(कठ २/३/१४)

स्वयं वेदपुरुष साधुओंके हितके लिए उपदेश कर रहे हैं—हे साधुगण! नाना प्रकारकी विषय चिन्ताओंसे निवृत्त होओ, अनर्थ परित्याग करके स्वस्वरूपमें प्रतिष्ठित होओ, महान् व्यक्तियोंकी कृपा प्राप्त करके भगवान्‌को जाननेके लिए सचेष्ट होओ। छुरेकी धारके समान संस्सृति (संसार) अतीव तीक्ष्ण अर्थात् बहु दुःखकारिणी है, वह दुरत्यया है अर्थात् भगवत् ज्ञानके बिना संसारसे पार होना असम्भव है। दिव्य सूरिगण उस संसार निवर्तक ब्रह्मको प्राप्त करना बहुत ही दुर्लभ बताते हैं अर्थात् सद्गुरुके आनुगत्यमें यत्नपूर्वक भगवत् अनुशीलन किये बिना संसारसे तरनेका और अन्य उपाय नहीं है॥३॥

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥४॥

(श्वेताश्वतर ६/२३)

जिनकी श्रीभगवान्‌में पराभक्ति है और श्रीभगवान्‌के समान ही श्रीगुरुदेवके प्रति भी शुद्धभक्ति है, उसी महात्माके हृदयमें श्रुतियोंके सभी मर्मार्थ प्रकाशित होते हैं॥४॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥५॥

(कठ १/२/२३)

इस परमात्म वस्तुको तर्क, मेधा या पाण्डित्य द्वारा नहीं जाना जा सकता। जब जीवात्मा भगवान्‌के प्रति सेवोन्मुख होकर परमात्माकी कृपायाचना करता है, तब उसीके निकट वे परमात्मा अपना स्वयंप्रकाश श्रीविग्रह प्रकट करते हैं॥५॥

जननमरणादि–संसारानल–सन्तप्तोद्दीप्तशिराजलराशिमिव।
उपहारपाणिः श्रोत्रिय–ब्रह्मनिष्ठं गुरुमुपसृत्य तमनुसरति॥६॥

(सदानन्द–योगीन्द्रकृत–वेदान्तसार ११ संख्या–धृतवचन)

मस्तक जल उठनेपर लोग जिस प्रकार जलके निकट जाते हैं, उसी प्रकार जन्ममरणादि संसारानलमें सन्तप्त होनेपर शिष्य उपहार स्वरूप हाथमें समिध् लेकर वेदवेदान्तमें पारंगत ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास जाते हैं एवं उनके अनुगत होते हैं॥६॥

जीव नित्य कृष्णदास, ताहा भुलि गेल।
एइ दोषे माया तार गलाय बाँधिल॥७॥

(चै. च. मध्य २२/२४)

जीव स्वरूपतः कृष्णका नित्य दास है। परन्तु जीवको जब इसका विस्मरण हो जाता है, तब इस अपराधके कारण माया दण्डस्वरूप उसके गलेको बाँध देती है॥७॥

कृष्ण भुलि' सेई जीव अनादि–बहिर्मुख।
अतएव माया तारे देय संसारादि दुःख॥८॥

(चै. च. म. २०/११७)

जीव अनादि कालसे अपने प्रभु श्रीकृष्णसे बहिर्मुख होनेके कारण माया उसे नानाप्रकारके सांसारिक कष्ट प्रदान करती है॥८॥

कृष्ण—बहिर्मुख हइया भोगवाच्छा करे।
निकटस्थ माया तारे जापटिया धरे॥

पिशाची पाइले येन मतिच्छन्न हय।
मायाग्रस्त जीवेर हय से भाव उदय॥
'आमि नित्य कृष्णदास'—एइ कथा भुले।
मायार नफर हइया चिरदिन बुले॥
कभु राजा, कभु प्रजा, कभु विप्र, शूद्र।
कभु सुखी, कभु दुःखी, कभु कीट, क्षुद्र॥
कभु स्वर्गे, कभु मर्त्ये, नरके वा कभु।
कभु देव, कभु दैत्य, कभु दास प्रभु॥९॥

(प्रेमविवर्त)

अनादि कालसे कृष्ण-बहिर्मुख जीव नाना प्रकारके सांसारिक भोगोंकी अभिलाषा करता आ रहा है। यह देखकर उसके समीप ही रहनेवाली माया झपटकर उसे पकड़ लेती है, जैसे—पिशाची द्वारा ग्रस्त व्यक्ति मतिच्छन्न हो जाता है, उसी प्रकार मायाग्रस्त जीवकी दशा हो जाती है। वह अपना परिचय देनेके बदले शरीरको ही 'मैं' और शरीर सम्बन्धी वस्तुओंको 'मेरा' मानकर उनके सुख-दुःखमें अपनेको सुखी एवं दुःखी मानने लगता है। मैं नित्य कृष्णदास हूँ इस तत्त्वको भूलकर जीव मायाके राज्यमें असहाय होकर भ्रमण करता रहता है। वह कभी राजा, कभी प्रजा, कभी विप्र, कभी शूद्र, कभी सुखी, कभी दुःखी, कभी क्षुद्र योनियोंमें, कभी स्वर्ग लोकमें, कभी मर्त्य लोकमें, कभी नरकमें, कभी देवयोनिमें, कभी दैत्य योनिमें, कभी दास रूपमें और कभी प्रभु होकर पुनः पुनः जन्म-मरणके चक्करमें भ्रमण करता रहता है॥९॥

(एइरूप) ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान जीव।
गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज॥
ताते कृष्ण भजे, करे गुरुर सेवन।
मायाजाल छुटे, पाय श्रीकृष्णचरण॥१०॥

(चै. च. म. १९/२५१ और २२/२५)

इस प्रकार संसारमें भ्रमण करते-करते किसी सौभाग्यवान् जीवको श्रीगुरु और कृष्णकी कृपासे भक्ति-लताका बीज प्राप्त होता है। उसके फलस्वरूप गुरुकी सेवा और कृष्णका भजन करते-करते वह शीघ्र ही मायाके जालसे मुक्त होकर श्रीकृष्णके चरणोंकी सेवाको प्राप्त कर लेता है॥१०॥

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम्॥११॥

(भावार्थदीपिकाका मंगलाचरण श्लोक)

जिसकी कृपा गूंगेको वाचाल एवं पंगुको पर्वत-लङ्घन करा सकती है, उसी परमानन्दस्वरूप माधवकी मैं वन्दना करता हूँ॥११॥

चैतन्यलीलामृतपुर, कृष्णलीला सुकर्पूर,
दुहे मिले हय सुमाधुर्य।
साधुगुरुप्रसादे, ताहा येइ आस्वादे,
सेइ जाने माधुर्यप्राचुर्य॥१२॥

(चै. च. म. २५/२७०)

श्रीचैतन्य महाप्रभुकी लीला प्रगाढ़ अमृतके समान है और कृष्णलीला सुन्दर-सुगन्धित कर्पूरके समान है। ये दोनों परस्पर मिलकर और भी सुमधुर आस्वादनीय बन जाती हैं। सौभाग्यवान जीव साधु-गुरुकी कृपासे उसका रसास्वादन करते हैं, दूसरे नहीं॥१२॥

सद्गुरु और सद्शिष्य दुर्लभ—

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः।
शृन्वन्तोऽपि बहवो यं न विदुः।
आश्चर्योऽस्य वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा
आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥१३॥

(कठ १/२/७)

इस आत्माके सम्बन्धमें श्रवण करनेका सौभाग्य बहुत ही कम लोगोंको प्राप्त होता है। श्रवण करनेवालोंमें भी अधिकांश इसका अनुभव नहीं कर पाते हैं। क्योंकि उस आत्माका तत्त्वविद् उपदेष्टा जगत्में अत्यन्त दुर्लभ है। यदि उपदेष्टा मिल भी जाय तो योग्य श्रोता अत्यन्त दुर्लभ होता है॥१३॥

सद्गुरु—कृष्णतत्त्वविद्, कृष्णैकशरण और शान्त—

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्॥१४॥

(श्रीमद्भागवत ११/३/२१)

उत्तम श्रेय (कल्याण) को जाननेके लिए जिज्ञासु साधकोंको सद्गुरुका चरणाश्रय ग्रहण करना चाहिए। जो "शब्दब्रह्म" में अर्थात् श्रुति-शास्त्र सिद्धान्तमें सुनिपुण हैं, परब्रह्ममें निष्णात अर्थात् जो अधोक्षज अनुभूति प्राप्तकर चुके हैं एवं जो प्राकृत किसी भी दुःखके वशीभूत नहीं हैं वे ही सद्गुरु हैं॥१४॥

कृपासिन्धुः सुसंपूर्णः सर्वसत्त्वोपकारकः।
निस्पृहः सर्वतः सिद्धः सर्वविद्याविशारदः॥
सर्वसंशयसंछेत्ताऽनलसो गुरुराहृतः॥१५॥

(श्रीहरिभक्तिविलास १/४५-४६ विष्णुस्मृति-वचन)

अपारकृपामय, सुसम्पूर्ण (अर्थात् जो स्व-स्वरूपमें प्रतिष्ठित हैं जिनको कोई अभाव नहीं है), सर्वगुणविशिष्ट, सभी जीवोंके हित-साधनमें रत, निष्काम, सब प्रकारसे सिद्ध, सर्वविद्या अर्थात् ब्रह्मविद्या अथवा भक्तिसिद्धान्तमें सुनिपुण, शिष्यके समस्त संशय छेदनमें समर्थ और आलस्य रहित, सतत हरिसेवानिष्ठ पुरुष ही 'गुरु' कहलानेके योग्य हैं॥१५॥

जगद्गुरु—गोस्वामीके लक्षण—

वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं जिह्वावेगमुदरोपस्थवेगम्।
एतान् वेगान् यो विषहेत धीरः सर्वामपीमां पृथिवीं स शिष्यात्॥१६॥

(श्रीरूपगोस्वामीकृत उपदेशामृत १ श्लोक)

वाणी, मन, क्रोध, जिह्वा, उदर एवं जननेन्द्रियके वेग इन—छह वेगोंको जो व्यक्ति सहन करने में समर्थ हैं, वे समस्त पृथ्वीका शासन कर सकते हैं अर्थात् वे ही षड्वेगजयी गोस्वामी हैं॥१६॥

श्रीगुरु प्राकृत जातिकुलके अन्तर्गत मरणशील जीव नहीं हैं—

षट्कर्मनिपुणो विप्रो मंत्रतन्त्र विशारदः।
अवैष्णवो गुरुर्न स्याद्वैष्णवः श्वपचो गुरुः॥१७॥

(श्रीहरिभक्तिविलास-धृत पाद्म वचन)

यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान और प्रतिग्रह—इन षट्कर्मोंमें निपुण एवं मंत्र-तंत्र विशारद ब्राह्मण भी अवैष्णव होनेपर गुरु नहीं हो सकता है, किन्तु चण्डाल कुलमें जन्म ग्रहण करनेपर भी यदि कोई विष्णुभक्ति परायण हों तो वे गुरु होनेके योग्य हैं॥१७॥

वैष्णव ही सर्ववर्णाश्रमीके गुरु हैं—

विप्रक्षत्रिय वैश्याश्च गुरवः शूद्रजन्मनाम्।
शूद्राश्च गुरवस्तेषां त्रयाणां भगवत्प्रियाः॥१८॥

(पद्मपुराण)

शूद्र कूलमें उत्पन्न व्यक्ति अपनेसे उन्नत विप्र, क्षत्रिय और वैश्य जातिके किसी योग्य व्यक्तिको गुरुके रूपमें ग्रहण कर सकते हैं—यही साधारण विधि

है, किन्तु भगवत्प्रिय अर्थात् वैष्णवगण शूद्रकुलमें उत्पन्न होनेपर भी उक्त तीनों वर्ण अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य-कुलोद्भूत व्यक्तियोंके श्रीगुरुदेव हो सकते हैं।

किवा विप्र, किवा न्यासी, शूद्र केने नय।
जेई कृष्णतत्त्ववेत्ता, सेई गुरु हय॥१९॥

(श्रीचैतन्यचरितामृत-मध्य ८/१२७)

ब्राह्मण, शूद्र, गृहस्थ अथवा संन्यासी किसी भी वर्ण या आश्रममें स्थित व्यक्ति कृष्णतत्त्वका ज्ञाता होनेपर गुरु होनेका अधिकारी है। कृष्णतत्त्वविद् होना ही गुरुका प्रधान लक्षण है॥१९॥

किवा वर्णी, किवा श्रमी, किवा वर्णाश्रमहीन।
कृष्णतत्त्ववेत्ता जेई, सेई आचार्य प्रवीण॥
आसल कथा छाड़ि' भाई वर्णे जे करे आदर।
असद्गुरु करि' तार विनष्ट पूर्वापर॥२०॥

(प्रेमविवर्त्त)

किसी भी वर्ण, आश्रम या वर्णाश्रमरहित समाजका कोई भी व्यक्ति कृष्णतत्त्वका ज्ञाता होनेपर श्रेष्ठ आचार्य हो सकते हैं। जो इस यथार्थ तत्त्वको भूलकर केवल वर्णका आदर करते हैं, वे असद्गुरुका आश्रय ग्रहण करते हैं। उनका लोक-परलोक सब कुछ व्यर्थ हो जाता है॥२०॥

सद्गुरु ही सम्बन्ध ज्ञानाचार्य हैं—

वैराग्ययुग् भक्तिरसं प्रयत्नैरपाययन्मामनभीप्सुमन्धम्।
कृपाम्बुधिर्यः परदुःखदुःखी सनातनं तं प्रभुमाश्रयामि॥२१॥

(विलापकुसुमांजलि, ६ श्लोक)

जो सर्वदा परदुःखसे कातर और दयाके सागर हैं, मेरी अनिच्छा होनेपर भी जिन्होंने यत्नपूर्वक मुझ अज्ञानान्धको वैराग्ययुक्त भक्तिरसका पान कराया है, उन्हीं सम्बन्धज्ञानदाता श्रीसनातनप्रभुके श्रीचरणोंमें शरणागत होता हूँ॥२१॥

आचार्य किसको कहते हैं?—

उपनीयतु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्विजः।
सकल्पं सरहस्यञ्च तमाचार्यं प्रचक्षते॥२२॥

(मनु २/१४०)

जो ब्राह्मण शिष्यको उपनयन प्रदान कर यज्ञविद्या, उपनिषद और समस्त वेदशास्त्रोंका अध्ययन कराते हैं, मुनिगण उनको 'आचार्य' कहते हैं॥२२॥

आचिनोति यः शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन कीर्त्तितः॥२३॥

(वायुपुराण)

शास्त्रके गूढ़ सिद्धान्तोंको उपयुक्त रूपमें संग्रह कर स्वयं उसका आचरण करते हैं एवं दूसरोंको भी उसमें प्रतिष्ठित कराते हैं—ऐसे आचारवान् और तत्त्वविद् पुरुष 'आचार्य' कहलाते हैं॥२३॥

यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते॥२४॥

(गीता ३/२१)

श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करते हैं अन्य पुरुष भी उसका अनुसरण करते हैं। वे जिसे प्रमाण के रूपमें स्वीकार करते हैं, अन्य लोग भी उसका ही अनुसरण करते हैं॥२४॥

आचार और प्रचार ही जगद्गुरुका कार्य है
यही उनकी जीवोंके ऊपर कृपा है—

आपने आचरे केह ना करे प्रचार।
प्रचार करेन केह, ना करेन आचार॥
आचार-प्रचार नामेर करह दुइ कार्य।
तुमि सर्वगुरु, तुमि जगतेर आर्य॥२५॥

(चै. च. अन्त्य ४/१०२-१०३)

कुछ लोग स्वयं तो आचरण करते हैं, किन्तु प्रचार नहीं करते और कुछ लोग प्रचार करते हैं, किन्तु स्वयं आचरण नहीं करते हैं। किन्तु, हे हरिदास ठाकुर! आप स्वयं नामका जप व कीर्त्तन करते हैं तथा साथ ही उसका प्रचार भी करते हैं। इसलिए आप जगद्गुरु एवं जगत्में श्रेष्ठ महापुरुष हैं॥२५॥

आपनि आचरि भक्ति शिखामु सबारे॥२६॥

(चै. च. आ. ३/२०)

श्रीचैतन्य महाप्रभु स्वयं कहते हैं—मैं स्वयं कृष्णभक्तिका आचरणकर सबको भक्तिका आचरण करनेकी शिक्षा दूँगा॥२६॥

आपनि ना कैले धर्म शिखान ना जाय॥२७॥

(चै. च. आ. ३/२१)

क्योंकि स्वयं आचरण किये बिना दूसरोंको धर्मकी शिक्षा नहीं दी जा सकती। आचरण बिना दूसरोंको धर्मकी शिक्षा देनेसे या प्रचार करनेसे वह उपदेश या प्रचार व्यर्थ होता है॥२७॥

श्रीगुरु–श्रीविष्णु–वैष्णव–अचिन्त्यभेदाभेद प्रकाश तत्त्व—

आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्।
न मर्त्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः॥२८॥

(श्रीमद्भागवत ११/१७/२७)

भगवान् उद्धवसे बोले—"हे उद्धव! गुरुदेवको मेरा स्वरूप समझना। गुरुको सामान्य व्यक्ति समझकर उनकी अवज्ञा मत करना। गुरु सर्वदेवमय हैं॥" २८॥

वन्दे गुरूनीशभक्तानीशमीशावतारकान्।
तत्प्रकाशांश्च तच्छक्तीः कृष्णचैतन्यसंज्ञकम्॥२९॥

(चै. च. आदि १/१)

दीक्षा–शिक्षा भेदसे दो प्रकारके गुरु, श्रीवासादि ईशभक्त, अद्वैतप्रभु आदि ईशावतार, श्रीनित्यानन्दादि प्रकाश एवं श्रीगदाधरादि शक्तियाँ—इन पंचतत्त्वात्मक ईशस्वरूप महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्य नामक परमतत्त्वकी मैं वन्दना करता हूँ॥२९॥

कृष्ण, गुरुद्वय, भक्त, अवतार, प्रकाश।
शक्ति—एइ छयरूपे करेन विलास॥३०॥

(चै. च. आदि १/३२)

भगवान् श्रीकृष्ण—श्रीकृष्ण, दो प्रकारके गुरु (दीक्षा एवं शिक्षा गुरु), भक्त, अवतार, प्रकाश और शक्ति इन छह स्वरूपोमें नित्य विलास करते हैं॥३०॥

गुरुतत्त्व–दीक्षागुरु—

यद्यपि आमार गुरु चैतन्येर दास।
तथापि जानिये आमि ताहार प्रकाश॥३१॥

(चै. च. आदि १/४४)

यद्यपि मेरे गुरु श्रीचैतन्य महाप्रभुके दास हैं, तथापि मैं उनको श्रीचैतन्य महाप्रभुके प्रकाशके रूपमें दर्शन करता हूँ॥३१॥

शिक्षागुरु—(क) चैत्यगुरु, (ख) महान्तगुरु—

गुरु कृष्णरूप हन शास्त्रेर प्रमाणे।
गुरुरूपे कृष्ण कृपा करेन भक्तगणे॥३२॥
शिक्षागुरुके त' जानि कृष्णेर स्वरूप।
अन्तर्यामी, भक्तश्रेष्ठ — एइ दुइ रूप॥३३॥

(चै. च. आदि १/४५, ४७)

जीवे साक्षात् नाहि, ताते गुरु चैत्यरूपे।
शिक्षागुरु हय कृष्ण महान्तस्वरूपे॥३४॥

(चै. च. आदि १/५८)

शास्त्रके अनुसार गुरु कृष्णरूप हैं। कृष्ण गुरुरूपसे भक्तोंपर कृपा करते हैं। मैं शिक्षा गुरुको कृष्णका स्वरूप समझता हूँ। कृष्ण ही चैत्यगुरुके रूपमें प्रेरणा देते हैं तथा श्रेष्ठ भक्तके रूपमें संग और शिक्षा प्रदान करते हैं। साक्षात् रूपमें भगवान्‌का दर्शन करना साधारण बद्ध जीवोंके लिए दुर्लभ है। इसलिए वे चैत्यगुरुके रूपमें अन्तर्प्रेरणा देते हैं तथा महान्तस्वरूपसे साक्षात्‌रूपमें शिक्षागुरु होते हैं॥३२-३४॥

नैवोपयन्त्यपचितिं कवयस्तवेश
ब्रह्मायुषापि कृतमृद्धमुदः स्मरन्तः।
योऽन्तर्बहिस्तनुभृतामशुभं विधुन्व-
न्नाचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति॥३५॥

(भागवत ११/२९/६)

हे भगवन्! आप समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें अन्तर्यामीरूपसे और बाहर गुरुरूपसे स्थित होकर उनके सारे पाप-ताप आदिको मिटा देते हैं और अपने वास्तविक स्वरूपको उनके प्रति प्रकट कर देते हैं। बड़े-बड़े ब्रह्मज्ञानी ब्रह्माजी के समान लम्बी आयु पाकर भी आपके उपकारोंका बदला नहीं चुका सकते। इसीसे वे आपके उपकारोंका स्मरण करके क्षण-क्षण अधिकाधिक आनन्दका अनुभव करते रहते हैं॥३५॥

कृष्णकृपासे गुरुकृपा लाभ—

कृष्ण यदि कृपा करेन कौन भाग्यवाने।
गुरु अन्तर्यामिरूपे शिखाय आपने॥३६॥

(चै. च. मध्य २२/४७)

यदि श्रीकृष्ण किसी सौभाग्यवान जीवके ऊपर कृपा करते हैं, तो उसे अन्तर्यामी गुरुके रूपमें स्वयं शिक्षा देते हैं॥३६॥

दिव्यज्ञान प्रदाता श्रीगुरुदेव श्रीरूप गोस्वामीसे अभिन्न हैं—

अज्ञान तिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥३७॥

(प्रेमभक्तिचन्द्रिका-नरोत्तमदास)

अज्ञानरूपी अन्धकारसे अन्धे हुए मेरे नेत्रोंको वाणीरूपी शलाकाके द्वारा ज्ञानाञ्जन लगाकर उन्मीलित किया है, मैं उन श्रीगुरुदेवको प्रणाम करता हूँ॥३७॥

श्रीचैतन्यमनोऽभीष्टं स्थापितं येन भूतले।
स्वयं रूपः कदा मह्यं ददाति स्वपदान्तिकम्॥३८॥

(प्रेमभक्तिचन्द्रिका-नरोत्तमदास)

जिन्होंने धरातल पर श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुके मनोऽभीष्ट की स्थापना की है, वे श्रील रूपगोस्वामी कब मुझको अपने पादपद्मोंमें स्थान प्रदान करेंगे?॥३८॥

श्रीगुरुचरण पद्म, केवल भकति सद्म,
वन्दों मुइ सावधान मते।
जाँहार प्रसादे भाई, ए भव तरिया जाई,
कृष्णप्राप्ति हय जाँहा हइते॥
गुरुमुख पद्मवाक्य, चित्तेते करिया ऐक्य,
आर ना करिह मने आशा।
श्रीगुरुचरणे रति, एइ से उत्तमा गति,
जे प्रसादे पूरे सर्व आशा॥
चक्षुदान दिला जेई, जन्मे जन्मे प्रभु सेई,
दिव्य ज्ञान हृदे प्रकाशित।
प्रेमभक्ति जाँहा हइते, अविद्या विनाश जाते,
वेदे गाय जाँहार चरित॥३९॥

(प्रेमभक्ति चन्द्रिका)

श्रीगुरुदेवके चरणकमल ही भक्तिके एकमात्र आश्रय हैं। उनकी मैं अतिशय प्रेमपूर्वक वन्दना करता हूँ। उनकी कृपा-प्रसादसे ही इस भव-संसारको पार किया जा सकता है एवं कृष्ण-प्राप्ति होती है। श्रीगुरुदेवके मुख-निःसृत वाक्योंको चित्तमें ऐकान्तिकरूपसे धारणकर मनमें और कोई भी आशा मत करो। श्रीगुरुदेवके चरणकमलोंमें रति होनेसे सर्वश्रेष्ठ गति प्राप्त होती है तथा सारी अभिलाषाएँ पूर्ण हो जाती हैं। जिन्होंने दिव्य चक्षु प्रदानकर मेरे हृदयमें दिव्यज्ञानका प्रकाश किया है, जिनकी कृपासे अज्ञानता दूर होकर प्रेमभक्तिकी प्राप्ति होती है, वेद भी जिनके चरित्रका गान करते हैं वे श्रीगुरुदेव जन्म-जन्मोंके मेरे प्रभु हैं॥३९॥

श्रीगुरुदेव—कृष्णशक्ति हैं—मुकुन्दप्रेष्ठ हैं—

न धर्मं नाधर्मं श्रुतिगणनिरुक्तं किल कुरु
ब्रजे राधाकृष्ण-प्रचुरपरिचर्यामिह तनु।
शचीसूनुं नन्दीश्वर-पतिसुतत्वे गुरुवरं
मुकुन्दप्रेष्ठत्वे स्मर परमजस्रं ननु मनः॥४०॥

(मनःशिक्षा-२ श्लोक)

हे मेरे प्यारे मन! वेद और श्रुतियोंमें कथित धर्म और अधर्म कुछ भी मत करो, किन्तु श्रुतियोंने चरम सिद्धान्तके रूपमें जिनको सर्वोपादेय चरम उपास्य एवं सर्वोपरि परमतत्त्व निर्धारित किया है, उन श्रीश्रीराधाकृष्ण युगलकी प्रेममयी प्रचुर परिचर्या करो और श्रीराधाभाव-कान्ति सुवलित शचीनन्दन श्रीचैतन्यमहाप्रभुको श्रीनन्दनन्दनसे अभिन्न तथा श्रीगुरुदेवको श्रीमुकुन्द-प्रेष्ठ (प्रिय) जानकर उनका सदैव स्मरण करो॥४०॥

श्रीगुरुदेव-गौरशक्ति एवं गौर प्रियतम हैं—

साक्षाद्धरित्वेन समस्तशास्त्रैरुक्तस्तथा भाव्यत एव सद्भिः।
किन्तु प्रभोर्यः प्रिय एव तस्य वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम्॥४१॥

(गुर्वाष्टक सप्तम श्लोक)

निखिल शास्त्रोंने जिनका साक्षात् हरिके अभिन्न विग्रहरूपसे गान किया है एवं साधुजन भी जिनकी उसी प्रकारसे भावना करते हैं, जो भगवान्‌के एकान्त प्रिय हैं, उन्हीं (भगवान्‌के अचिन्त्य-भेदाभेदप्रकाश विग्रह) श्रीगुरुदेवके पादपद्मोंकी मैं वन्दना करता हूँ॥४१॥

शुद्धभक्ताः श्रीगुरोः श्रीशिवस्य च भगवता सह अभेददृष्टिं तत्प्रियतमत्वेनैव मन्यन्ते॥४२॥

(भक्तिसन्दर्भ २१६)

शास्त्रोंमें जिन-जिन स्थलोंपर श्रीगुरुदेव और वैष्णवप्रवर शम्भुको भगवान् से अभिन्न कहा गया है, उन-उन स्थलोंपर शुद्धभक्तगण अभिन्नका तात्पर्य कृष्णका प्रियतम ही मानते हैं॥४२॥

असद्गुरुकी निन्दा—

गुरुर्न स स्यात् स्वजनो न स स्यात्
पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्।
दैवं न तत् स्यान्न पतिश्च स स्यात्
न मोचयेद् यः समुपेत-मृत्युम्॥४३॥

(श्रीमद्भागवत ५/५/१८)

शुद्धभक्तिके उपदेशों द्वारा जो सिरपर मंडराती हुई मृत्युरूप संसारसे रक्षा नहीं कर सकता है, वह गुरु 'गुरु' नहीं है, वह स्वजन 'स्वजन' कहलाने योग्य नहीं है, वह पिता 'पिता' नहीं है अर्थात् उसका पुत्रोत्पत्तिके लिए यत्न करना उचित नहीं है, उस जननीका गर्भ धारण करना उचित नहीं है, वह देवता 'देवता' नहीं है अर्थात् जो देवता जीवकी संसारसे रक्षा करनेमें असमर्थ है, उसका

मानवके निकट पूजा ग्रहण करना उचित नहीं है और वह पति 'पति' नहीं है अर्थात् उसका पाणिग्रहण करना उचित नहीं है॥४३॥

सेइ से परमबन्धु, सेइ माता पिता।
श्रीकृष्णचरणे जेइ प्रेमभक्तिदाता॥
सकल जन्मे पितामाता सबे पाय।
कृष्ण गुरु नाहि मिले, भजह हियाय॥४४॥

(श्रीचैतन्यमंगल मध्यखण्ड)

जो श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें प्रेमभक्तिकी शिक्षा प्रदान करते हैं, वे ही परम-बन्धु एवं माता-पिता हैं। प्रत्येक जन्ममें सभीको माता-पिता मिलते हैं, किन्तु श्रीकृष्ण एवं श्रीगुरुका मिलना बहुत ही दुर्लभ है। इसलिए मनुष्य जन्ममें ही श्रीगुरु-चरणाश्रयकर श्रीकृष्णका भजन करना चाहिए॥४४॥

केवल प्राकृत पाण्डित्य रहनेसे ही गुरु नहीं हो सकता—

शब्दब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात् परे यदि।
श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः॥४५॥

(श्रीमद्भागवत ११/११/१८)

वेदोंका पारंगत विद्वान होनेपर भी परब्रह्मके ज्ञानसे रहित व्यक्तिका पारमार्थिक परिश्रम उसी प्रकार निष्फल है जिस प्रकार बांझ गायको पालना॥४५॥

कुलीन या वेदाध्यायी अवैष्णव गुरु नहीं है—

महाकुल प्रसूतोऽपि सर्वयज्ञेषु दीक्षितः।
सहस्रशाखाध्यायी च न गुरुः स्यादवैष्णवः॥४६॥

(श्रीहरिभक्तिविलास १/४०)

संभ्रान्त कुलमें उत्पन्न, सब यज्ञोंमें दीक्षित और सहस्रशाखाध्यायी ब्राह्मण भी अवैष्णव होनेपर गुरु पदके योग्य नहीं है॥४६॥

परिचर्या-यशोलिप्सुः शिष्याद् गुरुर्न हि॥४७॥

(विष्णुस्मृति)

जो गुरु शिष्यसे परिचर्या और यश लाभकी कामना करते हैं, वे निश्चय ही गुरु कहलाने योग्य नहीं हैं। ।४७॥

गुरवो बहवः सन्ति शिष्य वित्तापहारकाः।
दुर्लभः सद्गुरुर्देवि शिष्यसन्तापहारकः॥४८॥

(पुराण-वाक्य)

हे देवि! शिष्यकी सम्पत्ति अपहरण करनेवाले तो बहुतसे गुरु हैं, किन्तु शिष्यका सन्ताप नाश करनेवाले सद्गुरु दुर्लभ हैं॥४८॥

असद्गुरुका परित्याग करना ही विधि है—

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते॥४९॥

(महाभारत उद्योगपर्व १७९/२५)

भोग-विषयोंमें लिप्त, कर्तव्याकर्तव्य विवेकरहित मूढ़ एवं शुद्ध भक्तिरहित भिन्न पन्थानुगामी व्यक्ति नाम-मात्रका गुरु है। उसका परित्याग करना ही विधि है॥४९॥

स्नेहाद्वा लोभतो वापि यो गृह्णीयाद् दीक्षया।
तस्मिन् गुरौ सशिष्ये तद्देवताशाप आपतेत्॥५०॥

(ह. भ. वि. १/५)

जो तथाकथित गुरु स्नेहवश या लोभवश दीक्षा देते हैं और जो शिष्य सम्मान अथवा किसी लोभकी आशासे दीक्षा ग्रहण करते हैं—वे दोनों ही देवताके अभिशापको प्राप्त होते हैं॥५०॥

यो व्यक्ति न्यायरहितमन्यायेन शृणोति यः।
तावुभौ नरकं घोरं व्रजतः कालमक्षयम्॥५१॥

(ह. भ. वि. १/६२)

जो आचार्यके वेषमें भगवद्शास्त्र विरोधी बातें कहते हैं एवं जो शिष्यरूपमें उसको सुनते हैं—वे दोनों ही अनन्तकाल तक घोर नरकमें जाते हैं॥५१॥

शुद्ध वैष्णव-विद्वेषी गुरु परित्याज्य है—

"वैष्णवविद्वेषी चेत् परित्याज्य एव। 'गुरोरप्यवलिप्तस्ये' ति स्मरणात्। तस्य वैष्णवभावराहित्येन अवैष्णवतया 'अवैष्णवोपदिष्टेने' ति वचनविषयत्वाच्च। यथोक्तलक्षणस्य श्रीगुरोरविद्यमानतायान्तु तस्यैव महाभागवतस्यैकस्य नित्यसेवनं परमं श्रेयः॥"५२॥

(भक्तिसन्दर्भ २३८ संख्या)

वैष्णव विद्वेषी होनेपर 'गुरोरप्यवलिप्तस्य' श्लोकका स्मरणकर ऐसे गुरुका परित्याग करेंगे। वैष्णवताके अभावमें गुरुका गुरुत्व नष्ट हो जाता है। भक्त ऐसे गुरुको 'अवैष्णवोपदिष्टेन' शास्त्रोपदेशके आधारपर उसका त्यागकर सद्गुरु लक्षणविशिष्ट गुरुकी अनुपस्थितिमें उनके जैसे ही किसी अन्य महाभागवतकी सेवा करेंगे॥५२॥

अयोग्य कुल परंपरागत गुरु परित्याज्य हैं—

परमार्थगुर्वाश्रयो व्यवहारिकगुर्वादि परित्यागेनापि कर्तव्यः॥५३॥

(भक्तिसन्दर्भ २१०)

व्यवहारिक, लौकिक और कुल परंपरागत अयोग्य गुरुका परित्यागकर पारमार्थिक गुरुका आश्रय ग्रहण करेंगे॥५३॥

पुनः सद्गुरु ग्रहण आवश्यक—

अवैष्णवोपदिष्टेन मन्त्रेण निरयं व्रजेत्।
पुनश्च विधिना सम्यग् ग्राहयेद्वैष्णवाद् गुरोः॥५४॥

(ह. भ. वि. ४/१४४)

स्त्रीसंगी और कृष्णभक्तिरहित अवैष्णवसे दीक्षा मन्त्र प्राप्त करनेवाले नरकगामी होते हैं। अतएव शास्त्रानुसार पुनः वैष्णव गुरुसे मन्त्र ग्रहण करना आवश्यक है॥५४॥

शिष्यका कर्त्तव्य क्या है ?—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥५५॥

(श्रीमद्भागवत ११/२०/१७)

हे उद्धव! यह मनुष्य शरीर समस्त शुभफलोंकी प्राप्ति का मूल है और अत्यन्त दुर्लभ होने पर भी अनायास सुलभ हो गया है। इस संसार-सागरसे पार जानेके लिए यह एक सुदृढ़ नौकाके समान है। शरण-ग्रहण मात्रसे ही गुरुदेव इसके केवट बनकर पतवारका संचालन करने लगते हैं और स्मरण मात्रसे ही मैं अनुकूल वायुके रूपमें इसे लक्ष्य की ओर बढ़ाने लगता हूँ। इतनी सुविधा होने पर भी जो इस शरीरको पाकर संसार सागरसे पार होनेकी चेष्टा नहीं करता, वह आत्मघाती है॥।५५॥

गुरुमें मर्त्यबुद्धि रहनेपर सभी व्यर्थ हैं—

गुरुषु नरमतिर्यस्य वा नारकी सः॥५६॥

(पद्मपुराण)

जो श्रीगुरुदेवमें मनुष्यबुद्धि रखते हैं, वे नरक भोगने योग्य हैं॥५६॥

यस्य साक्षाद्भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ।
मर्त्यासद्धीः श्रुतं तस्य सर्वं कुञ्जरशौचवत्॥५७॥

(श्रीभागवत ७/१५/२६)

हृदयमें दिव्य ज्ञानका दीपक जलानेवाले गुरुदेव साक्षात् भगवान् ही हैं। जो दुर्बुद्धिमान् उन्हें मनुष्य समझता है, उसका समस्त शास्त्र श्रवण एवं भगवत् मन्त्रादि ग्रहण हाथीके स्नानके समान व्यर्थ है॥५७॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥५८॥

(गीता ४/३४)

(हे अर्जुन!) तुम तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी पुरुषोंको भली प्रकार दण्डवत्-प्रणामकर तथा सेवा और निष्कपट भावसे प्रश्नकर उस ज्ञानको जानो। तत्त्वदर्शी ज्ञानीजन तुम्हारे द्वारा दण्डवत्-प्रणाम, परिप्रश्न और सेवावृत्तिसे सन्तुष्ट होकर कृपापूर्वक तुम्हें उस ज्ञानका उपदेश करेंगे॥५८॥

एवं गुरूपासनयैकभक्त्या विद्याकुठारेण शितेन धीरः।
विवृश्च्य जीवाशयमप्रमत्तः सम्पद्यचात्मानमथ त्यजास्त्रम्॥५९॥

(श्रीभागवत ११/१२/२४)

हे उद्धव! इस प्रकार गुरुदेवकी उपासनारूप अनन्यभक्तिके द्वारा अपने ज्ञानकी कुल्हाड़ीको तीखीकर धीर पुरुष त्रिगुणात्मक लिंग शरीरका छेदनकर परमात्मारूपी सम्पत्तिकी प्राप्तिके उपायस्वरूप ज्ञानकी कुल्हाड़ीका भी परित्याग कर भगवद् भक्तिको प्राप्त करते हैं॥५९॥

श्रीगुरुदेव नित्यानन्द स्वरूपसे अभिन्न हैं—

संसारेर पार हइया भक्तिर सागरे।
जे डुबिबे से भजुक निताइ चान्देरे॥
आमार प्रभुर प्रभु श्रीगौर सुन्दर।
ए बड़ भरसा चित्ते धरि निरन्तर॥६०॥

(चै. भा. आ. १७/१५२-५३)

जो संसारसे पार होकर भक्तिके सागरमें डूबना चाहते हैं, उनको नित्यानन्द प्रभुका भजन करना चाहिए। मुझे दृढ़ विश्वास है कि मेरे प्रभु नित्यानन्द हैं और उनके प्रभु श्रीगौरसुन्दर हैं॥६०॥

निताइ-पद-कमल, कोटिचन्द्रसुशीतल,
जे छायाय जगत् जुड़ाय।
हेन निताइ बिना भाइ, राधाकृष्ण पाइते नाइ,
दृढ़ करि' धर निताइर पाय॥
से सम्बन्ध नाहि जार, वृथा जन्म गेल तार,
सेइ पशु बड़ दुराचार।
निताइ ना बलिल मुखे, मजिल संसार सुखे,
विद्या कुले कि करिबे तार॥

अहंकारे मत्त हञा, निताइ–पद पासरिया,
असत्येरे सत्य करि मानि।
निताइर करुणा हबे, ब्रजे राधाकृष्ण पाबे,
धर ताँर चरण दुखानि॥६१॥

(ठाकुर महाशयकी प्रार्थना)

करोड़ों चन्द्रोंकी सुशीतलताका भी तिरस्कार करनेवाले श्रीनित्यानन्द प्रभुके चरणकमलोंकी छत्रछायामें शरण ग्रहण करनेसे इस जगतमें पुनः पुनः आवागमन समाप्त हो जाता है। भाई! ऐसे नित्यानन्द प्रभुके चरणोंकी शरण ग्रहण किये बिना श्रीराधाकृष्णकी प्राप्ति सम्भव नहीं है। इसलिए दृढ़ निश्चयके साथ नित्यानन्द प्रभुके श्रीचरणोंमें आश्रय ग्रहण करो। जिसने ऐसा नहीं किया, उसका जन्म व्यर्थ है और वह पशुसे भी अधम एवं दुराचारी है। जो अपने मुखसे नित्यानन्द प्रभुका नाम उच्चारण नहीं करते तथा संसारके अनित्य सुखोंमें मत्त रहते हैं, विद्या एवं कुल उनका उद्धार नहीं कर सकते। जो विद्या और कुल आदिके अहंकारमें मत्त होकर श्रीनित्यानन्दप्रभुके श्रीचरणोंको भूल जाते हैं, वे असत्यको ही सत्य मानते हैं। नित्यानन्दप्रभुकी करुणा होनेसे ब्रजमें श्रीराधाकृष्णकी प्राप्ति होती है। इसलिए नित्यानन्द प्रभुके श्रीचरणोंका आश्रय ग्रहण करो॥६१॥

आम्नाय क्या है ?

आम्नायः श्रुतयः साक्षाद्ब्रह्मविद्येति विश्रुताः।
गुरुपरम्पराप्राप्ताः विश्वकर्त्तुर्हि ब्रह्मणः॥६२॥

(महाजन कारिका)

विश्वकर्त्ता ब्रह्मासे गुरुपरम्परा प्राप्त ब्रह्मविद्या नामक श्रुतियोंको आम्नाय कहते हैं॥६२॥

श्रुतियोंमें आम्नाय का उल्लेख—

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ताभुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्व विद्या प्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठ पुत्राय प्राह॥६३॥

(मुण्डक १/१/१)

विश्वकर्त्ता भुवनपालक आदिदेव ब्रह्माने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वाको सभी विद्याओंके आधारस्वरूप ब्रह्मविद्याकी शिक्षा दी थी॥६३॥

श्रीमन्मध्वाचार्य

आनन्दतीर्थनामा सुखमयधामा यतिर्जीयात्।
संसारार्णवतरणीं यमिह जनाः कीर्त्तयन्ति बुधाः॥६४॥

(प्रमेय रत्नावली)

सुखमयधामस्वरूप आनन्दतीर्थ मध्वमुनिकी जय हो! पण्डितगण संसाररूपी सागरसे पार होनेकी तरणी कहकर उनका कीर्त्तन करते रहते हैं॥६४॥

ब्रह्म-माध्व-गौड़ीय गुरु परम्परा—

श्रीकृष्ण-ब्रह्म-देवर्षि बादरायण-सञ्ज्ञकान्।
श्रीमध्व-श्रीपद्मनाभ-श्रीमन्नृहरि-माधवान्॥
अक्षोभ्य-जयतीर्थ-श्रीज्ञानसिन्धु दयानिधीन्।
श्रीविद्यानिधि-राजेन्द्र-जयधर्मान् क्रमाद्वयम्॥
पुरुषोत्तम-ब्रह्मण्य व्यासतीर्थांश्च संस्तुमः।
ततो लक्ष्मीपतिं-श्रीमन्माधवेन्द्रञ्च भक्तितः॥
तच्छिष्यान् श्रीश्वराद्वैतनित्यानन्दान् जगद्गुरून्।
देवमीश्वरशिष्यं श्रीचैतन्यञ्च भजामहे।
श्रीकृष्णप्रेमदानेन येन निस्तारितं जगत्॥
महाप्रभु-स्वरूप-श्रीदामोदरः प्रियंकरः।
रूपसनातनौ द्वौ च गोस्वामिप्रवरो प्रभु॥
श्रीजीवो रघुनाथश्च रूपप्रियो महामतिः।
तत्प्रियः कविराज-श्रीकृष्णदास प्रभुर्मतः॥
तस्य प्रियोत्तमः श्रीलः सेवापरो नरोत्तमः।
तदनुगतभक्तः श्रीविश्वनाथः सदुत्तमः॥
तदासक्तश्च गौड़ीयवेदान्ताचार्यभूषणम्।
विद्याभूषणपादश्रीबलदेवसदाश्रयः॥
वैष्णवसार्वभौमः श्रीजगन्नाथप्रभुस्तथा।
श्रीमायापुरधाम्नस्तु निर्देष्टा सज्जन प्रियः॥
शुद्धभक्तिप्रचारस्य मूलीभूत इहोत्तमः।
श्रीभक्तिविनोदो देव स्तत् प्रियत्वेन विश्रुतः॥
तदभिन्नसुहृदवर्यो महाभागवतोत्तमः।
श्रीगौरकिशोरः साक्षाद् वैराग्यं विग्रहाश्रितम्॥
मायावादि-कुसिद्धान्त-ध्वान्तराशि-निरासकः।
विशुद्धभक्तिसिद्धान्तैः स्वान्तः पद्मविकाशकः॥

देवोऽसौ परमो हंसो मत्तः श्रीगौरकीर्त्तने।
प्रचाराचारकार्येषु निरन्तरं महोत्सुकः॥
हरिप्रियजनैर्गम्य ॐ विष्णुपादपूर्वकः।
श्रीपादो भक्तिसिद्धान्त सरस्वती महोदयः॥
सर्वे ते गौरवंश्याश्च परमहंसविग्रहाः।
वयञ्च प्रणता दासास्तदुच्छिष्टग्रहाग्रहाः॥६५॥

गुरुपरम्परा—

कृष्ण हइते चतुर्मुख, हय कृष्ण सेवोन्मुख,
ब्रह्मा हइते नारदेर मति।
नारद हइते व्यास, मध्व कहे व्यासदास,
पूर्णप्रज्ञ पद्मनाभ गति॥
नृहरि माधव वंशे, अक्षोभ्य-परमहंसे,
शिष्य बलि' अङ्गीकार करे।
अक्षोभ्येर शिष्य जय- तीर्थ नामे परिचय,
ताँर दास्ये ज्ञानसिन्धु तरे॥
ताहा हइते दयानिधि, ताँर दास विद्यानिधि,
राजेन्द्र हइल ताँहा हइते।
ताँहार किंकर जय- धर्म नामे परिचय,
परम्परा जान भाल मते॥
जयधर्म-दास्ये ख्याति, श्रीपुरुषोत्तम यति,
ताहा हइते ब्रह्मण्यतीर्थ सूरि।
व्यासतीर्थ ताँर दास, लक्ष्मीपति व्यासदास,
ताहा हइते माधवेन्द्र पुरी॥
माधवेन्द्र पुरीवर, शिष्यवर श्रीईश्वर,
नित्यानन्द श्रीअद्वैत विभु।
ईश्वरपुरीके धन्य, करिलेन श्रीचैतन्य,
जगद्गुरु गौरमहाप्रभु॥
महाप्रभु श्रीचैतन्य, राधाकृष्ण नहे अन्य,
रूपानुग जनेर जीवन।
विश्वम्भर प्रियङ्कर, श्रीस्वरूप दामोदर,
श्रीगोस्वामी रूप-सनातन॥

रूपप्रिय महाजन, जीव रघुनाथ हन,
तँार प्रिय कवि कृष्णदास।
कृष्णदास प्रियवर, नरोत्तम सेवापर,
जँार पद विश्वनाथ आश॥
विश्वनाथ भक्तसाथ, बलदेव जगन्नाथ,
तँार प्रिय श्रीभकति विनोद।
महाभागवतवर, श्रीगौरकिशोरवर,
हरि भजनेते जँार मोद॥
श्रीवार्षभानवीवरा, सदा सेव्यसेवापरा,
तँाहार दयितदास नाम।
एइ सब हरिजन, गौराङ्गेर निजजन,
तँादेर उच्छिष्ट मोर काम॥६६॥

श्रीब्रह्म-माध्व-गौड़ीय वैष्णव गुरु परम्परा—

श्रीकृष्ण मूल जगद्गुरु हैं। उनसे चतुर्मुख ब्रह्माके हृदयमें शुद्ध ज्ञान-विज्ञानरूप भक्तिकी धारा प्रवाहित हुई। पुनः उनसे श्रीनारद, श्रीवेदव्यासको कमशः यह विद्या प्राप्त हुई। तत्पश्चात् वेदव्यासजीकी परम्परामें क्रमानुसार श्रीमध्वाचार्य, श्रीपद्मनाभ, श्रीनृहरि, श्रीमाधव, श्रीअक्षोभ्य, श्रीजयतीर्थ, श्रीज्ञानसिन्धु, श्रीदयानिधि, श्रीविद्यानिधि, श्रीराजेन्द्र, श्रीजयधर्म, श्रीपुरुषोत्तमतीर्थ, श्रीब्रह्मण्यतीर्थ, श्रीव्यासतीर्थ तथा श्रीलक्ष्मीपतितीर्थ आचार्य हुए। पुनः लक्ष्मीपतिके शिष्य श्रीमाधवेन्द्रपुरी थे, उनके शिष्य श्रीईश्वरपुरी, श्रीनित्यानन्द प्रभु एवं श्रीअद्वैताचार्य उनके अनुगत हुए। जगद्गुरु श्रीगौरांग महाप्रभुने श्रीईश्वरपुरीका चरणाश्रयकर उनको धन्य किया। श्रीचैतन्य महाप्रभुके प्रिय श्रीस्वरूप दामोदर हुए, उनके प्रिय श्रीरूप व सनातन गोस्वामी हुए। श्रीजीव व रघुनाथदास गोस्वामीने श्रीरूप गोस्वामीके चरणोंका आश्रय ग्रहण किया। उन दोनोंके प्रिय पात्र श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी हुए। श्रील कविराज गोस्वामीके प्रिय नरोत्तम एवं उनके प्रिय श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर हुए। उनके कृपापात्र श्रीबलदेव विद्याभूषण तथा उनके प्रिय सार्वभौम जगन्नाथदास बाबाजी महाराज हुए। श्रील भक्तिविनोद ठाकुरने उनके श्रीचरणोंका आश्रय ग्रहण किया। श्रील भक्तिविनोद ठाकुरके सबसे प्रिय महाभागवत श्रीगौरकिशोरदास बाबाजी तथा उनके प्रियपात्र श्रीवार्षभानवी-दयितदास जगद्गुरु श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुरजीने सारे विश्वमें श्रीचैतन्य महाप्रभु द्वारा आचरित व प्रचारित शुद्धभक्ति (प्रेमभक्ति) की धारा प्रवाहित की है। इन्हीं सरस्वती ठाकुरके प्रियतम कृपापात्रोंमें जगद्गुरु श्रील भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराज अन्यतम हैं। वे सभी श्रीहरि गौरसुन्दरके प्रिय परिकर हैं। हम उन्हींके उच्छिष्टकी कामना करते हैं॥६६॥

परिशिष्ट

प्रथमन्तु गुरुं पूज्यं ततश्चैव ममार्च्चनम्।
कुर्वन् सिद्धिमवाप्नोति ह्यन्यथा निष्फलं भवेत्॥१॥

(ह. भ. वि. ४/१३४ श्रीभगवदुक्ति)

सर्वप्रथम अपने श्रीगुरुदेवकी पूजा करो, तदनन्तर मेरा अर्चन करो। इस पद्धतिको अपनाने पर तुम सहज ही सिद्धि प्राप्त कर सकोगे। इसके विपरीत करनेपर तुम्हारा सबकुछ निष्फल हो जायेगा॥१॥

नारायणोऽपि विकृतिं याति गुरोः प्रच्युतस्य दुर्बुद्धेः।
कमलं जलादपेतं शोषयति रविर्न पोषयति॥२॥

जो मूर्ख व्यक्ति गुरु–सेवासे रहित है अर्थात् दीक्षा लेकर भी गुरुसेवासे वंचित है, भगवान् भी उससे रुष्ट हो जाते हैं। जैसे —सूर्य कमलको विकसित करता है किन्तु जलरहित कमलको वही जला देता है, उसे पुष्ट नहीं करता। इस दृष्टान्तमें जल गुरु स्थानीय है, सूर्य भगवान् स्थानीय हैं तथा कमल साधक सदृश है॥२॥

हरौ रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गुरुमेव प्रसादयेत्॥३॥

(भक्तिसन्दर्भ— २३७)

श्रीहरिके रूँठ जानेपर श्रीगुरुदेव रक्षा कर सकते हैं, किन्तु श्रीगुरुदेवके रूँठ जानेपर कोई भी रक्षा नहीं कर सकता। अतएव सभी प्रकारसे यत्नपूर्वक श्रीगुरुदेवको ही प्रसन्न करना उचित है॥३॥

सिद्धिर्भवति वा नेति संशयोऽच्युतसेविनाम्।
निःसंशयस्तु तद्भक्त परिचर्यारतात्मनाम्॥४॥

(चै. भा. अ. ३/४८६)

भगवान् अच्युतके सेवकोंको सिद्धि लाभ होती है या नहीं, इस विषयमें सन्देह रह सकता है। किन्तु गुरु–वैष्णवोंकी सेवामें तत्पर रहनेवालोंकी सिद्धिके विषयमें कोई सन्देह नहीं है॥४॥

गुरुशुश्रूषया भक्त्या सर्वलब्धार्पणेन च।
सङ्गेन साधुभक्तानामीश्वराराधनेन च॥५॥

(श्रीमद्भागवत ७/७/३०)

श्रीगुरुदेवकी प्रेमपूर्वक सेवा और अपना सर्वस्व श्रीगुरुदेवको समर्पणपूर्वक निष्कपट भक्तोंके संगमें रहकर ईश्वरकी आराधना करें॥ ५॥

स वै प्रियतमश्चात्मा यतो न भयमण्वपि।
इति वेद स वै विद्वान् यो विद्वान् स गुरुर्हरिः॥६॥

(श्रीमद्भागवत ४/२९/५१)

भगवद्भजनमें किचिन्मात्र भी भय नहीं है, क्योंकि भगवान् ही सभी जीवोंके प्रियतम आत्मा हैं—यह जो जानता है वही विद्वान् है और जो विद्वान हैं, वही गुरु हैं और वही गुरु भगवानके अतिशय प्रिय होनेके कारण उनसे अभिन्न हैं॥६॥

यो मन्त्रः स गुरुः साक्षात् यो गुरुः स हरि स्वयम्।
गुरुर्यस्य भवेत् तुष्टस्तस्य तुष्टो हरिः स्वयम्॥७॥

(भक्तिसन्दर्भ अनुच्छेद—२३७)

जो मन्त्र है, वही साक्षात् गुरु है और प्रियत्व हेतु गुरु ही श्रीहरिके समान पूज्य हैं। श्रीगुरुदेव जिनके प्रति प्रसन्न रहते हैं। श्रीभगवान् भी उनके प्रति प्रसन्न हो जाते हैं॥७॥

असङ्कल्पाज्जयेत् कामं क्रोधं कामविवर्जनात्।
अर्थानर्थेक्षया लोभं भयं तत्त्वावमर्शनात्॥
आन्वीक्षिक्या शोकमोहौ दम्भं महदुपासया।
योगान्तरायान् मौनेन हिंसां कामाद्यनीहया॥
कृपया भूतजं दुःखं दैवं जह्यात् समाधिना।
आत्मजं योगवीर्येण निद्रां सत्त्वनिषेवया॥
रजस्तमश्च सत्त्वेन सत्त्वं चोपशमेन च।
एतत् सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत्॥८॥

(श्रीमद्भागवत ७/१५/२२-२५)

संकल्पोंके परित्यागसे कामको, कामनाओंके त्यागसे क्रोधको, अर्थ ही अनर्थकी जड़ समझकर लोभको एवं तत्त्वके विवेचनसे भयको जीत लेना चाहिए। आत्मानात्मके विवेक द्वारा शोक और मोहपर, सन्तोंकी उपासनासे दम्भपर, मौनके द्वारा योगके विघ्नोंपर और कामादि चेष्टा-परित्यागसे हिंसापर विजय प्राप्त करनी चाहिए॥८॥

इति गौड़ीय कण्ठहारमें 'गुरुतत्त्व' वर्णन नामक प्रथम रत्न समाप्त।

U U U

दूसरा रत्न

भागवत-तत्त्व

श्रीमद्भागवत—सर्वशास्त्र-शिरोमणि—

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमोनिर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किंवापरैरीश्वरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्॥१॥

(श्रीमद्भागवत १/१/२)

यह श्रीमद्भागवत ग्रन्थ आदि महामुनि श्रीनारायणके द्वारा चतुःश्लोकी रूपमें निर्मित है। इसमें निर्मत्सर अर्थात् सब भूतोंमें दयाविशिष्ट व्यक्तियोंके लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्षपर्यन्त छल रहित (कैतवशून्य) परमधर्मकी व्याख्या हुई है। वही धर्म जीवका त्रिताप नाशक, शिवद (कल्याणकारी) और यथार्थ वस्तु तत्वज्ञानप्रद है। जिस किसी समय सुकृति पुरुष इसके श्रवणकी इच्छा करते हैं ईश्वर उसी समय अविलम्ब उनके हृदयमें आकर बंदी बन जाते हैं। अब और किसी साधन या शास्त्रसे क्या प्रयोजन?॥१॥

कृष्णभक्ति-रस-स्वरूप श्रीभागवत।
ताते वेद—शास्त्र हइते परम महत्त्व॥२॥

(चै. च. म. २५/१४३)

श्रीमद्भागवत श्रीकृष्णभक्ति-रसका छलकता हुआ सागर है, इसलिए अन्यान्य वेद-शास्त्रोंसे इसका अधिक महत्त्व है॥२॥

प्रेमतरुका परिपक्व फल और मुक्तकुलका उपास्य—

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥३॥

(श्रीमद्भागवत १/१/३)

हे भगवत्प्रीति रसज्ञ अप्राकृत रसविशेष भावनाचतुर भक्तवृन्द यह श्रीमद्भागवत श्रीशुकदेव गोस्वामीके मुखसे निःसृत होकर शिष्य-प्रशिष्य आदि परम्परा क्रमसे

स्वेच्छापूर्वक पृथ्वीपर अखण्डरूपसे अवतीर्ण हुआ है। छिलका, गुठली आदि त्याज्य अंशसे रहित, तरल पान योग्य इस श्रीमद्भागवत नामक परिपक्व फलको आप लोग मुक्त अवस्थामें भी पुनः पुनः पान करते रहें॥३॥

भागवत कृष्णके अप्रकट कालमें ग्रन्थरूपी-कृष्णविग्रह हैं—
दिव्यज्ञानलोकविस्तारी पुराणसूर्य है—

कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभिः सह।
कलौ नष्टदृशामेष पुराणार्कोऽधुनोदितः॥४॥

(श्रीमद्भागवत १/३/४५)

श्रीगोलोक वृन्दावनपति कृष्णचन्द्र जब धर्म, ज्ञान आदिके साथ अपने परम-धामको पधार गये, तब जीवके मङ्गलसाधनके लिए उनसे अभिन्न यह पुराणरूपी सूर्य कलिकालमें अज्ञानरूपी अंधकारसे अंधे हो रहे पुरुषोंकी प्रयोजनसिद्धिके लिए इस समय प्रकट हुआ है॥४॥

भागवत पारमहंसी संहिता है—

अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे।
लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे सात्वत संहिताम्॥
यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपुरुषे।
भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा॥५॥

(श्रीमद्भागवत १/७/६-७)

अनर्थोंकी शान्तिका साक्षात् साधन है—इन्द्रिय ज्ञानसे अतीत केवल भगवान्का अविरल भक्तियोग। परन्तु संसारके लोग इस बातको नहीं जानते। यही समझकर उन्होंने इस परमहंसोंकी संहिता श्रीमद्भागवतकी रचना की। इसके श्रवणमात्रसे पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके प्रति परम प्रेममयी भक्ति हो जाती है, जिससे जीवके शोक, मोह और भय नष्ट होकर भक्तिका उदय हो जाता है॥५॥

श्रीमद्भागवत अमल पुराण है तथा परमहंसोंको प्रिय है—

श्रीमद्भागवतं पुराणममलं यद्वैष्णवानां प्रियं
यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते।
तत्र ज्ञानविराग-भक्ति-सहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं
तच्छृण्वन् सुपठन् विचारणपरो भक्त्याविमुच्येन्नरः॥६॥

(श्रीमद्भागवत १२/१३/१८)

श्रीमद्भागवत-पुराण निर्मल है। यह वैष्णवमात्रका प्रिय ग्रन्थ है। इसमें अमल पारमहंस ज्ञान वर्णित है। विरागसहित नैष्कर्मज्ञान इसमें आविष्कृत हुआ है। जो

इसका श्रवण, पठन और मनन करने लगता है, उसे भगवान्‌की भक्ति प्राप्त हो जाती है और उस जीवका माया-बन्धन समाप्त हो जाता है॥६॥

श्रीमद्भागवत—(१) ब्रह्मसूत्रभाष्य, (२) भारतार्थ-तात्पर्य,
(३) गायत्रीभाष्य और (४) वेदार्थका विस्तार है—

अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थविनिर्णयः।
गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ वेदार्थपरिबृंहितः॥७॥

(ह. भ. वि. १०/२८३ गरुड़ पुराण)

श्रीमद्भागवत ब्रह्मसूत्रका अर्थ, महाभारतका तात्पर्य-निर्णय, गायत्रीका भाष्य और समस्त वेदोंके तात्पर्यका संवर्द्धन है॥७॥

गायत्रीर अर्थे एइ ग्रन्थ-आरम्भन।
'सत्यं' 'परं'—सम्बन्ध, 'धीमहि—साधने प्रयोजन॥८॥

(चै. च. म. २५/१४०)

श्रीमद्भागवतके प्रथम श्लोकमें गायत्रीका अर्थ है। परम सत्य ही सम्बध है, ध्यान चेष्टा या साधन-भक्तिका अनुष्ठान ही 'अभिधेय' है; एवं प्राप्त फल ध्यान या प्रेमाभक्ति ही अभिधेयका फल या प्रयोजन है॥८॥

चारिवेद उपनिषद् जत किछु हय।
तार अर्थ लइया व्यास करिल सञ्चय॥
जेइ सूत्रे सेइ ॠक् विषय वचन।
भागवते सेइ ॠक् श्लोक निबन्धन॥
अतएव सूत्रेर भाष्य श्रीमद्भागवत।
भागवत-श्लोके उपनिषत् कहे एकमत॥९॥

(चै. च. म. २५/९६-९८)

श्रीव्यासदेवने चारों वेदों एवं उपनिषदोंमें जो कुछ कहा है, उसका संग्रह करके श्रीमद्भागवतकी रचना की। वेद, उपनिषदोंके जो सूत्र, जो मन्त्र एवं उनका जो उद्देश्य है वही श्रीमद्भागवतके श्लोकोंमें निहित है। अतएव ब्रह्मसूत्रका यथार्थ भाष्य श्रीमद्भागवत ही है। श्रीमद्भागवतके श्लोकोंका जो अर्थ है, वही उपनिषद्‌के मन्त्रोंका अर्थ है॥९॥

जेइ सूत्र-कर्त्ता से यदि करये व्याख्यान।
तबे सूत्रेर मूल अर्थ लोकेर हय ज्ञान॥१०॥

(चै. च. म. २५/९१)

जो सूत्रकर्त्ता है, वह स्वयं यदि उनकी व्याख्या करे, तभी मूल सूत्रोंके अर्थका लोगोंको वास्तविक ज्ञान हो सकता है॥१०॥

अतएव भागवत—सूत्रेर अर्थरूप।
निजकृत सूत्रेर निजभाष्यस्वरूप॥११॥

(चै. च. म. २५/१३६)

अतएव श्रीमद्भागवत ही वेदान्त सूत्रका यथार्थ अर्थ है। श्रीवेदव्यासजीने ब्रह्मसूत्र या वेदान्त सूत्रोंकी रचना की है। उन्होंने स्वयं ही श्रीमद्भागवतको उक्त ब्रह्मसूत्र अथवा वेदान्त सूत्रके भाष्यके रूपमें प्रकाशित किया है॥११॥

अतएव भागवत करह विचार।
इहा हइते पाबे सूत्र श्रुतिर अर्थसार॥१२॥

(चै. च. म. २५/१४६)

इसलिए श्रीमद्भागवतका ही अनुशीलन करें, श्रीमद्भागवतसे ही सूत्र और श्रुतियोंका अर्थ समझा जा सकता है॥१२॥

सर्व-वेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम्॥१३॥

(श्रीमद्भागवत १/३/४२)

इस ग्रन्थमें समस्त वेद और इतिहासका सार संग्रहीत हुआ है॥१३॥

जीवेर निस्तार लागि' सूत्र कैल व्यास।
मायावादि-भाष्य शुनिले हय सर्वनाश॥१४॥

(चै. च. म. ६/१६९)

जीवोंके उद्धारके लिए ही श्रीवेदव्यासजीने ब्रह्म सत्रूकी रचना की है; किन्तु उसके ऊपर श्रीशङ्कराचार्यजीने जो मायावादी-भाष्य प्रस्तुत किया है, उसका श्रवण और अनुशीलन करनेसे जीवोंका सर्वनाश होता है॥१४॥

"ब्रह्मसूत्रार्थ"—

सर्ववेदान्तसारं हि श्रीमद्भागवतमिष्यते।
तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित्॥१५॥

(श्रीमद्भागवत १२/१३/१५)

समस्त वेदोंके सारको ही श्रीमद्भागवत कहा जाता है। जो इस रस-सुधाका पान करके छक चुका है, वह और किसी पुराण-शास्त्रमें नहीं रम सकता॥१५॥

वेदसार और अभिन्न-श्रीकृष्णविग्रह—

सबे पुरुषार्थ 'भक्ति' भागवते हय।
'प्रेम-रूप भागवत' चारि वेदे कय॥
चारि वेद—'दधि भागवत—'नवनीत'।
मथिलेन शुके, खाइलेन परीक्षित॥१६॥

(चै. भा. म. २१/१५-१६)

श्रीमद्भागवतमें केवल भक्तिको ही पुरुषार्थ बतलाया गया है। श्रीमद्भागवत प्रेमस्वरूप है, चारों वेद इस तथ्यका प्रतिपादन करते हैं। चारों वेद 'दधि' हैं और श्रीमद्भागवत उसका 'नवनीत' है। श्रीशुकदेव गोस्वामीने मथकर उस नवनीतको निकाला तथा परीक्षितजीको खिलाया है॥१६॥

कृष्णतुल्य भागवत विभु सर्वाश्रय।
प्रतिश्लोके प्रति अक्षरे नाना अर्थ कय॥१७॥

(चै. च. म. २४/३१२)

श्रीमद्भागवत तो कृष्णस्वरूप हैं। वे श्रीकृष्णके समान विभु एवं सर्वाश्रय हैं। उनके प्रति श्लोकके, यहाँ तक कि प्रति अक्षरके अनेक अर्थ निकलते हैं॥१७॥

भागवत, तुलसी, गङ्गाय भक्तजने।
चतुर्द्धा विग्रह कृष्ण एइ चारि सने॥१८॥

(चै. भा. म. २१/८१)

श्रीमद्भागवत, तुलसी, गंङ्गा और भक्तजन—इन चार रूपोंमें श्रीकृष्ण ही चार प्रकारके विग्रहस्वरूप हैं॥१८॥

भागवत—स्वप्रकाश नित्यवस्तु है,
मनुष्य रचित प्राकृत ग्रन्थ नहीं—

आदि-मध्य-अन्त्ये भागवते एइ कय।
विष्णु-भक्ति नित्य-सिद्ध अक्षय अव्यय॥

(चै. भा. अ. ३/५०६)

भागवतशास्त्रे से भक्तिर तत्त्व कहे।
तेञि भागवत सम कोन शास्त्र नहे॥
जेनरूप मत्स्य-कूर्म आदि अवतार।
आविर्भाव-तिरोभाव जेन ता' सबार॥
एइमत भागवत का'रो कृत नय।
आविर्भाव तिरोभाव आपनेइ हय॥

(चै. भा. अ. ३/५०९-५११)

ईश्वरेर तत्त्व जेन बुझने ना जाय।
एइ मत भागवत-सर्व शास्त्रे गाय॥

(चै. भा. अ. ३/५१३)

प्रेममय भागवत—श्रीकृष्णेर अङ्ग।
ताहाते कहेन यत गोप्य कृष्ण-रङ्ग॥

(चै. भा. अ. ३/५१६)

हेन भागवत कोन दुष्कृति पड़िया।
नित्यानन्द निन्दा करे तत्त्व ना जानिया॥१९॥

(चै. भा. अ. ३/५३४)

श्रीमद्भागवतके आदि, मध्य और अन्तमें कृष्ण-भक्तिको ही नित्य सिद्ध, अक्षय और अव्यय प्रतिपादित किया गया है। भक्ति तत्त्वके प्रतिपादनके कारण ही समस्त शास्त्रोंमें श्रीमद्भागवत सर्वोत्तम है। जैसे—मत्स्य, कूर्म आदि भगवत् अवतारोंका आविर्भाव-तिरोभाव होता है, उसी प्रकार श्रीमद्भागवतका भी केवलमात्र आविर्भाव और तिरोभाव होता है। वह किसी व्यक्तिकी रचना नहीं है। जिस प्रकार ईश्वर-तत्त्वको मन और बुद्धिसे समझा नहीं जा सकता, उसी प्रकार श्रीमद्भागवतको भी नहीं समझा जा सकता। यही समस्त शास्त्रोंका अभिमत है। प्रेममय भागवत श्रीकृष्णके अङ्ग हैं। इसीलिए कृष्णके परम-रहस्यमय विलासोंका वर्णन किया गया है। ऐसे श्रीमद्भागवत ग्रन्थको पढ़-सुनकर भी जो लोग यथार्थ तत्त्वसे अनभिज्ञ रहकर भागवतस्वरूप श्रीनित्यानन्द प्रभुकी निन्दा करते हैं, वे महापापी और दुराचारी हैं॥१९॥

भागवत—अधोक्षज मूर्तविग्रह है—

पादौ यदीयौ प्रथमद्वितीयौ तृतीयतुर्यौ कथितौ यदूरू
नाभिस्तथा पञ्चम एव षष्ठौ भुजान्तरं दोर्युगलं तथान्यौ।
कण्ठस्तु राजन्नवमो यदीयो मुखारविन्दं दशमः प्रफुल्लम्
एकादशो यस्य ललाटपट्टं शिरोऽपि तु द्वादश एव भाति॥
तमादिदेवं करुणानिधानं तमालवर्णं सुहितावतारम्।
अपारसंसार-समुद्र-सेतुं भजामहे भागवत-स्वरूपम्॥२०॥

(पद्म-पुराण)

अपार संसार-सागर पार होनेके लिए सेतु-स्वरूप आदिदेव, करुणा-निधान, तमालवर्ण श्रीकृष्णके मङ्गलमय शाब्दिक अवतार श्रीमद्भागवतका मैं भजन करता हूँ। इस ग्रन्थावतारके द्वादश स्कन्ध द्वादश अङ्ग-स्वरूप हैं। प्रथम और द्वितीय स्कन्ध इनके युगलपाद हैं, तृतीय और चतुर्थ स्कन्ध इनकी जंघाएँ हैं, पञ्चम इनका नाभिदेश है, षष्ठ स्कन्ध इनका भुजान्तर अर्थात् वक्षःस्थल है। सप्तम और अष्टम ये दोनों इनके युगल बाहु हैं, दशम स्कन्ध इनका प्रफुल्ल मुख पद्मस्वरूप है, एकादश स्कन्ध इनका ललाटदेश एवं द्वादश स्कन्ध इनका मस्तक है॥२०॥

द्विविध भागवत—(१) ग्रन्थ भागवत और (२) भक्त भागवत—

दुई स्थाने भागवत नाम शुनि मात्र।
ग्रन्थ-भागवत, आर कृष्ण-कृपा-पात्र॥२१॥

(चै. भा. अ. ३/५३२)

एक भागवत बड़ भागवत शास्त्र।
आर एक भागवत भक्तिरस पात्र॥२२॥

(चै. च. आ. १/९९)

दुई भागवत द्वारा दिया भक्तिरस।
ताहार हृदये तार प्रेमे हय वश॥२३॥

(चै. च. आ. १/१००)

मायामुग्ध जीवेर नाहि कृष्णस्मृतिज्ञान।
जीवेरे कृपाय कैल कृष्ण वेद पुराण॥२४॥

(चै. च. म. २०/१२२)

भागवत दो प्रकारके हैं—ग्रन्थ भागवत और कृष्णके कृपापात्र भक्त भागवत। ग्रन्थ भागवत भक्तिरसका अथाह भण्डार है, दूसरी ओर भक्त-भागवत भक्तिरसके पात्र रसिक एवं भावुक भक्त हैं। इन दोनों भागवतोंकी कृपा होनेपर ही साधकोंके हृदयमें पहले साधनभक्ति, तत्पश्चात् भक्तिरस और अन्तमें प्रेमका उदय होता है। मायामुग्ध जीवोंको कृष्णकी स्मृति नहीं होती क्योंकि वे कृष्ण विमुख होते हैं। ऐसे विमुख जीवोंपर कृपा करनेके लिए कृष्णने वेद और पुराण आदि शास्त्रोंका प्रकाश किया है॥२१-२४॥

भागवत-शास्त्रका अचिन्त्यत्व—

महाचिन्त्य भागवत सर्वशास्त्रे गाय।
इहा ना बुझिए विद्या, तप, प्रतिष्ठाय॥
'भागवत बुझि'—हेन जार आछे ज्ञान।
से ना जाने कभु भागवतेर प्रमाण॥२५॥

(चै. भा. म. २१/२३-२४)

समस्त शास्त्रोंमें ऐसा कहा गया है कि श्रीमद्भागवतमें एक ऐसी अचिन्त्य महाशक्ति है कि समस्त ईश्वरोंके ईश्वर स्वयं भगवान् भी इसके अनुशीलनसे वशीभूत हो जाते हैं, किन्तु जड़-विद्या, तपस्या और प्रतिष्ठा आदिसे इसका अर्थ समझमें नहीं आता। इसका अर्थ तो केवल भक्तिके द्वारा ही समझा जा सकता

है। जो लोग जड़-विद्याके बलपर ऐसा अभिमान रखते हैं कि मैं भागवत समझता हूँ, वे लोग केवल दाम्भिक हैं। वे भागवतका अर्थ नहीं समझ सकते॥२५॥

भागवते अचिन्त्य ईश्वर बुद्धि जार।
से जानये भागवत-अर्थ भक्तिसार॥२६॥

(चै. भा. म. २१/२५)

जो लोग श्रीमद्भागवतको अचिन्त्य श्रीकृष्णसे अभिन्न समझते हैं, एकमात्र वे ही श्रीमद्भागवतका अर्थ केवल शुद्धभक्ति है, ऐसी उपलब्धि कर सकते हैं॥२६॥

अहं वेद्मि शुको वेत्ति व्यासो वेत्ति न वेत्ति वा।
भक्त्या भागवतं ग्राह्यं न बुद्ध्या न च टीकया॥२७॥

(चै. च. म. २४/३१३ संख्योद्धृत प्राचीनकृत श्लोक)

महादेव कहने लगे—श्रीमद्भागवतका तात्पर्य मैं जानता हूँ, शुक जानते हैं, व्यास जानते हैं अथवा नहीं—इसमें सन्देह है। एकमात्र भक्ति द्वारा ही भागवत का रहस्य समझा जाता है; बुद्धि अथवा टीका द्वारा नहीं॥२७॥

जाह भागवत पड़ वैष्णवेर स्थाने।
एकान्त आश्रय कर चैतन्य-चरणे॥२८॥

(चै. च. अ. ५/१३१)

वैष्णव-पाश भागवत कर अध्ययन॥२९॥

(चै. च. अ. १३/११३)

विप्र कहे, मूर्ख आमि शब्दार्थ ना जानि।
शुद्धाशुद्ध गीता पड़ि गुरु-आज्ञा मानि॥
जावत् पड़ों तावत् पाओ कृष्ण दरशन।
एइ लागि' गीतापाठ ना छाड़े मोर मन॥३०॥

(चै. च. म. ९/९८,१०१)

इसलिए शुद्ध वैष्णवोंके निकट श्रीमद्भागवतका अनुशीलन करना चाहिए साथ ही कृष्ण-प्रेम प्रदान करनेवाले श्रीचैतन्यमहाप्रभुके श्रीचरणकमलोंमें ऐकान्तिक रूपमें शरणागत होनेपर ही श्रीमद्भागवतके यथार्थ अर्थोंकी उपलब्धि होती है। इसीलिए शुद्ध-वैष्णवोंके निकट श्रीमद्भागवतका अध्ययन करना श्रेयस्कर है।

दाक्षिणात्य ब्राह्मणने गीताका पाठ करते हुए भी चैतन्य महाप्रभुको उत्तर दिया कि मैं मूर्ख हूँ, लिखना-पढ़ना नहीं जानता, इसलिए मैं गीताके शब्दोंका अर्थ बिल्कुल भी नहीं समझता, फिर भी गुरुकी आज्ञा मानकर शुद्ध अथवा अशुद्ध उच्चारण करता हुआ गीताजीका पाठ करता हूँ। जब तक गीताका पाठ

करता रहता हूँ, तब तक श्रीकृष्णका दर्शन होता रहता है। कृष्णदर्शनके लोभसे ही मेरा मन गीतापाठ करना नहीं छोड़ता॥२८-३०॥

श्रीधरस्वामिप्रसादे भागवत जानि।
जगद्गुरु श्रीधरस्वामी 'गुरु' करि मानि॥
श्रीधरानुगत कर भागवत-व्याख्यान।
अभिमान छाड़ि-भज कृष्ण-भगवान्॥३१॥

(चै. च. अ. ७/१२९, १३२)

श्रीचैतन्य महाप्रभु कह रहे हैं—श्रीधरस्वामीकी कृपासे ही श्रीमद्भागवतका रहस्य यथार्थरूपमें समझा जा सकता है। इसलिए मैं जगद्गुरु श्रीधरस्वामीको गुरु मानता हूँ। वृथा अहङ्कारको छोड़कर श्रीधरस्वामीके अनुगत होकर श्रीमद्भागवतकी व्याख्या करो तथा स्वयं भगवान् श्रीकृष्णका ऐकान्तिकरूपमें भजन करो, अन्यथा तुम्हारी भागवत व्याख्या और कृष्ण-भजन निष्फल हो जायेगा॥३१॥

मुञि, मोर भक्त, आर ग्रन्थ-भागवते।
जार भेद आछे, तार नाश भालमते॥३२॥

(चै. भा. म. २१/१८)

जेवा भट्टाचार्य, चक्रवर्ती, मिश्र सब।
ताहाराओ ना जाने सब ग्रन्थ-अनुभव॥
शास्त्र पड़ाइया सबे एइ कर्म करे।
श्रोतार सहित यम-पाशे डूबि, मरे॥३३॥

(चै. भा. आ. २/६७-६८)

जो लोग कृष्णस्वरूपमें, मेरे भक्त और ग्रन्थ भागवतमें भेद दर्शन करते हैं, उनका सम्पूर्णरूपसे विनाश हो जाता है। जड़-विद्यामें पारंगत भट्टाचार्य, चक्रवर्ती और मिश्र पदवीधारी ब्राह्मण लोग भी श्रीमद्भागवतका यथार्थ अर्थ नहीं समझ पाते हैं। वे शास्त्रोंका अध्ययन-अध्यापन करनेपर भी ऐसी अपराधजनक व्याख्याएँ करते हैं कि जिससे वे लोग श्रोताओंके साथ यमपाशमें आबद्ध होकर भव-सागरमें डूब जाते हैं॥३३॥

भागवत जे ना माने, से- यवन सम।
तार शास्ता आछे जन्मे-जन्मे प्रभु यम॥३४॥

(चै. भा. आ. १/३९)

जो लोग भागवत नहीं मानते वे यवनके समान अस्पृश्य व असम्भाष्य हैं। यमदेव जन्म-जन्मान्तरों तक उनको दण्ड प्रदान करते हैं॥३४॥

भागवत क्रय-विक्रयकी वस्तु नहीं है—

मौन-व्रत-श्रुत-तपोऽध्ययनं स्वधर्म-
व्याख्या-रहो जप समाधय आपवर्ग्याः।
प्रायः परं पुरुष ते त्वजितेन्द्रियाणां
वार्ता भवन्त्युत न वात्र तु दाम्भिकानाम्॥३५॥

(श्रीमद्भागवत ७/९/४६)

मोक्षके दस साधन प्रसिद्ध हैं—मौन, व्रत, पाण्डित्य, तपस्या, स्वाध्याय, स्वधर्म पालन, शास्त्रोंकी व्याख्या, एकान्त सेवन, जप और समाधि। परन्तु गोदास अर्थात् जिनकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, उनके लिए ये सब इन्द्रियोंके भोग एवं जीविकाके साधन-व्यापार मात्र रह जाते हैं अर्थात् ग्राम्यवार्तासे विरति, व्रत, पाण्डित्य, भागवतादि शास्त्र व्याख्या आदि द्वारा गोस्वामीगण कृष्णेन्द्रियोंका तोषण करते हैं और जिनकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं ऐसे इन्द्रियपरायण व्यक्ति इन सबके द्वारा अपना और अपने परिवार स्त्री-पुत्रोंकी इन्द्रिय तर्पण करनेकी चेष्टा करते हैं॥३५॥

मन्त्र और भागवतका व्यवसाय निन्दित है—

न शिष्याननुबध्नीत ग्रन्थान् नैवाभ्यसेद्बहुन्।
न व्याख्यामुपयुञ्जीत नारम्भानारभेत् क्वचित्॥३६॥

(श्रीमद्भागवत ७/१३/८)

प्रलोभनादि द्वारा अनधिकारी व्यक्तिको शिष्य न बनावे, शास्त्र व्याख्यान द्वारा जीविका निर्वाह न करे, बहुतसे ग्रन्थोंका अभ्यास न करे और बड़े-बड़े आडम्बर-पूर्ण अनुष्ठानोंका परित्याग करे॥३६॥

कथञ्चिद्धनादिककामनया यदि कर्मी वक्ता श्रोता वा स्यात्तदा स विरज्येदेवेत्याह पशुघ्नाद्विना॥३७॥

(श्रीमद्भागवत १०/१/४ श्लोककी सारार्थदर्शिनी टीका)

फल भोगने की अभिलाषा करनेवाले को कर्मी कहते हैं। यदि वह कर्मी कदाचित् धन आदिकी कामनाके वशीभूत होकर वक्ता या श्रोता हो जाय, तो वह शुद्ध श्रवण-कीर्त्तनसे वञ्चित रहेगा। अर्थात् फलभोगी कर्मीके फलभोगमें विघ्न उपस्थित होते ही उसका श्रवण-कीर्त्तन बन्द हो जाएगा। इसीलिए श्रीमद्भागवत कहते हैं "विना पशुघ्नात" अर्थात् पशुघाती मनुष्यके अतिरिक्त और ऐसा कौन है जो भगवानके सुन्दर, सुखद, रसीले गुणानुवाद और हरिकथासे विमुख हो जाय, उससे प्रीति न करे?॥३७॥

शूद्राणां सूपकारी च यो हरेर्नाम-विक्रयी।
यो विद्या-विक्रयी विप्रो विषहीनो यथोरगः॥३८॥

(ब्रह्मवैवर्त-प्रकृतिखण्ड २१ अध्याय)

विष्णुसेवारहित शूद्रोंका रसोईया, हरिनाम और विद्याका विक्रय करनेवाला 'विप्र' नामसे परिचित होनेपर भी विप्रत्वसे भ्रष्ट है। जिस प्रकार विषहीन सर्प अपनी आकृतिके द्वारा अनभिज्ञ लोगोंको वृथा ही भयभीत करता है, परन्तु वस्तुतः उसका कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सकता है, उसी प्रकार शास्त्र-वाक्योंद्वारा मूर्ख शिष्योंको भयभीत करनेपर भी व्यवसायी ब्राह्मण उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता है॥३८॥

अवैष्णव-मुखोद्गीर्णं पूतं हरिकथामृतम्।
श्रवणं नैव कर्तव्यं सर्पोच्छिष्टं यथा पयः॥३९॥

(पद्मपुराण)

दूध अत्यन्त पवित्र वस्तु है, उसको पीनेसे तुष्टि, पुष्टि और क्षुधाकी निवृत्ति होती है, किन्तु ऐसा उत्कृष्ट दूध भी सर्पका उच्छिष्ट होनेपर वह जिस प्रकार दूधकी क्रिया न कर विषकी क्रिया ही करता है उसी प्रकार शुद्ध वैष्णवोंके मुखसे निःसृत पवित्र हरिकथामृतका पान करनेसे जीवकी भक्तिवृत्तिका प्रकाश होता है, किन्तु नामापराधी अवैष्णव व्यक्तिके मुखसे निसृत हरिकथा बाहरसे तो हरिकथाके समान दीखती है, परन्तु वह नामापराध मात्र है। इस प्रकारका 'नामापराध' सुनना कदाचित् कर्तव्य नहीं है। उसको सुनकर मंगल होना तो दूर रहे, सर्प द्वारा झूठे किये दूधकी भाँति उसके द्वारा जीवका अमंगल ही होता है॥३९॥

अठारह पुराणोंकी तालिका—

ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च शैवं लैङ्गं सगारुड़म्।
नारदीयं भागवतमाग्नेयं स्कान्द-संज्ञितम्॥
भविष्यं ब्रह्मवैवर्तं मार्कण्डेयं सवामनम्।
वाराहं मात्स्यं कौर्मञ्च ब्रह्माण्डाख्यमिति त्रिषट्॥४०॥

(श्रीभागवत १२/७/२३-२४)

पुराण अठारह हैं, यथा—ब्रह्मपुराण, पद्मपुराण, विष्णुपुराण, शिवपुराण, लिंगपुराण, गरुड़पुराण, नारदीयपुराण, भागवतपुराण, अग्निपुराण, स्कन्दपुराण, भविष्यपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, मार्कण्डेयपुराण, वामनपुराण, वराहपुराण, मत्स्य, कूर्म और ब्रह्माण्डपुराण हैं॥४०॥

सात्त्विक, राजसिक और तामसिक पुराण-विभाग—

वैष्णवं नारदीयञ्च तथा भागवतं शुभम्।
गारुड़ञ्च तथा पाद्मं वाराहं शुभदर्शने॥
सात्त्विकानि पुराणानि विज्ञेयानि मनीषिभिः।
ब्रह्माण्डं ब्रह्मवैवर्तं मार्कण्डेयं तथैव च॥
भविष्यं वामनं ब्राह्मं राजसानि निबोधत।
मात्स्यं कौर्म्मं तथा लैङ्गं शैवं स्कान्दं तथैव च।
आग्नेयञ्च षड़ेतानि तामसानि निबोधत॥४१॥

(ब्रह्मवैवर्त)

हे शुभदर्शन! मनीषिगण अठारह पुराणोंमें विष्णुपुराण, नारदीयपुराण, मङ्गलमय भागवतपुराण, गरुड़पुराण, पद्मपुराण एवं वराहपुराण—इन छह पुराणोंको 'सात्त्विक पुराण' कहते हैं। ब्रह्मवैवर्त, मार्कण्डेय, भविष्य, ब्रह्माण्ड, वामन और ब्रह्मपुराण—ये छह राजसिक एवं मत्स्य, कूर्म, लिङ्ग, शिव, स्कन्द और अग्निपुराण—ये छह तामसिक कहे जाते हैं॥४१॥

सात्त्विकेषु च कल्पेषु माहात्म्यमधिकं हरेः।
राजसेषु च माहात्म्यमधिकं ब्रह्मणो विदुः॥
तद्वदग्नेश्च माहात्म्यं तामसेषु शिवस्य च।
सङ्कीर्णेषु सरस्वत्याः पितृणाञ्च निगद्यते॥४२॥

(तत्त्वसन्दर्भ-१७ मत्स्यपुराण-वाक्य)

सात्त्विक पुराणादि शास्त्रोंमें हरिकी महिमा ही अधिक वर्णित हुई है। राजसिक पुराणोंमें ब्रह्माकी महिमा अधिक एवं तामसिक पुराणोंमें ब्रह्माकी भाँति अग्नि, शिव और दुर्गाकी महिमाका अधिक गान किया गया है। सङ्कीर्ण अर्थात् सत्त्वरजस्तमोमिश्र विविध शास्त्रोंमें सरस्वती आदि नाना प्रकारके देवी देवताओंकी महिमा तथा पितृलोकका माहात्म्य कीर्तित हुआ है॥४२॥

'शास्त्र' किसे कहते हैं?

ऋग्यजुःसामाथर्व्वाञ्च भारतं पञ्चरात्रकम्।
मूलरामायणञ्चैव शास्त्रमित्यभिधीयते॥
यच्चानुकूलमेतस्य तच्च शास्त्रं प्रकीर्त्तितम्।
अतोऽन्यग्रन्थविस्तारो नैव शास्त्रं कुवर्त्म तत्॥४३॥

(मध्वभाष्यधृत स्कान्दवचन)

ऋक्, यजुः, साम, अथर्व—ये चार वेद एवं महाभारत, मूल रामायण और पञ्चरात्र—ये सब 'सत् शास्त्र' हैं। जो ग्रन्थ इनके अनुकूल हैं उनकी भी सत् शास्त्रोंमें गणना की जाती है। इसके अतिरिक्त जो ग्रन्थ हैं वे सब असद्शास्त्र हैं॥४३॥

'पञ्चरात्र' किसे कहते हैं?

रात्रञ्च ज्ञानवचनं ज्ञानं पञ्चविधं स्मृतम्।
तेनेदं पञ्चरात्रञ्च प्रवदन्ति मनीषिणः॥४४॥

(नारदपञ्चरात्र १/१/४४)

'रात्र' शब्दका अर्थ ज्ञान है। ज्ञान पाँच प्रकारके हैं ★। इसलिए मनीषिगण इस ग्रन्थको 'पञ्चरात्र' कहते हैं॥४४॥

एवमेकं सांख्ययोगं वेदारण्यकमेव च।
परस्पराङ्गान्येतानि पञ्चरात्रस्तु कथ्यते॥४५॥

(महाभारत-शांतिपर्व-मोक्षधर्म, ३४९ अध्याय)

सांख्यशास्त्र, योगशास्त्र, वेद और आरण्यक परस्पर अङ्गाङ्गीभावयुक्त हैं। अर्थात् जो एक ही तत्त्वका प्रतिपादन करनेके लिए एकत्रित हो गये हैं—वे शास्त्रादि 'पञ्चरात्र' कहे जाते हैं॥४५॥

पञ्चरात्रके वक्ता साक्षात् भगवान् हैं—

ज्ञानं परमतत्त्वञ्च जन्ममृत्युजरापहम्।
ततो मृत्युञ्जयः शम्भुः संप्राप कृष्णवक्त्रतः॥४६॥

(नारद पञ्चरात्र १/१/४५)

अनन्तर वैष्णवप्रवर मृत्युञ्जय शम्भुने श्रीकृष्णके मुखसे जन्म, मृत्यु और जरानाशक परम तत्त्वज्ञान प्राप्त किया॥४६॥

नारद पञ्चरात्र ही सर्व पञ्चरात्र और शास्त्रसार है—

दृष्टा सर्वं समालोक्य ज्ञानं सम्प्राप्य शङ्करात्।
ज्ञानामृतं पञ्चरात्रं चकार नारदो मुनिः॥४७॥

(वही, १/१/५९)

श्रील नारदमुनिने समस्त शास्त्रोंकी भलीभाँति आलोचना कर अन्तमें वैष्णवप्रवर शङ्करसे इस पञ्चरात्र सम्बन्धी ज्ञानको प्राप्तकर इस शास्त्र की रचना की॥४७॥

★१. वैषयिक, २. योगिक, ३. जन्म-मरणादि, ४. मुक्तिप्रद और ५. कृष्णभक्तिप्रद।

नारद-पञ्चरात्र-सब वेदोंका सार है—

सारभूतञ्च सर्वेषां वेदानां परमाद्भुतम्।
नारदीयं पञ्चरात्रं पुराणेषु सुदुर्लभम्॥४८॥

(वही, १/१/६१)

यह नारद-पञ्चरात्र समस्त वेदोंका सार है और अतिशय चमत्कार-गुण-विशिष्ट एवं पुराणोंमें सुदुर्लभ है॥४७॥

पञ्चरात्र की प्रामाणिकता—

पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता तु भगवान् स्वयम्।
सर्वेषु च नृपश्रेष्ठ ज्ञानेष्वेतेषु दृश्यते।
यथागमं यथाज्ञानं निष्ठा नारायणः प्रभुः॥
न चैवमेनं जानन्ति तमोभुता विशाम्पते।
तमेव शास्त्रकर्त्तारः प्रवदन्ति मनीषिणः॥
निःसंशयेषु सर्वेषु नित्यं वसति वै हरिः।
स संशयाद्धेतु वलान्नाध्यवसति माधवः॥

अत्र पञ्चरात्रमेव गरिष्ठमाचष्टे पञ्चरात्रस्येत्यादौ भगवान् स्वयमिति। दैवप्रकृतयस्तु तत्तत्सर्वावलोकनेन पञ्चरात्रप्रतिपाद्ये श्रीनारायण एव पर्यवसन्तीत्याह सर्वेष्विति। असुरांस्तु निन्दति न चैनमिति। निसंशयेष्विति तस्मात् झटिति वेदार्थप्रतिपत्तये पञ्चरात्रमेवाध्येतव्यमिति॥४९॥

(परमात्म-सन्दर्भ, १८ संख्याधृत महाभारत-वाक्य)

हे नृपश्रेष्ठ! स्वयं भगवान् इस पञ्चरात्रके वक्ता हैं। इन समस्त ज्ञानशास्त्रोंमें शास्त्र और युक्तिके अनुसार देखा जाता है कि श्रीनारायण ही निष्ठा अर्थात् तत्त्वकी चरम सीमा हैं। हे विशाम्पते! तमोगुणी व्यक्ति इसको ऐसा नहीं जान पाते हैं। शास्त्रकर्त्ता मनीषियोंने अपने शास्त्रोंमें उसी नारायणका कीर्त्तन किया है। ये सभी शास्त्र संशयरहित हैं, इन समस्त शास्त्रोंमें हरि नित्य-वास करते हैं और जो शास्त्र संशययुक्त एवं तर्क प्रधान हैं, उनमें माधव अधिवास नहीं करते हैं। "पञ्चरात्रके वक्ता स्वयं भगवान् हैं" इस वाक्यमें पञ्चरात्रका सर्वश्रेष्ठत्व वर्णित हुआ है। 'सर्वेषु' इस पदमें दैव-प्रकृतिवाले देवताका पर्यवसान भी पञ्चरात्रके प्रतिपाद्य नारायण में ही है एवं "न चैनं" इस पदमें आसुरी प्रकृतिकी निन्दा की गई है। 'निःसंशयेषु' इस पदसे सूचित होता है कि यदि अल्प समयमें ही वेदोंके यथार्थ तात्पर्यको जानना हो तो एकमात्र पञ्चरात्र का ही अध्ययन करना कर्तव्य है॥४९॥

परिशिष्ट

यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्मविस्तरः।
वृत्रासुर वधोपेतं तद्भागवतमिष्यते॥१॥

तत्त्वसन्दर्भ-अध्याय-१९ (मत्स्यपुराण)

जिस ग्रन्थमें गायत्री मन्त्रका आश्रयकर धर्मका विशदरूपमें वर्णन किया गया है तथा जिसमें वृत्रासुर वधका प्रसङ्ग वर्णित है—वही ग्रन्थ श्रीमद्भागवतके नामसे प्रसिद्ध है॥१॥

ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रो द्वादशस्कन्धसमन्वितः।
हयग्रीवब्रह्मविद्या यत्र वृत्रवधस्तथा॥
गायत्र्या च समारम्भस्तद्वै भागवतं विदुः॥२॥

तत्त्वसन्दर्भ अ.-२० (स्कन्दपुराण)

बारह स्कन्ध समन्वित अठारह हजार श्लोकोंसे युक्त जिस ग्रन्थमें हयग्रीव ब्रह्मविद्या अर्थात् नारायण कवच तथा वृत्रासुर वधका प्रसङ्ग है। उसीको विद्वज्जन श्रीमद्भभागवतके रूपमें जानते हैं॥२॥

अम्बरीष शुकप्रोक्तं नित्यं भागवतं शृणु।
पठस्व स्वमुखेनापि यदीच्छसि भवक्षयम्॥३॥

तत्त्व सं. अ-२० (पद्मपुराण)

श्रीगौतम ऋषि अम्बरीष महाराजजीको कह रहे हैं—हे अम्बरीष महाराज! यदि संसारबन्धनसे छुटकारा पाना चाहते हो तो कालाकाल विचार न करके श्रीशुकदेव गोस्वामी द्वारा कथित श्रीमद्भागवतका नित्य श्रवण करो या स्वयं अनुशीलन करो॥३॥

पुराणानां सामरूपः साक्षाद्भगवतोदितः।
द्वादशस्कन्धयुक्तोऽयं शतविच्छेद-संयुतः॥
ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रः श्रीमद्भागवताभिध॥४॥

तत्त्व सं. अ.-२१ (गरुड़पुराण)

श्रीभगवान्ने कहा—वेदोंमें जैसे सामवेद श्रेष्ठ हैं वैसे ही पुराणोंमें श्रीमद्भागवत श्रेष्ठ है। द्वादश स्कन्धोंमें विभक्त, एक सौ उपाख्यानोंसे समन्वित, अठारह हजार श्लोकोंसे युक्त ग्रन्थ ही भागवत नामसे प्रसिद्ध है॥४॥

कथा इमास्ते कथिता महीयसां विताय लोकेषु यशः परेयुषाम्।
विज्ञानवैराग्यविवक्षया विभो वचोविभूतीर्न तु पारमार्थ्यम्॥५॥

(श्रीमद्भागवत १२/३/१४)

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित! संसारमें बड़े-बड़े प्रतापी और महान् पुरुष हुए हैं। वे सभी इस लोकमें अपने यशका विस्तारकर परलोकमें चले गये। मैंने तुम्हें ज्ञान और वैराग्यके उपदेशके लिए उनका चरित्र सुनाया है। वह केवल वाणीका विलास मात्र नहीं है। इसमें कुछ पारमार्थिक सत्य भी है॥५॥

अथः भक्तिसिद्धा स्त्रिविधाः— प्राप्तपार्षदभगवत्देहा, निर्धूत कषाया, मूर्च्छितकषायाश्च। यथा—श्रीनारदादयः, श्रीशुकादयः, प्राग्जन्मगत नारदादयश्च॥६॥

(भक्ति सं. अ.-१८७)

पुनः भक्त भागवत तीन प्रकारके हैं—प्राप्त भगवत् पार्षद देह, निर्धूत कषाय और मूर्च्छित कषाय। जो सिद्ध महापुरुष मायिक पाञ्चभौतिक देह त्यागकर भगवत् सेवोपयोगी सच्चिदानन्दमय पार्षद देहको प्राप्त हो चुके हैं, वे उत्तम भागवत हैं। जो पाञ्चभौतिक देहमें अवस्थित तो हैं परन्तु उनके हृदयमें किसी प्रकारकी लौकिक वासना नहीं है, वे निर्धूत कषाय भक्त भागवत हैं। वे उत्तम भागवतोंमें मध्यम हैं। जिस भक्ति सिद्ध महापुरुषके हृदयमें सूक्ष्मरूपमें सात्त्विक कषाय (वासना-संस्कार) विद्यमान तो है, किन्तु भक्तिके प्रभावसे वह सुसुप्त है, वे उत्तम भागवतोंमें कनिष्ठ हैं। पार्षद देह प्राप्त भागवतके दृष्टान्त—देवर्षि नारद हैं, निर्धूत कषायके उदाहरण—श्रीशुकदेव गोस्वामी हैं, मूर्च्छित कषायके दृष्टान्त—दासी पुत्रके रूपमें श्रीनारदादि हैं॥६॥

इति गौड़ीय-कण्ठहारमें 'भागवत-तत्त्व' वर्णन नामक द्वितीय रत्न समाप्त।

U U U

तीसरा रत्न

वैष्णव-तत्त्व

वैष्णवकी संज्ञा—

गृहीत-विष्णुदीक्षाको विष्णु-पूजापरो नरः।
वैष्णवोऽभिहितोऽभिज्ञैरितरोऽस्मादवैष्णवः ॥१॥

(ह. भ. वि. प्रथम विलास-धृत पद्मपुराण वचन)

विष्णुमन्त्रमें दीक्षित और विष्णु पूजा परायण व्यक्ति शास्त्र-पारदर्शी व्यक्तियोंके द्वारा 'वैष्णव' कहे जाते हैं, इनके अतिरिक्त सभी अवैष्णव हैं॥१॥

पाञ्चरात्रिक और भागवत भेदसे वैष्णव विभाग—

द्वेधा हि भागवत-सम्प्रदाय-प्रवृत्तिः। एकतः संक्षेपतः श्रीनारायणाद्-ब्रह्मानारदादिद्वारेण। अन्यतस्तु विस्तरतः शेषात् सनत्कुमार-सांख्यायनादि-द्वारेण॥२॥ (श्रीमद्भागवत ३/१/१ श्लोककी श्रीधर स्वामीकी टीका)

इस जगत्में श्रीमद्भागवत दो परम्पराओंसे अवतरित हुए हैं—एक संक्षेपमें कृष्ण-ब्रह्मा-नारद-व्यास आदि परम्परासे एवं दूसरा विस्तारके साथ शेष भगवान्से सनत्कुमार-सांख्यायनादिकी परम्परा द्वारा अवतरित हुए हैं॥२॥

पाञ्चरात्रिक या अर्चनमार्गीय त्रिविध वैष्णव—

(१) अर्चनमार्गीय कनिष्ठत्व—

शंखचक्राद्यूर्ध्वपुण्ड्रधारणाद्यात्मलक्षणम्।
तन्नमस्करणञ्चैव वैष्णवत्वमिहोच्यते॥३॥

(पाद्मोत्तर खण्ड)

शंख, चक्र, पद्म, गदा आदि विष्णु चिह्न तथा ऊर्ध्वपुण्ड्र आदि धारणकर अपने शरीर को चिह्नित करना एवं ऐसे ही अन्य वैष्णवोंको प्रणाम करना—ये सभी कनिष्ठ वैष्णवोंके लक्षण हैं॥३॥

(२) अर्चनमार्गीय मध्यत्व—

तापः पुण्ड्रं तथा नाम मन्त्रो यागश्च पञ्चमः।
अमी हि पञ्च संस्काराः परमैकान्तिहेतवः॥४॥

(वही)

ताप, पुण्ड्र, नाम, मन्त्र और याग—इन पांचोंको 'पञ्चसंस्कार' कहते हैं। वे 'पञ्चसंस्कार' अर्चनमार्गीय पाञ्चरात्रिक विधिमें विश्वास—यह मध्यम वैष्णवोंके लक्षण हैं॥४॥

(३)अर्चनमार्गीय-महाभागवतत्व—

तापादिपञ्चसंस्कारी नवेज्याकर्मकारकः।
अर्थ-पञ्चकविद् विप्रो महाभागवतः स्मृतः॥५॥

(वही)

तापादि-पञ्चसंस्कार-विशिष्ट नवेज्याकर्म★ करनेवाले एवं अर्थपञ्चक-बोधयुक्त ब्राह्मण ही महाभागवत हैं॥५॥

प्रेमके तारतम्यकी दृष्टिसे वैष्णवोंके तीन भेद—

(१) कनिष्ठ—

अर्च्चायामेव हरये यः पूजां श्रद्धयेहते।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः॥६॥

(श्रीमद्भागवत ११/२/४७)

लौकिक श्रद्धानुसार जो अर्चामूर्तिकी पूजा करते हैं, किन्तु हरिभक्त एवं हरिके अधिष्ठान-स्वरूप अन्य प्राणियोंके प्रति श्रद्धा और दया नहीं करते, वे भक्त कनिष्ठ हैं॥६॥

(२) मध्यम—

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः॥७॥

(श्रीमद्भागवत ११/२/४६)

जो ईश्वरसे प्रेम, वैष्णवसे मैत्री, मूढ़ पर कृपा और द्वेषीकी उपेक्षा करते हैं, वे मध्यम भक्त हैं॥७॥

कृष्णे प्रेम, कृष्ण भक्ते मैत्री-आचरण।
बालिशेते कृपा, आर द्वेषी-उपेक्षण॥
करिले मध्यम भक्त शुद्ध भक्त हन।
कृष्णनामे अधिकार करेन अर्ज्जन॥८॥

(हरिनाम चिन्तामणि चौथा परिच्छेद)

श्रीकृष्णके प्रति प्रेम, कृष्ण-भक्तोंके प्रति मित्रता, तत्त्वोंसे अनभिज्ञ, अज्ञोंके प्रति कृपा तथा भक्त और भगवान्से द्वेष रखनेवालोंके प्रति उपेक्षाका

★अर्चन, मन्त्रपाठ, योग, याग, वन्दन, नाम-सङ्कीर्त्तन, सेवा, चिह्नद्वारा अर्चन और वैष्णवाराधन।

आचरण करनेवाले मध्यम भक्त कहलाते हैं। ये शुद्ध भक्त होते हैं। ये ही भगवत्- कृपा और भगवन्नाममें अधिकार प्राप्त करते हैं॥८।

(३) उत्तम—

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥९॥

(श्रीमद्भागवत ११/२/४५)

जो समस्त वस्तुओंको सभी जीवोंके हृदयमें नियन्ताके रूपमें स्थित परमात्मा श्रीहरिकी विभूतिके रूपमें दर्शन करते हैं, वे उत्तम भागवत हैं॥९॥

स्थावर जङ्गम देखे, ना देखे तार मूर्ति।
सर्वत्र स्फूरये ताँर इष्टदेवस्फूर्ति॥१०॥

(चै. च. म. ८/२७४)

कृष्ण प्रेममें आविष्ट रहनेवाले महाभागवत स्थावर एवं जङ्गमको देखते तो हैं, किन्तु उनके स्थूलरूपको नहीं देखते। वे जो कुछ भी देखते हैं, उसमें सर्वत्र ही उनको अपने इष्टदेवके स्वरूपकी स्फूर्ति होती है॥१०॥

गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान् यो न द्वेष्टि न हृष्यति।
विष्णोर्मायामिदं पश्यन् स वै भागवतोत्तमः॥११॥

उत्तम भक्तका तटस्थ लक्षण कहते हैं—जो इन्द्रियों द्वारा विषयोंको यथायोग्य ग्रहण करते हैं, किन्तु उनमें राग और द्वेष नहीं करते, जो इस जड़ विश्वसमूहको विष्णु-माया-रचित जानते हैं, वे 'भागवतोत्तम' हैं॥११॥

देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः।
संसारधर्मैरविमुह्यमानः स्मृत्या हरेर्भागवत प्रधानः॥१२॥

जो संसारमें तो हैं, तथापि देह, इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धि तथा जन्म, नाश, क्षुधा, भय, तृष्णा इत्यादि संसार-धर्ममें मोहित अर्थात् आसक्त नहीं हैं, सर्वदा हरि स्मृति द्वारा कुशलपूर्वक रहते हैं, वे 'भागवत प्रधान' हैं॥१२॥

न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि सम्भवः।
वासुदेवैक निलयः स वै भागवतोत्तमः॥१३॥

जो कृष्णमें अवस्थित होकर शान्त हैं एवं जिनके चित्तमें काम-कर्म-बीज उत्पन्न नहीं होते, वे 'भागवतोत्तम' हैं॥१३॥

न यस्य जन्मकर्मभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः।
सज्जतेऽस्मिन्नहम्भावो देहे वै स हरेः प्रियः॥१४॥

जिन पुरुषोंका इस जड़-देहमें जन्म, कर्म, वर्णाश्रम अथवा जातिका 'अहं' भाव उत्पन्न नहीं होता, वे ही श्रीहरिके प्रिय पात्र हैं॥१४॥

न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा।
सर्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः॥१५॥

जिनका वित्त और देहमें 'स्व' और 'पर' इस प्रकारका भेद नहीं है, जो सब भूतोंमें सम और शान्त हैं, वे ही 'भागवतोत्तम' हैं॥१५॥

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठस्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्।
न चलति भगवत्पदारविन्दात् लवनिमिषार्द्धमपि यः स वैष्णवाग्रयः॥१६॥

जिनका चित्त हरिमें है, ऐसे ब्रह्मादि देवतागण भी जिन कृष्णका अन्वेषण करते हैं, त्रिभुवन प्राप्तिके लोभमें भी वे उन कृष्णके पदारविन्दसे लव अथवा निमिषार्द्ध भी अर्थात् क्षणमात्र भी विचलित न होकर अकुण्ठ स्मृति रखते हैं, वे ही 'वैष्णवाग्रगण्य' हैं॥१६॥

भगवत उरुविक्रमाङ्घ्रिशाखानखमणिचन्द्रिकया निरस्ततापे।
हृदि कथमुपसीदतां पुनः स प्रभवति चन्द्र इवोदितेऽर्कतापः॥१७॥

श्रीकृष्णके उरुविक्रम पादपद्मोंकी नखमणि-चन्द्रिका द्वारा जिनके हृदयका ताप दूर हो चुका है, उनको और क्या दुःख है? सूर्यके तापसे तप्त व्यक्तिके संन्ध्या समय चन्द्रमाकी शीतल किरणें पा लेने पर उनको क्या और ताप-क्लेश रहता है?॥१७॥

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः।
प्रणयरसनया धृताङ्घ्रिपद्मः स भवति भागवतप्रधान उक्तः॥१८॥

(श्रीमद्भागवत ११/२/४८-५५)

विवशतासे भी जिनका नाम उच्चारण करते ही जीवोंके सब पाप दूर हो जाते हैं, उन श्रीहरिके चरणकमलोंको जिन्होंने प्रेमकी डोरसे अपने हृदयमें बाँध रखा है, वे पुरुष भगवान्के भक्तोंमें प्रधान हैं॥१८॥

ज्ञान-निष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः।
सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः॥१९॥

(भा. ११/१८/२८)

ज्ञानवान्, विषयोंसे अनासक्त और निरपेक्ष मेरा भक्त आश्रमोंकी मर्यादामें बद्ध नहीं है। वह चाहे तो आश्रमों और उनके त्रिदण्डादि आश्रम चिह्नोंको परित्यागकर विधि-निषेधोंसे परे होकर स्वच्छन्द विचरण कर सकता है॥१९॥

चैतन्य चरितामृतानुसार त्रिविध अधिकारी—

श्रद्धावान् जन हय भक्ति-अधिकारी।
'उत्तम', 'मध्यम', 'कनिष्ठ'—श्रद्धा-अनुसारी॥

शास्त्रयुक्त्ये सुनिपुण, दृढ़ श्रद्धा जाँर।
'उत्तम अधिकारी' सेइ तारय संसार॥
शास्त्र-युक्ति नाहि जाने दृढ़ श्रद्धावान्।
'मध्यम अधिकारी' सेइ महा-भाग्यवान॥
जाँहार कोमल श्रद्धा, से—'कनिष्ठ जन'।
क्रमे क्रमे तेहों भक्त हइबे 'उत्तम'॥२०॥

(चै. च. म. २२/६४-६७)

श्रद्धालु व्यक्ति भक्तिके अधिकारी हैं। श्रद्धाके अनुसार वे उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ—तीन प्रकारके होते हैं। शास्त्र-युक्तिमें दृढ़ श्रद्धावान् भक्ति-साधक उत्तम अधिकारी कहलाते हैं। ये संसारका उद्धार करनेमें समर्थ हैं। जो साधक शास्त्र युक्तिमें पारङ्गत नही हैं, किन्तु दृढ़ श्रद्धालु होते हैं—वे मध्यम अधिकारी कहलाते हैं। वे परम सौभाग्यवान् होते हैं। जिनकी श्रद्धा कोमल है अर्थात् दृढ़ नहीं है, वे कनिष्ठ अधिकारी वैष्णव हैं। ये लोग क्रमशः उत्तमाधिकारी वैष्णव होंगे॥२०॥

श्रीमहाप्रभुकथित त्रिविध वैष्णव—

(१) वैष्णव

प्रभु कहे, जार मुखे शुनि एकबार।
कृष्ण-नाम, पूज्य सेइ श्रेष्ठ सबाकार॥२१॥

(चै. च. म. १५/१०६)

(२) वैष्णवतर

कृष्ण-नाम वदने जाँहार वदने।
से-'वैष्णव-श्रेष्ठ', भज ताँहार चरणे॥२२॥

(चै. च. म. १६/७२)

(३) वैष्णवतम

जाँहार दर्शने मुखे आइसे 'कृष्ण नाम'।
ताँहारे जानिह तुमि—'वैष्णव-प्रधान'॥२३॥

(चै. च. म. १६/७४)

श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि जिनके मुखसे एकबार भी कृष्णनाम उच्चरित होता है, वे सबके लिए पूज्य हैं॥२१॥

जिनके मुखसे निरन्तर कृष्णनाम उच्चरित होता रहता है, वे मध्यम कोटिके श्रेष्ठ वैष्णव हैं। ऐसे वैष्णवोंके श्रीचरणकमलोंकी सेवा करनी चाहिए॥२२॥

जिनके दर्शनमात्रसे जिन दर्शकोंके मुखसे कृष्णनामका उच्चारण होने लगता है, उन्हें श्रेष्ठतम वैष्णव समझना चाहिए॥२३॥

वैष्णव कौन है?

दुष्ट मन! तुमि किसेर वैष्णव?
प्रतिष्ठार तरे, निर्जनेर घरे,
तव 'हरिनाम' केवल 'कैतव'।
जड़ेर प्रतिष्ठा, शुकरेर विष्ठा,
जान ना कि तार 'मायार वैभव'॥
कनक कामिनी, दिवस यामिनी,
भाविया कि काज, अनित्य से सब।
तोमार कनक, भोगेर जनक,
कनकेर द्वारे सेवह 'माधव'॥
कामिनीर काम, नहे तव धाम,
ताहार मालिक-केवल 'यादव'।
प्रतिष्ठाशा-तरु, जड़-माया-मरु,
ना पेल 'रावण' युझिया 'राघव'॥
वैष्णवी प्रतिष्ठा, ताते कर निष्ठा,
ताहा ना भजिले लभिबे रौरव।
हरिजन-द्वेष, प्रतिष्ठाश-क्लेश,
कर केन तबे ताहार गौरव॥
वैष्णवेर पाछे, प्रतिष्ठाशा आछे,
ता'त, कभु नहे 'अनित्य वैभव'।
से हरि सम्बन्ध, शून्य मायागन्ध,
ताहा कभु नय 'जड़ेर कैतव'॥
प्रतिष्ठा-चण्डाली, निर्जनता-जालि,
उभये जानिह मायिक रौरव।
'कीर्त्तन छाड़िब, प्रतिष्ठा माखिब',
कि काज ढुड़िया तादृश गौरव॥
माधवेन्द्र पुरी भावघरे चुरि,
ना करिल कभु सदाइ जानव।
तोमार प्रतिष्ठा,— 'शूकरेर विष्ठा'
तार सह सम कभु ना मानव॥

मत्सरता–वशे, तुमि जड़रसे,
मजेछ छाड़िया कीर्त्तन–सौष्ठव।
ताइ दुष्ट मन, 'निर्जन भजन'
प्रचारिछे छले 'कुयोगी वैभव॥
प्रभु सनातने, परम जतने,
शिक्षा दिल जाहा, चिन्त सेइ सब।
सेइ दुटी कथा, भूल'ना सर्वथा,
उच्चःस्वरे कर 'हरिनाम–रब'॥
'फल्गु' आर 'युक्त', 'बद्ध' आर 'मुक्त',
कभु ना भाविह एकाकार सब।
'कनक–कामिनी', 'प्रतिष्ठा–बाघिनी',
छाड़ियाछे जारे सेइ त वैष्णव॥
'सेइ अनासक्त', सेइ 'शुद्ध–भक्त',
संसार तथाय पाय पराभव।
'यथायोग्य–भोग' नाहि तथा रोग,
'अनासक्त' सेइ, कि आर कहब॥
'आसक्ति–रहित' 'सम्बन्ध सहित'
विषयसमूह सकल 'माधव'।
से 'युक्त वैराग्य', ताहात' सौभाग्य,
ताहाइ जड़ेते हरिर वैभव॥
कीर्त्तने जाहार, 'प्रतिष्ठा–सम्भार'
ताहार सम्पत्ति केवल 'कैतव'।
'विषय मुमुक्षु', 'भोगेर बुभुक्षु'
दुये त्यज मन, दुई–'अवैष्णव'॥
'कृष्णेर सम्बन्ध', अप्राकृत स्कन्ध,
कभु नहे ताहा जड़ेर सम्भव।
'मायावादी जन', कृष्णेतर मन,
मुक्त अभिमाने से निन्दे वैष्णव॥
वैष्णवेर दास, तव भक्ति–आश,
केन वा डाकिछ निर्जन–आहव।

जे 'फल्गु वैरागी', कहे, निजे, 'त्यागी',
से ना पारे कभु हइते 'वैष्णव'॥
हरिपद छाड़ि', 'निर्जनता बाडि'
लभिया कि फल, 'फल्गु' से वैभव।
राधादास्ये रहि', छाड़ि' 'भोग-अहि'
'प्रतिष्ठाशा' नहे 'कीर्त्तन-गौरव'॥
'राधा-नित्य-जन' ताहा छाड़ि मन,
केन वा निर्जन-भजन-कैतव।
ब्रजवासिगण, प्रचारक-धन,
प्रतिष्ठा-भिक्षुक ता'रा नहे 'शव'।
प्राण आछे ताँ'र, से हेतु प्रचार,
प्रतिष्ठाशा-हीन- 'कृष्णगाथा' सब॥
श्रीदयितदास, कीर्त्तनेते आश,
कर उच्चःस्वरे 'हरिनाम-रव'।
कीर्त्तन प्रभावे, स्मरण हइबे,
से काले भजन-निर्जन सम्भव॥२४॥

(श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती 'ठाकुर' रचित गीत)

वैष्णवोंके २६ लक्षण—

सेइ सब गुण हय, वैष्णव-लक्षण।
सब कहा ना जाय, करि दिग्दर्शन॥

कृष्णैक शरणत्व ही—'स्वरूप', है, शेष सभी लक्षण तटस्थ हैं—

कृपालु, अकृतद्रोह, सत्यसार, सम।
निर्दोष, वदान्य, मृदु, शुचि, अकिञ्चन॥
सर्वोपकारक, शान्त कृष्णैक-शरण।
अकाम, निरीह, स्थिर विजित-षडगुण॥
मितभुक्, अप्रमत्त, मानद, अमानी।
गम्भीर, करुण, मैत्र, कवि, दक्ष, मौनी॥२५॥

(चै. च. म. २२/७४-७६)

श्रीकृष्णके प्रायः सभी गुण वैष्णवोंमें विद्यमान रहते हैं। उनकी गणना करना असम्भव है। यहाँ उनका दिग्दर्शन मात्र कराया जा रहा है। वैष्णवगण-कृपालु,

अकृतद्रोह, सत्यसार, सम, निर्दोष, वदान्य, मृदु, शुचि, अकिञ्चन, सर्वोपकारक, शान्त, निष्काम, निरीह, स्थिर और छह गुणोंको जय करनेवाला अर्थात् जितेन्द्रिय, परिमित भोजी, अप्रमत्त, मानद, अमानी, गम्भीर, करुण, मैत्र, कवि, दक्ष, मौनी और कृष्णैकशरण अर्थात् कृष्णके अनन्य शरणागत होते हैं। इनमेंसे कृष्णकी शरणागति ही वैष्णवोंका स्वरूप लक्षण है। अवशिष्ट सभी गुण तटस्थ लक्षण हैं॥२५॥

वैष्णव समदर्शी हैं—

विद्या-विनय-सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥२६॥

(गीता ५/१८)

अप्राकृत गुण प्राप्त समस्त ज्ञानी प्राकृत गुण द्वारा उत्तम, मध्यम और अधमरूपी वैषम्यका परित्यागकर विद्या और विनयसे युक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता और चण्डाल—सबके प्रति समदर्शी होकर पण्डित संज्ञासे अभिहित होते हैं॥२६॥

महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेस्तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम्।
महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ता विमन्यवः सुहृदः साधवो ये॥२७॥
ये वा मयीशे कृतसौहृदार्था जनेषु देहम्भरवार्त्तिकेषु।
गृहेषु जायात्मजरातिमत्सु न प्रीतियुक्ता यावदर्थाश्च लोके॥२८॥

(भा. ५/५/२-३)

पण्डितोंने वैष्णवोंकी सेवाको मुक्तिका द्वार और स्त्रीसङ्गीके सङ्गको नरकका द्वार बताया है। महापुरुष वे ही हैं, जो समान चित्त, परमशान्त (भगवन्निष्ठ), क्रोधहीन, सबके हितचिन्तक और सदाचार सम्पन्न हों, मुझे ईश्वर और मेरे प्रेमको ही जो एकमात्र पुरुषार्थ मानते हों, केवल विषयोंकी ही चर्चा करनेवाले लोगोंमें तथा स्त्री, पुत्र और धन आदि सामग्रियोंसे सम्पन्न घरोंमें जो अनासक्त हों तथा जो केवल शरीर निर्वाहोपयोगी धनसे अधिक की अपेक्षा नहीं करते हों॥२८॥

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥२९॥

(भा. ९/४/६३)

मैं भक्त-पराधीन हूँ, हे ब्राह्मण! परम भक्त साधुगण मेरे हृदयपर सम्पूर्णरूपसे अधिकार किये हुए हैं। मैं भक्तजनोंका प्रिय हूँ॥२९॥

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयंत्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥३०॥

(श्रीमद्भागवत ९/४/६८)

सभी साधु मेरे हृदय हैं और मैं भी साधुओंका हृदय हूँ। वे मेरे अतिरिक्त और किसीको नहीं जानते। मैं भी उनके अतिरिक्त किसीको अपना नहीं मानता॥३०॥

वैष्णव परम पावन हैं—

भवद्विधा भागवतास्तीर्थीभूताः स्वयं प्रभो।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता॥३१॥

(श्रीमद्भागवत १/१३/१०)

आपके जैसे सभी साधु स्वयं तीर्थस्वरूप हैं। आप लोग गदाधर श्रीकृष्णको निरन्तर हृदयमें धारणकर पापियोंके पापसे मलिन हुए तीर्थसमूहको पवित्र करनेमें समर्थ हैं॥३१॥

यन्नामश्रुतिमात्रेण पुमान् भवति निर्म्मलः।
तस्य तीर्थपदः किं वा दासानामवशिष्यते॥३२॥

(श्रीमद्भागवत ९/५/१६)

जिनका नाम सुनने मात्रसे ही जीव निर्मल होते हैं, जो उन तीर्थपद भगवान्‌के दास हैं, उनके लिए कौनसा कर्त्तव्य शेष रह जाता है?॥३२॥

भक्त-माहात्म्य—

स्वधर्मनिष्ठः शतजन्मभिः पुमान् विरिञ्चतामेति ततः परं हि माम्।
अव्याकृतं भागवतोऽथ वैष्णवं पदं यथाहं विबुधा कलात्यये॥३३॥

(श्रीमद्भागवत ४/२४/२९)

शिवजी कहने लगे—अपने वर्णाश्रम धर्मका भलीभाँति पालन करनेवाला पुरुष सौ जन्मके बाद ब्रह्माके पदको प्राप्त होता है और इससे भी अधिक पुण्य होने पर वह मेरे पदको प्राप्त होता है, परन्तु जो भगवान्‌के अनन्य भक्त हैं, उनको इस आवागमनके चक्रमें प्रवेश नहीं करना पड़ता। वे सीधे ही साक्षात् प्रपञ्चातीत वैष्णव पदको प्राप्त होते हैं, जिसे मैं 'महादेव' और अन्य देवतागण भी अपने-अपने आधिकारिक अवधिकी समाप्तिके बाद प्राप्त करेंगे॥३३॥

नयन भरिया देख दासेर प्रभाव।
हेन दास्य-भावे कृष्णे कर' अनुराग॥
अल्प हेन ना मानिह 'कृष्णदास नाम।
अल्प भाग्ये 'दास' नाहि करे भगवान्॥
'दास'-नामे ब्रह्मा, शिव, हरिष सबार।
धरणी-धरेन्द्र चाहे दास-अधिकार॥३४॥

(चै. भा. म. २३/४६७-४६८, ४७६)

कृष्णके दासोंका असीम प्रभाव होता है। आँखोंको खोलकर अच्छी तरहसे कृष्णके दासोंका प्रभाव देखो। ऐसे अमित प्रभावशाली दासभावसे ही कृष्णके चरणकमलोंमें अनुराग करो। कृष्ण दासोंको छोटा या तुच्छ मत समझो। अल्प भाग्यसे कृष्ण किसीको दास रूपमें स्वीकार नहीं करते हैं। ब्रह्मा और शिव 'हरिदास' की पदवी पाकर हार्दिक रूपसे प्रसन्नताका अनुभव करते हैं। औरोंकी तो बात ही क्या, पृथ्वीको धारण करनेवाले अनन्तदेव भी दास पदकी लालसा रखते हैं॥३४॥

कीट जन्म हउ यथा तुया दास।
बहिर्मुख ब्रह्मजन्मे नाहि आश॥३५॥

(ठाकुर भक्तिविनोद कृत शरणागति)

श्रील भक्तिविनोद ठाकुर कहते हैं कि अपने कर्मोंके फलसे कीट जन्म होता है, तो हो। किन्तु, हे प्रभो! जहाँ आपके दास रहें, वहीं पर मेरा जन्म हो, जिससे कि उनका सङ्ग प्राप्त होता रहे। मुझे बहिर्मुख ब्रह्माके जन्मकी लालसा नहीं है॥३५॥

वैष्णवदासका महत्त्व—

मज्जन्मनः फलमिदं मधुकैटभारे
मत्प्रार्थनीय मदनुग्रह एष एव।
त्वद् भृत्य-भृत्य-परिचारक-भृत्य-भृत्य-
भृत्यस्य भृत्य इति मां स्मर लोकनाथ॥३६॥

(कुलशेखर-मुकुन्दमालास्तोत्र—२५)

हे लोकनाथ! हे भगवन्! हे मधुकैटभारे! मेरे जन्मका यही फल और यही प्रार्थना है एवं यही आपका अनुग्रह है कि आप मुझे अपना भृत्य, वैष्णवोंका दासानुदास, उन वैष्णवोंका दासानुदास एवं वैष्णवोंके दासोंके दासोंके अनुदासके रूपमें मुझे स्मरण करेंगे॥३६॥

वैष्णव माहात्म्य—

साधूनां समचित्तानां सुतरां मत्कृतात्मनाम्।
दर्शनान्नो भवेद्बन्धः पुंसोऽक्ष्णोः सवितुर्यथा॥३७॥

(भागवत १०/१०/४१)

जैसे सूर्योदय होनेपर अन्धकार दूर हो जाता है उसी प्रकार सभी जीवोंमें समदर्शी भगवद्भक्तोंके दर्शनसे जीवके भवबन्धनका नाश हो जाता है॥३७॥

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवामृच्छिलामयाः।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः॥३८

(भागवत १०/८४/११)

जलमय स्थान होनेसे ही तीर्थ नहीं होता, मृत्तिका या पाषाणमयी प्रतिमा होनेसे ही देवता नहीं होते, गङ्गा आदि जलमय स्थान तीर्थ होनेपर भी एवं शालग्रामादि शिला देवता होनेपर भी बहुत समय तक सेवित होनेपर ही पवित्र करते हैं, किन्तु साधुगण दर्शन मात्रसे ही पवित्र करते हैं॥३८॥

वैष्णव पदाश्रयके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं—

ठाकुर वैष्णव पद, अवनीर सुसम्पद,
शुन भाई! हइया एक मन।
आश्रय लइया भजे, तारे कृष्ण-नहि त्यजे,
आर सब मरे अकारण॥
वैष्णव-चरण-जल, प्रेम-भक्ति दिते बल,
आर केह नहे बलवन्त।
वैष्णव-चरण-रेणु, मस्तके भूषण बिनु,
आर नाहि भूषणेर अन्त॥
तीर्थ-जल पवित्र गुणे, लिखियाछे पुराणे,
से सब भक्तिर प्रवञ्चन।
वैष्णवेर पादोदक- सम नहे एइ सब,
जाते हय वाञ्छित पूरण॥
वैष्णव-सङ्गेते मन, आनन्दित अनुक्षण,
सदा हय कृष्ण- परसङ्ग।
दीन नरोत्तम कान्दे, हिया धैर्य नाहि बान्धे,
मोर दशा केन हैल भङ्ग॥३९॥

(ठाकुर महाशयकी प्रार्थना)

प्यारे भाइयो! एकाग्रचित्तसे श्रवण करो—'वैष्णव पद' पृथ्वीका एक अमूल्य सम्पद है। जो लोग उसका आश्रय लेकर साधन-भजन करते हैं, वे सहज ही कृष्ण भक्ति प्राप्त करते हैं तथा जो ऐसा नहीं करते उनका जीवन व्यर्थ हो जाता है। उनका साधन-भजन भी निष्फल होता है। वैष्णवोंके पदधौत जलका सेवन प्रेमभक्तिकी प्राप्तिमें विशेष सहायक है, इसके अतिरिक्त अन्य साधन इतने प्रभावशाली नहीं होते। वैष्णवोंकी चरणरेणु मस्तकपर धारण किये बिना श्रीकृष्ण-प्रेमकी प्राप्ति सुदुर्लभ है—वही मस्तकका भूषण है। दूसरे स्वर्ण, किरीट आदि आभूषणोंको धारण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। पुराण आदि शास्त्रोंमें तीर्थजलको परम पवित्र बतलाया गया है, किन्तु यह भक्तिकी कामनावालोंके लिए प्रवञ्चना मात्र है। यह वैष्णवोंके चरणोदककी समता नहीं कर सकता। वैष्णवोंके चरणामृतका सेवन करनेसे प्रेमा-भक्तिरूप वाच्छा भी पूर्ण हो जाती है। वैष्णवोंके सङ्गमें सदैव मन आनन्दित रहता है, क्योंकि वहाँ नित्य-निरन्तर कृष्णकी लीला-कथाओंका प्रसङ्ग चलता रहता है। श्रीनरोत्तम ठाकुर वैष्णव विरहमें अतिशय कातर होकर क्रन्दन करते हुए कह रहे हैं कि मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? बहुत चेष्टा करनेपर भी मेरे धैर्यका बाँध टूट रहा है। मैं वैष्णव सङ्गसे वञ्चित क्यों हो गया?॥३९॥

वैष्णव ही एकमात्र पतित पावन हैं—

एइबार करुणा कर वैष्णव-गोसाञि।
पतित पावन तोमा बिने केह नाइ॥
काहार निकटे गेले पाप दूरे जाय।
एमन दयाल प्रभु केबा कोथापाय?॥
गङ्गार परश हइले पश्चाते पावन।
दर्शने पवित्र कर— एइ तोमार गुण॥
हरिस्थाने अपराधे तारे' हरिनाम।
तोमा स्थाने अपराधे नाहिक एड़ान॥
तोमार हृदये सदा गोविन्द विश्राम।
गोविन्द कहेन— मम वैष्णव पराण॥
प्रतिजन्मे करि आशा चरणेर धूलि।
नरोत्तमे कर दया आपनार बलि॥४०॥

(ठाकुर महाशयकी प्रार्थना)

हे पतित-पावन वैष्णव गोस्वामी! मैंने सब प्रकारसे अनुभव करके समझ लिया है, कि आप लोगोंके अतिरिक्त मुझे इस संसार-सागरसे पार करानेमें कोई

भी समर्थ नहीं है। अतः एकान्तरूपसे आपके श्रीचरणकमलोंका आश्रय लिया है। अब आप मेरे ऊपर कृपा कीजिए। आपके बिना संसारमें मेरा कोई भी बन्धु नहीं है। इस संसारमें ऐसा कोई भी सर्वसमर्थ दयालु नहीं है, जिसके निकट जानेसे मेरे भयङ्कर पापसमूह दूर हो सकें। भगवती गङ्गा पतित-पावनी तो है, किन्तु उनका स्पर्श होनेके पश्चात् पापी व्यक्ति पवित्र होता है। किन्तु, आपमें पवित्र करनेकी ऐसी अलौकिक शक्ति है कि आपके दर्शनमात्रसे ही भयङ्कर पापी भी पवित्र हो जाता है। श्रीहरिके प्रति किये हुए अपराधोंको तो श्रीहरिनाम दूर कर देते हैं। किन्तु, आपके प्रति किये हुए अपराधोंसे उनका कदापि निस्तार नहीं है अर्थात् श्रीहरि और हरिनाम भी उसे दूर नहीं करते। आपके हृदयमें कोई भी कृष्णेतर कामना-वासना नहीं होनेसे वहाँ श्रीगोविन्ददेव बड़े सुखसे विश्राम करते हैं। श्रीगोविन्दजी कहते हैं कि मेरे वैष्णवभक्त मेरे प्राणस्वरूप हैं। श्रीनरोत्तम ठाकुर जन्म-जन्मान्तरोंमें ऐसे गोविन्द प्रिय वैष्णवोंकी चरणधूलिकी कामना करते हैं। हे वैष्णवगण! आप लोग अपना समझकर मुझ पर कृपा करें॥४०॥

ऐकान्तिक-वैष्णव-माहात्म्य—

ब्राह्मणानां सहस्रेभ्यः सत्रयाजी विशिष्यते।
सत्रयाजि-सहस्रेभ्यः सर्ववेदान्तपारगः॥
सर्ववेदान्तवित्कोट्या विष्णुभक्तो विशिष्यते।
वैष्णवानां सहस्रेभ्यः एकान्त्येको विशिष्यते॥४१॥

(ह. भ. वि. १०/११७ व भक्तिसन्दर्भ १७७ गरुड-वचन)

हजारों ब्राह्मणोंसे एक सावित्र्य ब्राह्मण श्रेष्ठ है, सहस्र सावित्र्य ब्राह्मणोंकी अपेक्षा एक वेदान्तविद् ब्राह्मण श्रेष्ठ है, कोटि-कोटि वेदान्तविद् ब्राह्मणोंकी अपेक्षा एक विष्णु भक्त श्रेष्ठ है, सैंकड़ों विष्णु भक्तोंसे एक ऐकान्तिक वैष्णव श्रेष्ठ है॥४१॥

न मय्येकान्त भक्तानां गुण दोषोद्भवा गुणाः॥४२॥

(श्रीमद्भागवत ११/२०/३६)

मेरे अनन्य प्रेमी भक्तों और उन समदर्शी महात्माओंने प्रकृतिसे अतीत मुझ पुरुषको प्राप्त किया है, इसलिए विधि और निषेधसे उत्पन्न होनेवाले गुण—दोष आदि से उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं होता॥४२॥

वैष्णवोंका सुदुर्लभ-तत्त्व—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥४३॥

(गीता ७/१९)

अनेक जन्मोंतक साधन करते-करते जीव सत्सङ्गके प्रभावसे मेरा स्वरूप-ज्ञान प्राप्तकर मेरे शरणागत होते हैं, और बादमें वे मुझे प्राप्त होते हैं। उस समय उनको यह उपलब्धि होती है कि जितनी भी वस्तुएँ हैं, वे वासुदेवसे सम्बन्धित हैं, अतएव वे सभी वासुदेवमय हैं—ऐसे महात्मा अत्यन्त दुर्लभ हैं॥४३॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥४४॥

(गीता ७/३)

असंख्य जीवोंमे कदाचित् कोई मनुष्य होता है, हजारों मनुष्योंमें कोई-कोई कल्याण सिद्धिके लिए यत्न करता है और हजारों सिद्धोंमें कोई-कोई मुझसे अर्थात् मेरे भगवत्स्वरूपसे अवगत होता है॥४४॥

रजोभिः समसंख्याताः पार्थिवैरिह जन्तवः।
तेषां ये केचनेहन्ते श्रेयो वै मनुजादयः॥
प्रायोमुमुक्षवस्तेषां केचनैव द्विजोत्तम।
मुमुक्षूणां सहस्रेषु कश्चिन्मुच्येत सिध्यति॥
मुक्तानामपि सिद्धानां नारायण परायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥४५॥

(भागवत ६/१४/३-५)

जिस प्रकार धूलिकणोंकी गणना नहीं की जा सकती, उसी प्रकार जीवोंकी भी गणना नहीं की जा सकती, उनमेंसे कोई-कोई जीव ही अपने नित्य मङ्गल की कामना करते हैं। उनमें भी संसारसे मुक्ति चाहनेवाले तो विरले ही होते हैं और मोक्ष चाहनेवाले हजारोंमें कोई-कोई तत्त्वसिद्धि लाभ कर मुक्त होते हैं। कोटि-कोटि सिद्ध मुक्तोंमें विरले ही शान्तचित्त नारायण भक्त होते हैं। अतएव नारायण-भक्त मिलना बड़ा दुर्लभ है॥४५॥

मुक्त पुरुषोंमें भी कृष्णभक्तका मिलना दुर्लभ है—

तार मध्ये 'स्थावर', 'जङ्गम' दुइ भेद।
जङ्गमे तिर्यक् जल-स्थलचर विभेद॥
ताँ'र मध्ये मनुष्य-जाति अति अल्पतर।
ताँ'र मध्ये म्लेच्छ, पुलिन्द, बौद्ध, शबर॥
वेदनिष्ठ मध्ये अर्द्धेक वेद 'मुखे' माने।
वेद निषिद्ध पाप करे, धर्म नाहि गणे॥

धर्माचारी मध्ये बहुत 'कर्मनिष्ठ'।
कोटी-कर्मनिष्ठ-मध्ये एक ज्ञानी श्रेष्ठ॥
कोटी-ज्ञानी मध्ये हय एक जन मुक्त।
कोटी-मुक्त-मध्ये 'दुर्लभ' एक कृष्णभक्त॥४६॥

(चै. च. म. १९/१४४-१४८)

जीव दो प्रकारके हैं—नित्यमुक्त और अनादिबद्ध। अनादिबद्ध जीव स्थावर और जङ्गम भेदसे दो प्रकारके हैं। पहला—स्थावर अर्थात् अचल (वृक्ष आदि) और दूसरे जङ्गम अर्थात् मनुष्य आदि सचल जीव। पुनः जङ्गम जीव तीन प्रकारके होते हैं—पक्षी आदि तिर्यक, जलचर और स्थलचर। स्थलचरोंमें मनुष्य जाति अल्प संख्यामें है। इन अल्प संख्यक मानवोंमें भी म्लेच्छ, पुलिन्द, बौद्ध, शबर आदिको छोड़ देनेपर वेदनिष्ठ मनुष्य ही शेष रह जाते हैं। वेदनिष्ठ भी दो प्रकारके होते हैं—धर्माचारी और अधर्माचारी। धर्माचारियोंमेंसे अधिकांश कर्मनिष्ठ होते हैं। विरले ही ज्ञाननिष्ठ हैं। करोड़ों ज्ञाननिष्ठोंमेंसे केवल कोई एक ही यथार्थ मुक्त होता है। यहाँ जड़बुद्धिसे मुक्तोंको ही मुक्त कहा गया है। उन मुक्तोंमें भी जो श्रद्धापूर्वक कृष्ण-भजनमें प्रवृत्त होते हैं, वे ही कृष्ण भक्त हैं। ऐसे कृष्ण भक्तोंकी संख्या बहुत ही अल्प है, ऐसे कृष्ण भक्तोंके हृदयमें कृष्णेतर कामना-वासना नहीं होती। पूर्वोक्त मुक्तों तक सभी कामनायुक्त होते हैं। धर्माचारी और कर्मनिष्ठ भोगकामी हैं, मुक्त तक सभी ज्ञानी मुक्तिकामी होते हैं। उनमेंसे कोई-कोई योगफलकी प्राप्तिके लिए सिद्धिकामी होते हैं। जब तक उनके हृदयमें तीनों प्रकारकी कामनाएँ रहती हैं, तब तक उनका मन अशान्त रहता है। इसलिए निष्काम कृष्णभक्तका ही हृदय शान्त रहता है। ऐसे निर्मल, शान्त हृदयवाले भक्त सुदुर्लभ हैं॥४६॥

अक्ष्णोः फलं हि त्वादृश-दर्शनं हि तनोः फलं त्वादृश-गात्रसङ्गः।
जिह्वाफलं त्वादृश-कीर्त्तनं हि सुदुर्लभा भागवता हि लोके॥४७॥

(श्रीहरिभक्तिसुधोदय १३/२)

हे वैष्णव! आप जैसे व्यक्तिके दर्शन करना ही इन नेत्रोंका फल है, आप जैसे व्यक्तिका स्पर्श करना ही इस शरीरका फल है, इस जिह्वाका फल भी तभी है जब यह आप जैसे व्यक्तिका गुण कीर्त्तन करती रहे, क्योंकि जगत्में भागवतगणका होना सुदुर्लभ है॥४७॥

वैष्णव अक्षज-ज्ञानगम्य नहीं है—

तान् वै ह्यसद्वृत्तिभिरक्षिभिर्ये पराहृतान्तर्मनसः परेश।
अथो न पश्यन्त्युरुगाय नूनं ये ते पदन्यासविलास लक्ष्म्याः॥४८॥

(श्रीमद्भागवत ३/५/४४)

इन्द्रियोंके विषयाभिमुख रहनेके कारण जिनका मन सर्वदा बाहर ही भटकता रहता है, हे परम यशस्वी परमेश्वर! वे पामर लोग आपके विलासपूर्ण पादविन्यासकी शोभाके विशेषज्ञ भक्तोंका दर्शन नहीं कर पाते॥४८॥

जत देख वैष्णवेर व्यवहार-दुःख।
निश्चय जानिह सेइ परानन्द सुख॥
विषय मदान्ध सब किछुइ ना जाने।
विद्या, कुल, धन मदे वैष्णव ना चिने॥४९॥

(चै. भा. म. ९/२४०-२४१)

वैष्णवोंके जो व्यवहारिक दुःख दिखाई देते हैं, वे निश्चित रूपमें उनके लिए परमानन्द सुख हैं। विषय मदमें अन्धे हुए व्यक्ति अप्राकृत विषयमें कुछ भी अनुभव नहीं रखते। वे विद्या, कुल और धनके अभिमानमें मत्त रहनेके कारण वैष्णवोंको पहचान नहीं पाते॥४९॥

वैष्णव दूसरोंके दुःखसे दुःखी होते हैं—

महद्विचलनं नृणां गृहिणां दीनचेतसाम्।
निःश्रेयसाय भगवन्नान्यथा कल्पते क्वचित्॥५०॥

(श्रीमद्भागवत १०/८/४)

हे भगवन्! दीन गृहस्थोंके नित्य मङ्गलके लिए ही महात्माओंका उनके घरमें आगमन होता है, क्योंकि वे घरोंके प्रपञ्चोंमें इतने उलझे हुए हैं कि वे उनके आश्रम तक जा भी नहीं सकते। कल्याण के सिवाय उनके आगमनका और कोई हेतु नहीं है॥५०॥

महान्त स्वभाव एइ तारिते पामर।
निज-कार्य नाहि तबु जान तार घर॥५१॥

(चै. च. म. ८/३९)

महापुरुष स्वभावसे ही अहैतुक दयालु होते हैं। अतः अपना किसी प्रकारका स्वार्थ नहीं रहनेपर भी एकमात्र पतित जनोंका उद्धार करनेके लिए ही उनके घरोंमें जाते हैं॥५१॥

जनस्य कृष्णाद्विमुखस्य दैवादधर्मशीलस्य सुदुःखितस्य।
अनुग्रहायेह चरन्ति नूनं भूतानि भव्यानि जनार्दनस्य॥५२॥

(श्रीमद्भागवत ३/५/३)

जो लोग पूर्व कर्मवश भगवान् श्रीकृष्णसे विमुख, अधर्म परायण और अन्त्यन्त दुःखी हैं, उनपर कृपा करनेके लिए श्रीकृष्णके मङ्गलमय भक्तगण मर्त्यलोकमें विचरण करते हैं॥५२॥

भजन्ति ये यथा देवान् देवा अपि तथैव तान्।
छायेव कर्मसचिवाः साधवो दीनवत्सलाः ॥५३॥

(श्रीमद्भागवत ११/२/६)

जो लोग देवताओंका जिस प्रकार भजन करते हैं, देवता भी परछायीके समान ठीक उसी रीतिसे भजन करनेवालोंको फल देते हैं, किन्तु साधु पुरुष कर्मके अनुसार फल नहीं देते हैं, वे तो दीनवत्सल हैं॥५३॥

वैष्णवोंका अप्राकृत-तत्त्व—

न कर्मबन्धनं जन्म वैष्णवानाञ्च विद्यते।
विष्णोरनुचरत्वं हि मोक्षमाहुर्मनीषिणः॥५४॥

(ह. भ. वि. १०/११३ धृत पाद्मोत्तरवाक्य)

वैष्णवोंका जन्म और कर्म बन्धन नहीं है। पण्डितगण उनको विष्णुका दास कहकर मुक्तिभाजन कहते हैं॥५४॥

अतएव वैष्णवेर जन्म-मृत्यु नाइ।
सङ्गे आइसेन, सङ्गे जायेन तथाइ॥
धर्म- कर्म- जन्म वैष्णवेर कभु नहे।
पद्म-पुराणेते इहा व्यक्त करि' कहे॥५५॥

(चै. भा. अ. ८/१७३-१७४)

पद्मपुराणमें स्पष्टरूपसे कहा गया है कि वैष्णवोंका जन्म व मरण नहीं होता। वे भगवानके साथ ही उनकी सेवा करनेके लिए आते हैं। पुनः भगवान्के साथ ही उनके धामको चले जाते हैं। अतः वैष्णवोंका किसी प्रकारका लौकिक धर्म, लौकिक कर्म और जन्म नहीं होता॥५५॥

वह्नि सूर्य ब्राह्मणेभ्यस्तेजीयान् वैष्णवः सदा।
न विचारो न भोगश्च वैष्णवानां स्वकर्मणाम्॥५६॥

(ब्रह्मवैवर्त कृष्णजन्म खण्ड ५९ अध्याय)

अग्नि, सूर्य एवं ब्राह्मणोंकी अपेक्षा वैष्णव अधिक तेजस्वी होते हैं। वैष्णवोंको अपने कर्मोंका भोग नहीं भोगना पड़ता अथवा उनके कर्मफल होनेका विचार ही नहीं उठता॥५६॥

वैष्णवता जाति-कुलान्तर्गत नहीं है—

विप्राद्द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-पादारविन्दविमुखात् श्वपचं वरिष्ठम्।
मन्ये तदर्पित मनोवचनेहितार्थ प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः॥५७

(श्रीमद्भागवत ७/९/१०)

मेरी समझमें बारह गुणोंसे युक्त ब्राह्मण भी भगवान् कमलनाभके चरणकमलोंसे विमुख हो, तो उससे वह चाण्डाल श्रेष्ठ है, जिसने अपने मन, वचन, कर्म, अर्थ और प्राण भगवान्के चरणोंमें समर्पित कर रखा है, क्योंकि वह चाण्डाल तो अपने कुलके साथ अपने प्राणतकको पवित्र कर लेता है परन्तु बड़प्पनका अभिमान रखनेवाला वह ब्राह्मण अपनेको भी पवित्र नहीं कर सकता॥५७॥

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥५८॥

(श्रीमद्भागवत ३/३३/७)

हे भगवन्! जिसके मुखमें आपके नामका सदा कीर्त्तन होता रहता है, वह चाण्डाल कुलमें उत्पन्न होनेपर भी सर्वश्रेष्ठ है। जो आपके नामका कीर्त्तन करते हैं, उन्होंने ही सब प्रकारकी तपस्या की है, उन्होंने ही सब प्रकारके यज्ञ किये हैं, उन्होंने ही समस्त तीर्थोंमें स्नान किया है, इसलिए वे ही आर्योंमें गिनने योग्य हैं॥५८॥

न मेऽभक्तश्चतुर्वेदी मद्भक्तः श्वपचः प्रियः।
तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथाह्यहम्॥५९॥

(ह. भ. वि. १०/९१)

चतुर्वेदपाठी अर्थात् चारों वेदोंको जाननेवाला ब्राह्मण होनेपर भी वह भक्त हो, ऐसा नहीं है। मेरा भक्त चाण्डाल कुलमें उत्पन्न होने पर भी मेरा प्रिय है और भक्त ही यथार्थ दानपात्र एवं ग्रहणपात्र है। चाण्डालकुलमें उत्पन्न होनेपर भी मेरा भक्त मेरी भाँति ब्राह्मणादि सभीका पूज्य है॥५९॥

नीच जाति नहे कृष्ण भजनेर अयोग्य।
सत्कुल विप्र नहे भजनेर योग्य॥
जेइ भजे सेइ बड़ अभक्त हीन छार।
कृष्णभजने नाहि जाति कुलादि विचार॥६०॥

(चै. च. अ. ४/६६-६७)

नीच जातिमें जन्म लेनेवाला व्यक्ति भी कृष्णके उन्मुख रहनेपर कृष्णभजनका अधिकारी है, परन्तु ब्राह्मण कुलमें जन्म लेनेवाला व्यक्ति कृष्णके चरणकमलोंसे विमुख रहने पर कृष्ण-भजनका अधिकारी नहीं है। कृष्णके भजनमें जाति-कुल आदि किसी प्रकार का भी विचार नहीं है। जो कृष्णका भजन करता है, वही सर्वश्रेष्ठ है तथा जो उनका भजन नहीं करता वह सबसे निकृष्ट है॥६०॥

मातापिता युवतयस्तनया विभूतिः सर्वं यदेव नियमेन मदन्वयानाम्।
आद्यस्य नः कुलपते-र्बकुलाभिरामंश्रीमत्तदङ्घ्रियुगलं प्रणमामि मूर्द्धा॥६१॥

(आलवन्दारुस्तोत्र ७ वां श्लोक)

मैं अपने कुल प्रभु प्रथम आचार्य श्रीबकुलाभिरामके श्रीपादपद्मोंमें प्रणाम करता हूँ। वे श्रीचरणयुगल मेरे वंशीय अधस्तन शिष्यवर्गके सर्वस्व हैं। उन श्रीशठकोपके श्रीचरणकमल ही उनके माता-पिता, स्त्री-पुत्र, ऐश्वर्य सब कुछ हैं॥६१॥

द्वादश महाजन—

स्वयम्भुर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलोमनुः।
प्रह्लादोजनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम्॥६२॥

(श्रीमद्भागवत ६/३/२०)

स्वयम्भु, नारद, शम्भु, सनत्कुमार, देवहूति पुत्र कपिल, मनु, जनक, भीष्म, बलि, वैयासकि, प्रह्लाद तथा यम—ये द्वादश महाजन हैं॥६१॥

वैष्णवोंके नाम—

मार्कण्डेयोऽम्बरीषश्च वसुर्व्यासो विभीषण।
पुण्डरीको बलिः शम्भुः प्रह्लादो विदुरो ध्रुवः॥
दालभ्यः पराशरो भीष्मो नारदाद्याश्च वैष्णवैः।
सेव्या हरिं निषेव्यामी नो चेदागः परं भवेत्॥६३॥

(लघुभागवतामृत उत्तरखण्ड २ संख्याधृत पाद्मवाक्य)

मार्कण्डेय, अम्बरीष, वसु, व्यास, विभीषण, पुण्डरीक, बलि, शम्भु, प्रह्लाद, विदुर, ध्रुव, दाल्भ्य, पराशर, भीष्म एवं नारदादि भक्तवृन्दोंकी सेवा करना एकमात्र कर्त्तव्य है, अन्यथा घोरतर अपराध होता है॥६३॥

अम्बरीषादि भक्तसे प्रह्लादकी श्रेष्ठता—

क्वाहं रजः प्रभव ईश तमोऽधिकेऽस्मिन्
जातः सुरेतर-कुले क्व तवानुकम्पा।
न ब्रह्मणो न च भवस्य न वै रमाया
यन्मेऽर्पितः शिरसि पद्मकरः प्रसादः॥६४॥

(श्रीमद्भागवत ७/९/२६)

हे प्रभो! कहाँ तो इस तमोगुणी असुर वंशमें रजोगूणसे उत्पन्न हुआ मैं और कहाँ आपकी अनन्त कृपा! आपने अपना परम प्रसादस्वरूप और सकल सन्तापहारी वह करकमल मेरे सिर पर रखा है, जिसे आपने ब्रह्मा, शङ्कर और लक्ष्मी आदिके मस्तकपर भी कभी नहीं रखा॥६४॥

प्रह्लाद की अपेक्षा पाण्डवोंकी श्रेष्ठता—

न तु प्रह्लादस्य गृहे परं ब्रह्म वसति, न च तद्दर्शनार्थं मुनयस्तद्गृहान् अभियन्ति, न च तस्य ब्रह्म मातुलेयादिरूपेण वर्त्तते, न च स्वयमेव प्रसन्नम्, अतो यूयमेव ततोऽप्यस्मत्तोऽपि भूरिभागा इति भावः॥६५॥

(ल. भा. उ. ख. १७ श्रीमद्भा. ७/१०/५० श्लोकको श्रीधरस्वामी टीका)

श्रीधर स्वामीपादने लिखा है—प्रह्लादके घरमें परमब्रह्म श्रीकृष्ण वास नहीं करते। उनके दर्शन करनेके लिए मुनिगण प्रह्लादके घर नहीं जाते और भगवान् प्रह्लादके मामा इत्यादि सम्बन्धोंसे जुड़े नहीं होते। परमब्रह्म श्रीकृष्ण स्वयं भी प्रह्लादके प्रति प्रसन्न नहीं हुए (अपने अंशके अंश वैभव विलास मूर्ति श्रीनृसिंहदेवके रूपमें एक क्षणके लिए केवल दर्शन देकर अन्तर्हित हो गये) इसीलिए प्रह्लाद एवं हम लोगोंकी अपेक्षा आप ही (पाण्डवगण) अतिशय भाग्यवान हैं, यही नारदजीका अभिप्राय है॥६५॥

पाण्डवोंसे यादवोंकी श्रेष्ठता—

सदाति सन्निकृष्टत्वात् ममताधिक्यतो हरेः।
पाण्डवेभ्योऽपि यादवः केचित् श्रेष्ठतमा मताः॥६६॥

(लघुभागवतामृत उ. ख. १८)

कोई-कोई यादव सर्वदा श्रीकृष्णके सन्निकट रहते हैं तथा उनके प्रति अधिक ममतायुक्त रहते हैं। अतः यादव पाण्डवोंसे भी श्रेष्ठ हैं॥६६॥

यादवोंसे उद्धवकी श्रेष्ठता—

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः।
न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥६७॥

(श्रीमद्भागवत ११/१४/१५)

हे उद्धव! मुझे तुम्हारे जैसे प्रेमी भक्त जितने प्रिय हैं, उतने प्रिय मेरे पुत्र ब्रह्मा, शङ्कर, सगे भाई बलरामजी, स्वयं अर्धाङ्गिनी लक्ष्मीजी और मेरी अपनी आत्मा उतनी प्रिय नहीं है॥६७॥

नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनो यद्गुणैर्नार्दितः प्रभुः।
अतोमद्वयुनं लोकं ग्राह्यन्निह तिष्ठतु॥६८॥

(श्रीमद्भागवत ३/४/३१)

उद्धव मुझसे अणुमात्र भी कम नहीं हैं, क्योंकि वे आत्मजयी हैं, विषयोंसे कभी विचलित नहीं हुए॥६८॥

उद्धवसे भी ब्रजदेवियाँ श्रेष्ठ हैं—

उद्धवकी प्रार्थना—

आसामहो चरणरेणु जुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथञ्च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवींश्रुतिभिर्विमृग्याम्॥६९॥

(श्रीमद्भागवत १०/४७/६१)

मेरे लिए तो सबसे अच्छी बात यही होगी कि मैं इस वृन्दावन धाममें कोई झाड़ी, लता अथवा औषधि-जड़ी-बूटी ही बन जाऊँ। अहा! यदि मैं ऐसा बन जाऊँगा, तो मुझे इन ब्रजाङ्गनाओंकी चरणधूलि निरन्तर सेवन करनेके लिए मिलती रहेगी। इनकी चरणरजमें स्नान करके मैं धन्य हो जाऊँगा। धन्य हैं ये गोपियाँ! देखो तो सही जिनको छोड़ना अत्यन्त कठिन है, उन स्वजन सम्बन्धियों तथा लोक, वेदकी आर्य मर्यादाका परित्याग करके उनका परमप्रेम प्राप्त कर लिया है—औरोंकी तो बात ही क्या भगवद्वाणी उनकी निःश्वासरूप समस्त श्रुतियाँ, उपनिषदें भी भगवान्‌के परम प्रेममय स्वरूपको ढूढ़ती ही रहती हैं, प्राप्त नहीं कर पातीं॥६ ९॥

लक्ष्मीसे भी ब्रजदेवियोंकी श्रेष्ठता—

न तथा मे प्रियतमो ब्रह्मा रुद्रश्च पार्थिव।
न च लक्ष्मीर्न चात्मा च यथा गोपीजनो मम॥७०॥

(आदिपुराणोक्त भगवद्वाक्य)

श्रीभगवानने कहा—हे अर्जुन! ब्रजदेवियाँ महालक्ष्मी की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ हैं। शिव, ब्रह्मा, लक्ष्मी एवं मेरा श्रीविग्रह—ये सब मुझे इतने प्रिय नहीं हैं, जितनी गोपियाँ प्रिय हैं॥७०॥

श्रीराधिका सर्वश्रेष्ठ हैं—

यथा राधाप्रिया विष्णोस्तस्याः कुण्डं प्रियं तथा।
सर्वगोपीषु सैवैका विष्णोरत्यन्तवल्लभा॥७१॥

(लघुभागवतामृत उ. ख. ४५ संख्याधृत पाद्मवाक्य)

श्रीमती राधिका जिस प्रकार श्रीकृष्णकी प्रियतमा हैं, उसी प्रकार राधाकुण्ड भी उनका प्रियतम है। समस्त गोपियोंमें राधा ही अत्यन्त प्रियतमा हैं॥७१॥

कर्मिभ्यः परितो हरेः प्रियतया व्यक्तिं ययुर्ज्ञानिन-
स्तेभ्यो ज्ञानविमुक्तभक्तिपरमाः प्रेमैकनिष्ठास्ततः।
तेभ्यस्ताः पशुपालपङ्कजदृशस्ताभ्योऽपि सा राधिका
प्रेष्ठा तद्वदियं तदीय सरसी तां नाश्रयेत् कः कृती॥७२॥

(उपदेशामृत)

सब प्रकारके सत्कर्मियों से भी त्रिगुणातीत ब्रह्मज्ञानी कृष्णके प्रिय हैं, ऐसे ज्ञानियोंसे शुद्धभक्त श्रीकृष्णके अधिक प्रिय हैं, उन शुद्ध भक्तोंसे भी प्रेमी भक्त श्रीकृष्णके और भी अधिक प्रिय हैं, प्रेमी भक्तोंमें ब्रजगोपिकाएँ श्रीकृष्णकी और भी अधिक प्रिय हैं, इन ब्रज गोपिकाओंमें भी वृषभानुनन्दिनी श्रीमती राधिकाजी कृष्णकी जिस प्रकार सर्वाधिक प्रियतमा हैं, उसी प्रकार श्रीराधाकुण्ड भी श्रीकृष्णका अतिशय प्यारा है। इसलिए सबसे सौभाग्यशाली श्रीकृष्णभक्त ही श्रीराधाकुण्डका आश्रय ग्रहण करते हैं॥७२॥

गौर भक्तोंका माहात्म्य—

आचार्य धर्मं परिचर्य विष्णुं विचर्य तीर्थान् विचार्य वेदान्।
विना न गौरप्रियपाद सेवां वेदादिदुष्प्राप्यपदं विदन्ति॥७३॥

(श्रीचैतन्यचन्द्रामृत २२ वां श्लोक)

वर्णाश्रम आदि धर्मका आचरण, विष्णुकी अर्चामूर्तिकी पूजा, तीर्थ भ्रमण एवं वेदार्थ-विचारोंमें सुनिपुण होनेपर भी श्रीगौरभक्तोंकी चरणसेवाके अतिरिक्त वेदादि द्वारा दुष्प्राप्य वृन्दावन आदि स्थान कोई भी प्राप्त नहीं कर सकता॥७३॥

कैवल्यं नरकायते त्रिदशपूराकाशपुष्पायते
दुर्दान्तेन्द्रियकालसर्पपटली प्रोत्खातदंष्ट्रायते।
विश्वं पूर्णसुखायते विधिमहेन्द्रादिश्च कीटायते
यत् कारुण्यकटाक्षवैभवतां तं गौरमेवस्तुम॥७४॥

(श्रीचैतन्यचन्द्रामृत ५ श्लोक)

जिन श्रीचैतन्यमहाप्रभुकी करुणाकटाक्षप्राप्त वैभव विशिष्ट भगवद्भक्तोंके निकट योगियोंका आराध्य परम पद कैवल्य मुक्ति नरकके समान प्रतीत होता है, कर्मी पुरुषोंके स्वधर्मनिष्ठाके फलस्वरूप प्राप्त होनेवाला स्वर्गसुख आकाश पुष्पके समान प्रतीत होता है, स्वेच्छाचारी अजितेन्द्रिय, विषयलोलुप व्यक्तियोंकी दुर्दम्य इन्द्रियाँ दन्तविहीन सर्पके समान प्रतीत होती हैं और ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवताओंके परम लोभनीय पद भी अति तुच्छ प्रतीत होते हैं, तथा सम्पूर्ण संसार कृष्णानन्दमय प्रतीत होता है, हम उन भगवान् श्रीगौरसुन्दरका स्तव करते हैं॥७४॥

यथा यथा गौर पदारविन्दे विन्देत भक्तिं कृतपुण्यराशिः।
तथा तथोत्सर्पति हृद्यकस्माद्राधापदाम्भोज-सुधाम्बुराशिः॥७५॥

(श्रीचैतन्यचन्द्रामृत ८८ वां श्लोक)

बहुत सुकृति सम्पन्न व्यक्ति जैसे-जैसे श्रीगौरसुन्दरके पादपद्मोंमें भक्ति प्राप्त करते हैं, वैसे ही अकस्मात् उनके हृदयमें श्रीमती राधिकाके पादपद्मोंकी प्रेमरूपी सुधा-समुद्र उद्गत होता है॥७५॥

गौराङ्गेर दु'टी पद, जा'र धन सम्पद,
से जाने भकति-रस-सार।
गौराङ्गेर मधुर लीला, जार कर्णे प्रवेशिला,
हृदय निर्मल भेल तार॥
जे गौराङ्गेर नाम लय, तार हय प्रेमोदय,
तारे मुइ जाइ बलिहारी।
गौराङ्ग-गुणेते झुरे नित्यलीला ता'र स्फुरे,
से जन भकति अधिकारी॥
गौरप्रेम-रसार्णवे, से तरङ्गे जेवा डूबे,
से राधामाधव-अन्तरङ्ग।
गृहे वा वनेते थाके, 'हा गौराङ्ग'—बले डाके,
नरोत्तम मागे ता'र सङ्ग॥७६॥

(श्रील नरोत्तम ठाकुर महाशयकी प्रार्थना)

श्रीचैतन्य महाप्रभुके श्रीचरणकमल ही जिसके लिए एकमात्र धन-सम्पत्ति- स्वरूप हैं, केवल वही व्यक्ति भक्तिरसके सारको जान सकता है अर्थात् अनुभव कर सकता है। श्रीचैतन्य महाप्रभुकी सुमधुर लीला-कथाएँ जिनके कर्णरन्ध्रों (कानों) के माध्यमसे हृदयमें प्रवेश करती हैं, उनका हृदय परम निर्मल हो जाता है। जो व्यक्ति श्रीचैतन्यमहाप्रभुजीके नामका आश्रय ग्रहण करता है, उसके हृदयमें कृष्णप्रेम उदित हो जाता है। ऐसे भक्तपर मैं बलिहारी जाता हूँ। श्रीमन्महाप्रभुजीकी लीला-कथाओं एवं उनके गुणोंका श्रवण-कीर्त्तन और स्मरणकर जिसका हृदय द्रवित हो जाता है, एकमात्र उसीके हृदयमें उनकी नित्य-लीलाएँ स्फुरित होती हैं, वही भक्तिका यथार्थ अधिकारी है। श्रीगौरहरिके प्रेमामृतरूपी सिन्धुमें उठनेवाली विशाल तरङ्गोंमें जो व्यक्ति डूब जाता है, केवलमात्र वही श्रीराधामाधवके प्रिय पार्षदत्वको प्राप्त करता है। ऐसा प्रेमी भक्त गृहस्थ हो अथवा त्यागी निरन्तर 'हा गौराङ्ग' 'हा गौराङ्ग' पुकारता रहता है। नरोत्तम दास ऐसे भक्तोंके सङ्ग प्राप्तिकी कामना करता है॥७६॥

अभक्त-निन्दा—

भक्तिहीन की जाति, विद्या, जप, तप सब वृथा है—

भगवद्भक्तिहीनस्य जातिः शास्त्रं जपस्तपः।
अप्राणस्यैव देहस्य मण्डनं लोकरञ्जनम्॥
शुचिः सद्भक्तिदीप्ताग्निदग्धदुर्जातिकल्मषः।
श्वपाकोऽपि-बुधैः श्लाघ्यो न वेदज्ञोऽपि नास्तिकः॥७७॥

(श्रीहरिभक्तिसुधोदय ३/११-१२)

सच्चरित्र, सद्भक्तिरूपी दीप्ताग्नि द्वारा जिनके दुर्जातिके पाप क्षय हो चुके हैं, इस प्रकारका चाण्डाल भी पण्डितोंके द्वारा सम्मानित है, किन्तु नास्तिक व्यक्ति वेदज्ञ होने पर भी सम्मानके योग्य नहीं है। भगवद्भक्तिहीन व्यक्तिकी सद्‌जाति, शास्त्रज्ञान, जप और तप मृतदेहके अलङ्कारके जैसे किसी कामके नहीं होते, वह तो केवल लोकरञ्जनमात्र है॥७७॥

शुद्ध गौरभक्त ही श्रेष्ठ हैं—
अभक्त कर्मी-ज्ञानी-योगी सबसे वञ्चित है—

क्रियासक्तान् धिग् धिग् विकटतपसो धिक् च यमिनः
धिगस्तुब्रह्माहं वदनपरिफुल्लान् जड़मतीन्।
किमेतान् शोचामो विषयरसमत्तान्नरपशू-
न्नकेषाञ्चिल्लेशोऽप्यहह मिलितो गौरमधुनः॥७८॥

(श्रीचैतन्यचन्द्रामृत, ३२ संख्या)

नित्य-नैमित्तिकादि कर्मोंमें सर्वदा आग्रहयुक्त जड़मति अर्थात् यथार्थ परमार्थके अनुसन्धानमें विवेकशून्य व्यक्तियोंको धिक्कार है, कठोर तपस्यारत व्यक्तियोंको धिक्कार है, शुष्क ब्रह्मचर्यादि अथवा यम नियमादि योग चेष्टामें दौड़ लगानेवालोंको धिक्कार है, 'मैं ब्रह्म हूँ,—ऐसा कहनेवाले मुक्ताभिमानी वृथा प्रसन्नचित्त व्यक्तियोंको धिक्कार है, ये सभी नर आकारमें पशु हैं, क्योंकि ये भगवत् सम्बन्धरहित विषय-भोगके मदमें चूर हैं। इन सब नरपशुओंके लिए और क्या शोक करूँ? हाय! इनमेंसे किसीने भी गौरपादपद्म-मकरन्दका कणमात्र भी प्राप्त नहीं किया॥७८॥

गौरभक्तिके बिना शास्त्रज्ञान मूर्खतापूर्ण है—

अचैतन्यमिदं विश्वं यदि चैतन्यमीश्वरम्।
न विदुः सर्वशास्त्रज्ञा ह्यपि भ्राम्यन्ति ते जनाः॥७९॥

(श्रीचैतन्यचन्द्रामृत, ३७ संख्या)

जो श्रीचैतन्य महाप्रभुको 'साक्षात् भगवान्' के रूपमें स्वीकार नहीं करते, वे सब शास्त्रोंके ज्ञाता होनेपर भी इस चैतन्य शून्य संसारमें अर्थात् हरिविमुखताके राज्यमें ही भ्रमण करते हैं॥७९॥

गौरप्रियजनोंकी कृपाके बिना बहिर्मुखता दूर होना असम्भव है—

तावद्ब्रह्मकथा विमुक्तिपदवी तावन्न तिक्तीभवे-
त्तावच्चापि विशृङ्खलत्वमयते नो लोकवेदस्थितिः।

तावच्छास्त्रविदां मिथः कलकलो नाना बहिर्वर्त्मसु
श्रीचैतन्य-पदाम्बुज-प्रियजनो यावन्न दृग्गोचरः॥८०॥

(श्रीचैतन्यचन्द्रामृत १९ संख्या)

जब तक श्रीचैतन्यपादपद्मोंके प्रिय भक्तजनोंका दर्शन नहीं होता, तभी तक निर्विशेषवादीका ब्रह्मविचार और मुक्तिमार्ग कड़वा नहीं लगता, तब तक ही लोक मर्यादा अथवा वेद मर्यादाकी विशृङ्खलता उपलब्धिका विषय नहीं होता और तब तक भीषण बहिर्मुख मार्गमें पतित शास्त्रज्ञ अभिमानियोंका परस्पर कलह अवश्यम्भावी है॥८०॥

परिशिष्ट

विष्णुभक्ति विहीना ये चाण्डालाः परिकीर्त्तिताः।
चाण्डाला अपि ते श्रेष्ठा हरिभक्ति परायणाः॥१॥

(भक्तिसन्दर्भ अ. १०० बृहन्नारदीयपुराण)

विष्णुभक्ति विहीन व्यक्ति चाण्डाल हैं। दूसरी ओर भगवद्भक्ति परायण चाण्डाल कुलोत्पन्न व्यक्ति भी उत्तम हैं॥१॥

श्वपचोऽपि महीपाल विष्णुभक्तो द्विजाधिकः।
विष्णुभक्ति विहीनो यो यतिश्च श्वपचाधिकः॥२॥

(भक्तिसन्दर्भ अ. १०० नारदपुराण)

हे राजन्! चाण्डाल भी विष्णुभक्त होनेपर भक्तिविहीन ब्राह्मणसे श्रेष्ठ है। यहाँ तक कि जो संन्यासी विष्णुभक्तिविहीन है, वह चाण्डालसे भी निकृष्ट है॥२॥

वैष्णव आराधनकी महिमा—

आराधनानां सर्वेषां विष्णुराराधनं परम्।
तस्मात् परतरं देवी तदीयानां समर्च्चनम्॥३॥

(भक्तिसन्दर्भ अ. २४४ पाद्मोत्तरखण्ड)

पार्वती देवीके पूछे जानेपर महादेवजी उत्तर दे रहे हैं—देवी! निखिल देवदेवियोंकी आराधनासे श्रीविष्णुकी आराधना श्रेष्ठ है और श्रीविष्णुकी आराधनासे भी श्रीविष्णुभक्तकी आराधना श्रेष्ठ है॥३॥

इति गौड़ीय-कण्ठहारमें 'वैष्णव-तत्त्व' वर्णन नामक तृतीय रत्न समाप्त।

U U U

चौथा रत्न

गौर-तत्त्व

महाप्रभुके सम्बन्धमें श्रुति प्रमाण—

महान् प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्त्तकः।
सुनिर्मलामिमां शान्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः॥१॥

(श्वेताश्वतर ३/१२)

वे महान पुरुष (श्रीचैतन्य महाप्रभु) ही प्रभु अर्थात् स्वामी हैं। वे ही बुद्धिवृत्तिके प्रवर्त्तक हैं। उनकी कृपासे ही सुनिर्मल शान्ति प्राप्त होती है। वे ज्योतिर्मय अर्थात् मूर्तिमान होनेपर भी अव्यय हैं, साधारण मूर्त पदार्थके समान उनका क्षय और उदय नहीं है॥१॥

श्रुतियोंके रुक्मवर्ण पुरुष ही पुरटसुन्दरद्युति श्रीगौरसुन्दर हैं—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥२॥

(मुण्डक ३/३)

जिस समय जीव ईश्वरका दर्शन करता है, उस समय वह विद्वान् पराविद्या लाभकर पुण्य और पापोंको छोड़कर प्रकृतिसे बने इस देह और प्रकृतिके सम्बन्धसे रहित होकर परम समताको प्राप्त होता है। उस परमात्माका वर्ण सुवर्णके समान मनोहर है, वे सर्वान्तर्यामी प्रभु जगत्के कर्त्ता एवं ब्रह्माजीके भी जनक हैं।

कृष्णवर्णं त्विषाऽकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम्।
यज्ञैः सङ्कीर्त्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः॥३॥

(श्रीमद्भागवत ११/५/३२)

जो 'कृष्ण' इन दोनों वर्णोंका कीर्त्तन करते हैं, जो कान्तिसे अकृष्ण हैं अर्थात् गौर हैं—वे ही अङ्ग, उपाङ्ग, अस्त्र और पार्षदोंसे परिवेष्टित महापुरुषकी विद्वान् पण्डितजन सङ्कीर्त्तन प्रधान यज्ञद्वारा आराधना करते हैं॥३॥

'कृष्ण'—एइ दुई वर्ण सदा जार मुखे।
अथवा कृष्णके तिहों वर्णे निज सुखे॥

देह कान्त्ये हय तिहों अकृष्ण वरण।
'अकृष्ण'—वरणे कहे, पीत वरण॥४॥

(चै. च. आ. ३/५३ व ५६)

जिनकी जिह्वापर 'कृष्ण' ये दो वर्ण सदैव उच्चरित होते रहते हैं अथवा जो सर्वदा कृष्णके नाम, रूप, गुण तथा लीलाओंका वर्णन करते रहते हैं, वे अकृष्ण वर्ण हैं। जिनकी अङ्गकान्ति 'अकृष्ण' अर्थात् पीत वर्ण है, वे 'त्विषा अकृष्ण' हैं। ये दोनों लक्षण श्रीचैतन्य महाप्रभु में लक्षित होते हैं।

आसन् वर्णास्त्रयोह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं तनुः।
शुक्लोरक्तस्तथापीत इदानीं कृष्णतां गतः॥५॥

(श्रीमद्भागवत १०/८/१३)

तुम्हारा यह पुत्र प्रत्येक युगमें श्रीविग्रह धारण करता है, सतयुगमें श्वेत, त्रेतामें रक्त, कलिमें पीतवर्ण और अब द्वापरमें श्यामवर्ण है। अतः इसका नाम कृष्ण होगा—ऐसा गर्गाचार्यजी कहते हैं। इस श्लोकमें पीत शब्द कलिपावनावतार श्रीगौराङ्ग महाप्रभुजी का ही बोधक है॥५॥

शुक्ल, रक्त, कृष्ण, पीत—क्रमे चारिवर्ण।
चारिवर्ण धरि 'कृष्ण' करेन युगधर्म॥६॥

(चै. च. म. २०/३३०)

चारों युगोंमें कृष्ण क्रमशः शुक्ल, रक्त, कृष्ण तथा पीत वर्ण धारणकर जगत्में अवतरित होते हैं॥६॥

इत्थं नृतिर्यगृषिदेव झषावतारै-
र्लोकान् विभावयसि हंसि जगत्प्रतीपान्।
धर्मं महापुरुष पासि युगानुवृत्तं
छन्नः कलौ यदभवस्त्रियुगोऽथ स त्वम्॥७॥

(श्रीमद्भागवत ७/९/३८)

प्रह्लादजी कहते हैं—हे पुरुषोत्तम! इस प्रकार आप मनुष्य, पशु, पक्षी, ऋषि, देवता और मत्स्यादि अवतार लेकर लोकोंका पालन तथा विश्व द्रोहियोंका संहार करते हैं। कलियुगमें आप छिपकर गुप्तरूपसे अवतार धारण करते हैं, इसीलिए आपका एक नाम 'त्रियुग' है। क्योंकि छन्नावतार किसी भी शास्त्रमें सहजरूपसे प्रकाशित नहीं हुआ है॥७॥

सुवर्णवर्णो हेमाङ्गो ज्वराङ्गश्चन्दनाङ्गदी।
संन्यासकृच्छमः शान्तो निष्ठा-शान्तिपरायणः॥८॥

(महाभारत दानधर्म १४९ अध्याय)

सुवर्ण वर्ण कृष्ण—इन दो वर्णोंका निरन्तर उच्चारण, तप्तकाञ्चन अङ्ग, समस्त अङ्गोंका सुन्दर गठन, चन्दनकी मालासे शोभायमान—ये चारों लक्षण उनकी गृहस्थ-लीलामें लक्षित हैं। संन्यास आश्रम, शम (मनका संयम) गुणविशिष्ट, हरिकीर्त्तनरूपी महायज्ञमें सुदृढ़निष्ठा, केवलाद्वैतवादीकी अभक्ति निवृत्तिकारिणी शान्तिलब्ध महाभाव परायण हैं॥८॥

पुराण-प्रमाण—

अहमेव क्वचिद् ब्रह्मन् संन्यासाश्रममाश्रितः।
हरिभक्तिं ग्राहयामि कलौ पापहतान्नरान्॥९॥

(चै. च. आ. ३/८२ धृत उपपुराणवचन)

हे ब्राह्मण! किसी विशेष कलियुगमें मैं संन्यास ग्रहणकर पापहत जीवोंको हरिभक्ति प्रदान करूँगा॥९॥

अहमेव द्विजश्रेष्ठ नित्यं प्रच्छन्न विग्रहः।
भगवद्भक्तरूपेण लोकान् रक्षामि सर्वदा॥१०॥

(आदिपुराण)

भगवान् कहते हैं कि मैं ही नित्य प्रच्छन्न विग्रह ब्राह्मण श्रेष्ठ होकर भगवद्भक्तरूपसे अपने भक्तजनोंकी सदा रक्षा करता हूँ। ये लक्षण श्रीगौराङ्गदेवमें ही सङ्घटित होते हैं॥१०॥

गोस्वामीपादोक्त प्रमाण—

अन्तःकृष्णं बहिर्गौरं दर्शिताङ्गादिवैभवम्।
कलौ सङ्कीर्त्तनाद्यैः स्मः कृष्णचैतन्यमाश्रिताः॥११॥

(तत्त्वसन्दर्भ २ श्लोक)

अङ्ग, उपाङ्ग आदि वैभवोंके साथ प्रकटित, भीतरमें साक्षात् कृष्ण, बाहरमें गौरस्वरूप कृष्णचैतन्यका कलियुगमें सङ्कीर्त्तन आदि यज्ञोंके द्वारा आश्रय करता हूँ॥११॥

अवतारीके देहमें सर्वावतारोंकी स्थिति—

शुतिया आछिनु क्षीर सागर-भितरे।
निद्राभङ्ग हइल मोर नाड़ार हुङ्कारे॥१२॥

(श्रीचैतन्यभागवत अन्त्य ३/२८)

श्रीचैतन्य महाप्रभुजी बोले—मैं तो क्षीर सागरमें सो रहा था, परन्तु इस नाड़ा (अद्वैताचार्य)के हुङ्कारसे मेरी निद्रा भङ्ग हो गई। [यहाँ जिनके हुङ्कारसे

श्रीमन्महाप्रभुका आसन अस्थिर हो गया अर्थात् डांवाडोल हो गया, उन श्रीअद्वैताचार्यको नाड़ा कहा गया है]॥१२॥

सेइ कृष्ण अवतारी ब्रजेन्द्रकुमार।
आपने चैतन्यरूपे कैल अवतार॥
अतएव चैतन्य गोसाञि परतत्त्व सीमा।
ताँरे क्षीरोदशायी कहि कि ताँर महिमा॥
सेइत' भक्तेर वाक्य नहे व्यभिचारी।
सकल सम्भवे ताँते जाँते अवतारी॥
अवतारीर देहे सब अवतारेर स्थिति।
केहो कोन मत कहे जेमन जा'र मति॥१३॥

(चै. च. आ. २/१०९-११२)

समस्त अवतारोंके अवतारी ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही स्वयं श्रीचैतन्य महाप्रभुके रूपमें अवतरित हुए, इसलिए श्रीचैतन्य महाप्रभु परतत्त्वकी सीमा हैं। परन्तु ऐसे सर्वावतारी परतत्त्वकी सीमा श्रीकृष्णको क्षीरोदशायी कहनेका तात्पर्य क्या है? भक्तोंके वाक्य कभी मिथ्या नहीं होते। क्योंकि, अवतारीके शरीरमें सभी अवतार विद्यमान रहते हैं। इसलिए जिस भक्तका जो अवतार उपास्य है, वह श्रीकृष्णमें अपने उसी उपास्यका दर्शन करता है। इसलिए यहाँ श्रीकृष्णको क्षीरोदशायीके रूपमें दर्शन करना अनुचित नहीं है॥१३॥

अधोक्षज तत्त्व अक्षजवादियोंके लिए अगम्य—

भागवत भारतशास्त्र आगम पुराण।
चैतन्य कृष्ण-अवतार प्रकट प्रमाण॥
प्रत्यक्षे देखह नाना प्रकट प्रभाव।
अलौकिक कर्म, अलौकिक अनुभाव॥
देखिया ना देखे जत अभक्तेर गण।
उलूके ना देखे जेन सूर्येर किरण॥१४॥

(चै. च. आदि ३/८३-८५)

श्रीचैतन्य महाप्रभु स्वयं कृष्ण ही हैं। श्रीमद्भागवत, महाभारत, आगम, पुराण आदि शास्त्रोंमें इसके स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। परन्तु अभक्त लोग श्रीमन्महाप्रभुके अलौकिक भावों एवं अलौकिक लीलाओंको देखकर भी नहीं देख पाते, जैसे—उल्लू सूर्यके प्रकाशको नहीं देख पाता॥१४॥

श्रीकृष्ण चैतन्य तत्त्व—

सकल वैष्णव शुन करि' एकमन।
चैतन्य कृष्णेर शास्त्र जेमत निरूपण॥
कृष्ण, गुरुद्वय, भक्त, अवतार, प्रकाश।
शक्ति एइ छयरूपे करेन विलास॥१५॥

(चै. च. आ. १/३१-३२)

हे समस्त वैष्णवगण! शास्त्रोंमें जिस प्रकारसे श्रीकृष्ण चैतन्यका तत्त्व निरूपित किया गया है, उसे एकाग्रचित्त होकर श्रवण करें। वे कृष्ण, दीक्षा एवं शिक्षा गुरु, भक्त, अवतार, प्रकाश तथा शक्ति—इन छह रूपोंमें नित्य विलास करते हैं॥१५॥

श्रीगौरसुन्दर ही परमतत्त्व हैं—

यदद्वैतं ब्रह्मोपनिषदि तदप्यस्य तनुभा
य आत्मान्तर्यामी पुरुष इति सोऽस्यांश-विभवः।
षडैश्वर्यः पूर्णो य इह भगवान् स स्वयमयं
न चैतन्यात् कृष्णाज्जगति परतत्त्वं परमिह॥१६॥

(चै. च. आ. १/३)

उपनिषद जिसको अद्वैतब्रह्म कहते हैं, वे मेरे प्रभुकी अङ्गकान्ति हैं। जिनको योग शास्त्रमें अन्तर्यामी पुरुष अथवा परमात्मा कहते हैं, वे मेरे प्रभुके अंशस्वरूप हैं। जिनको ब्रह्म और परमात्माका आश्रय और अंशी स्वरूप षडैश्वर्यपूर्ण भगवान् कहते हैं, मेरे प्रभु वही स्वयं भगवान् हैं। अतएव श्रीकृष्णचैतन्यसे बढ़कर जगत्में और कोई परतत्त्व नहीं है॥१६॥

महाप्रभु ही जगद्‌गुरु हैं—

चौद्दभुवनेर गुरु चैतन्य गोसाञि।
ताँर गुरु अन्य एइ कौन शास्त्रे नाइ॥१७॥

(चै. च. आ. १२/१६)

श्रीचैतन्य महाप्रभु स्वयं चौदह भुवनोंके गुरु हैं, उनके भी कोई गुरु हैं—ऐसा किसी भी शास्त्रमें उल्लेख नहीं है॥१७॥

महाप्रभुका श्रेष्ठत्त्व—

सौन्दर्ये कामकोटिः सकलजनसमाह्लादने चन्द्रकोटि-
र्वात्सल्ये मातृकोटिस्त्रिदशविटपिनां कोटिरौदार्यसारे।

गाम्भीर्येऽम्भोधिकोटिर्मधुरिमणि सुधाक्षीरमाध्वीककोटि-
गौरोदेवः स जीयात् प्रणयरसपदे दर्शिताश्चर्यकोटिः॥१८॥

(श्रीचैतन्यचन्द्रामृत १०१)

जिनका सौन्दर्य कोटि कामदेवके समान है, जो कोटि चन्द्रमाके समान सभीको आनन्द प्रदान करनेवाले हैं, स्नेहमें जो कोटि माताओंके समान हैं, जो कोटिसमुद्रोंके समान गम्भीर स्वभाववाले हैं—वे ही अमृतके समान मधुर और कोटि-कोटि अद्भुत प्रणय-रसके प्रदर्शक श्रीगौरसुन्दर जययुक्त हों॥१८॥

एक श्लोकमें महाप्रभुका नाम, रूप, गुण और लीला—

नमो महावदान्याय कृष्णप्रेम प्रदाय ते।
कृष्णाय कृष्ण चैतन्यनाम्ने गौरत्विषे नमः॥१९॥

(श्रीरूपगोस्वामीवाक्य)

महावदान्य, कृष्णप्रेम प्रदाता, कृष्णस्वरूप, कृष्णचैतन्यनामा, गौराङ्गरूपधारी प्रभुको नमस्कार है (इस श्लोकमें संक्षेपमें श्रीमन्महाप्रभुका नाम, रूप, गुण और लीला वर्णित हुई है अर्थात् उनका नाम—कृष्णचैतन्य, उनका रूप—गौरवर्ण, उनका गुण—महावदान्यता एवं उनकी लीला—कृष्णप्रेम-प्रदान है)॥१९॥

सङ्कीर्त्तन प्रवर्त्तक—

सङ्कीर्त्तन-प्रवर्त्तक श्रीकृष्णचैतन्य।
सङ्कीर्त्तन-यज्ञे ताँ'रे भजे सेइ धन्य॥
सेइ त' सुमेधा आर कुबुद्धि संसार।
सर्व यज्ञ हइते कृष्णनाम-यज्ञ सार॥२०॥

(चै च. आ. ३/७६-७७)

श्रीचैतन्य महाप्रभु सङ्कीर्त्तनके प्रवर्त्तक हैं। जो लोग सङ्कीर्त्तन यज्ञके द्वारा उनकी आराधना करते हैं, वे धन्य हैं। वास्तवमें वे ही बुद्धिमान हैं। इसके विपरीत सभी दुर्बुद्धि परायण हैं। समस्त प्रकारके यज्ञोंसे कृष्णनाम सङ्कीर्त्तनयज्ञ श्रेष्ठ है। ऐसे यज्ञ करनेवाले भक्त भी सर्वश्रेष्ठ हैं॥२०॥

प्रेमप्रदाता—

उछलिल प्रेमवन्या चौदिके बेड़ाय।
स्त्री-वृद्ध-बालक-युवा सकलि डुबाय॥
सज्जन, दुर्जन, पङ्गु, जड़, अन्धगण।
प्रेमवन्याय डुबाइल जगतेर जन॥२१॥

(चै. च. आ. ७/२५-२६)

श्रीचैतन्य महाप्रभुने हरि-सङ्कीर्त्तनके माध्यमसे भूलोकमें सर्वत्र ही प्रेमकी बाढ़ ला दी। उस महाबाढ़ने स्त्री, बालक, वृद्ध, युवा सभीको अपनी चपेटमें ले लिया। सज्जन-दुर्जन, लूले-लङ्गड़े तथा अन्धे सभी लोग उस प्रेमकी महाबाढ़में डूब गये अर्थात् श्रीमन्महाप्रभु द्वारा प्रवर्त्तित नाम सङ्कीर्त्तनके द्वारा कृष्ण-प्रेममें प्रमत्त हो गये॥२१॥

पात्रापात्र विचार नाहि, नाहि स्थानास्थान।
जेइ जाँहा पाय, ताँहा करे प्रेम दान॥
लूटिया खाइया दिया भाण्डार उजाड़े।
आश्चर्य भाण्डार प्रेम शतगुण बाड़े॥२२॥

(चै. च. आ. ७/२३-२४)

पात्र और अपात्रका कोई विचार नहीं, स्थान-अस्थानका भी कोई विचार नहीं, जो जिसे जहाँ कहीं भी पा रहा है, उसे ही कृष्ण-प्रेम दानकर रहा है। सभीने प्रेम-भण्डारको उजाड़कर दिया। फिर भी आश्चर्यका विषय यह है कि वह प्रेमका भण्डार पूर्वकी अपेक्षा सौ गुणा बढ़ गया॥२२॥

वञ्चित कौन है?

मायावादी कर्मनिष्ठ कुतार्किकगण।
निन्दक पाषण्डी जत पडुया अधम॥
सेइ सब महादक्ष धाइया पलाइल।
सेइ वन्या ता'सबारे छुइते नारिल॥२३॥

(चै. च. आ. ७/२९-३०)

मायावादी, कर्मनिष्ठ, कुतार्किक, निन्दक, पाखण्डी, नवद्वीपके नास्तिक विद्यार्थी अपनेको दक्ष समझकर उस प्रेम-बाढ़के डरसे इधर-उधर भाग गये। इसलिए बाढ़का पानी उन सबको स्पर्श नहीं कर सका। ये हरिविमुख दुर्भागे लोग कृष्णनाम सङ्कीर्त्तनसे वञ्चित रह गये॥२३॥

चैतन्यकृपापात्र पुरुष ही शुद्धसिद्धान्त जानने में समर्थ हैं—

श्रीचैतन्यप्रभुं वन्दे बालोऽपि यदनुग्रहात्।
तरेन्नानामत-ग्राहव्याप्तं सिद्धान्तसागरम्॥२४॥

(चै. च. आ. २/१)

जिनकी कृपासे अज्ञ व्यक्ति भी नाना मतवादरूपी मगरमच्छोंसे परिपूर्ण सिद्धान्त समुद्रको अनायास ही पार कर जाते हैं, मैं उन श्रीमहाप्रभुकी वन्दना करता हूँ॥२४॥

हृदये धरये जे चैतन्य नित्यानन्द।
ए सब सिद्धान्त सेइ पाइबे आनन्द॥
ए सब सिद्धान्ते हय आम्रेर पल्लव।
भक्तगण कोकिलेर सर्वदा वल्लभ॥
अभक्त उष्ट्रेर इथे ना हय प्रवेश।
तबे चित्ते हय मोर आनन्द विशेष॥२५॥

(चै. च. आ. ४/२३३-२३५)

राधाभाव अङ्गकान्तिसे दैदीप्यमान शचीनन्दन श्रीगौरहरि इस जगतमें सुदुर्लभ गोपी-प्रेम प्रदान करनेके लिए अवतीर्ण हुए थे। श्रीनित्यानन्द, गदाधर आदि उनके नित्य परिकर थे। श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी चैतन्य चरितामृतमें इन परम गोपनीय भक्तिरसके सिद्धान्तोंको लिखनेमें कुछ सङ्कोच कर रहे थे, किन्तु गम्भीररूपसे विचार करनेपर वे बड़े प्रफुल्लित हुए और उन्होंने उसको प्रकाशित करना ही श्रेयस्कर समझा। वे कह रहे हैं कि जो लोग हृदयमें श्रीचैतन्य महाप्रभु और श्रीनित्यानन्द प्रभुको धारण करते हैं, वे रसिक भक्तजन इन सिद्धान्तोंको जानकर अत्यन्त आनन्दित होंगे। वास्तवमें ये रस सिद्धान्त आम्र-पल्लवके समान हैं, जो भक्तरूप कोकिलके लिए प्राणस्वरूप हैं तथा अभक्तरूप ऊँटका इस भक्तिरसमें तनिक भी प्रवेश सम्भव नहीं है। वह केवल बबूल वृक्षके काँटोंमें ही तृप्त रहता है। अतः अभक्त लोग इन रस सिद्धान्तोंसे दूर रहेंगे, इससे बढ़कर आनन्दकी बात क्या हो सकती है? तात्पर्य यह है कि जिनके भयसे इन रस सिद्धान्तोंको लिखना नहीं चाहता था, वे स्वयं ही इसे अनावश्यक समझकर इससे दूर रहेंगे। इसलिए लिखना ही उचित है॥२५॥

महाप्रभुकी प्रचार लीला—

संन्यासी पण्डितगणेर करिते गर्वनाश।
नीचशूद्र द्वारा करे धर्मेर प्रकाश॥
भक्तितत्त्व प्रेम कहे राये करि वक्ता।
आपनि प्रद्युम्नमिश्र सह हय श्रोता॥
हरिदासद्वारा नाम-माहात्म्य-प्रकाश।
सनातनद्वारा भक्तिसिद्धान्त विलास॥
श्रीरूपद्वारा ब्रजेर रसप्रेमलीला।
के कहिते पारे गम्भीर चैतन्येर खेला॥२६॥

(चै. च. अ. ५-८४-८७)

भक्ति विमुख संन्यासी तथा पण्डितोंका अहङ्कार दूर करनेके लिए नीच समझे जानेवाले शूद्र कुलमें उत्पन्न भक्तोंके द्वारा धर्मका प्रचार कराया। श्रीरायरामानन्दको

वक्ता बनाकर और स्वयं श्रोता बनकर प्रेम-भक्तिका प्रकाश किया। पुनः श्रीरायरामानन्दको वक्ता और प्रद्युम्नमिश्रको श्रोता बनाकर कृष्ण-प्रेमके निगूढ़ तत्त्वोंको प्रकाशित कराया। श्रीहरिदास ठाकुरके द्वारा नाम माहात्म्य तथा श्रीसनातन गोस्वामीके द्वारा भक्ति सिद्धान्तके विविध प्रकारके निगूढ़ रहस्यों और श्रीरूप गोस्वामीके द्वारा ब्रजकी रसमयी लीलाओंका प्रकाश करवाया। ऐसे परम गम्भीर श्रीचैतन्य महाप्रभुकी लीलाओंका वर्णन कौन कर सकता है?॥२६॥

ब्रजे जे विहरे पूर्वे कृष्ण बलराम।
कोटि सूर्यचन्द्र जिनि दोंहार निज धाम॥
सेइ दुइ जगतेरे हइया सदय।
गौड़देशे पूर्वशैले करिल उदय॥
श्रीकृष्णचैतन्य आर प्रभु नित्यानन्द।
जाँहार प्रकाशे सर्व जगत आनन्द॥
सूर्यचन्द्र हरे जैछे सब अन्धकार।
वस्तु प्रकाशिया करे धर्मेर प्रचार॥
एइ मत दुइ भाई जीवेर अज्ञान।
तमोनाश करि' करे वस्तु-तत्त्व ज्ञान॥
सूर्यचन्द्र बाहिरेर तमो से विनाशे।
बहिर्वस्तु घटपट आदि से प्रकाशे॥
दुइ भाई हृदयेर क्षालि-अन्धकार।
दुइ भागवत सङ्गे करान् साक्षात्कार॥२७॥

(चै. च. आ १/८५-९९)

श्रीधाम वृन्दावनमें पहले जिन ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण और रोहिणीनन्दन बलदेवने विहार किया था, जिनके श्रीअङ्ग और धामकी कान्ति करोड़ों सूर्योंके प्रकाशको भी पराभूत करती है, वे दोनों जगत् जीवोंके प्रति कृपापरवश होकर गौड़देशके पूर्व सैल (नवद्वीप, मायापुर धाम) में श्रीकृष्णचैतन्य और नित्यानन्द प्रभुके रूपमें उदित हुए हैं। उनके प्रकाशसे सारा जगत् प्रकाशित और आनन्दित हो रहा है। जिस प्रकार सूर्य और चन्द्र अन्धकारको दूरकर वस्तुको प्रकाशित करते हैं तथा धर्मका प्रचार करते हैं, उसी प्रकार ये दोनों भाई जीवोंके अज्ञानरूप अन्धकारको दूरकर भगवत् तत्त्वज्ञानको प्रकाशित करते हैं। सूर्य और चन्द्र बाह्य अन्धकारको दूरकर बाह्य घट-पट आदि पदार्थोंको प्रकाशित करते हैं। किन्तु, ये दोनों भाई हृदयके अन्धकारको दूरकर भक्त-भागवत एवं ग्रन्थ-भागवत दोनोंका साक्षात्कार करा देते हैं॥२७॥

महाप्रभुकी आचार और प्रचार लीला—

हरे कृष्णेत्युच्चैः स्फुरितरसनो नामगणना-
कृतग्रन्थिश्रेणी-सुभग-कटिसूत्रोज्ज्वल-करः।
विशालाक्षो दीर्घार्गलयुगल-खेलाञ्चित-भुजः
स चैतन्यः किं मे पुनरपि दृशोर्यास्यतिपदम्॥२८॥

(स्तवमाला श्रीचैतन्यदेवका प्रथमाष्टक ५ म श्लोक)

बत्तीस अक्षरात्मक 'हरे कृष्ण' नाम उच्चस्वरसे कीर्त्तन करते हुए जिनकी जिह्वा नृत्य करती रहती है, उच्चारित नाम संख्याकी गणना करनेके लिए बाएँ हाथकी अङ्गुलियाँ सुशोभित हो रही हैं, जिनके विशाल नेत्र और आजानुलम्बित भुजाएँ हैं—वे चैतन्यदेव क्या कभी मेरे नयनपथके पथिक होंगे?॥२८॥

गौरावतारके मुख्य और आनुषङ्गिक प्रयोजन—

एइमत चैतन्यकृष्ण पूर्ण भगवान्।
युगधर्म-प्रवर्त्तन नहे ताँर काम॥
कौन कारणे जबे हइल अवतारे मन।
युगधर्म काल हैल से काले मिलन॥
दुइ हेतु अवतरि' लञा भक्तगण।
आपने आस्वादे प्रेम-नामसङ्कीर्त्तन॥
सेइ द्वारे आचण्डाले कीर्त्तन-सञ्चारे।
नाम-प्रेममाला गाँथि पराइल संसारे॥
एइमत भक्तभाव करि अङ्गीकार।
आपनि आचरि भक्ति करिल प्रचार॥२९॥

(चै. च. आ. ४/३७-४१)

इस प्रकार श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु स्वयं भगवान् हैं। युगधर्मका प्रवर्त्तन करना उनका कार्य नहीं है। किसी विशेष कारणसे अवतार ग्रहण करनेकी जिस समय लालसा हुई, संयोगवश उसी समय युगधर्म प्रवर्त्तनकाल भी उपस्थित हुआ। इन दोनों कारणोंसे अपने परिकरोंको साथ लेकर इस जगतमें अवतीर्ण हुए। उन्होंने स्वयं मुख्यरूपसे प्रेम-नामसङ्कीर्त्तनका आस्वादन किया तथा गौण रूपमें उसीके द्वारा ब्राह्मणसे लेकर चाण्डाल तक सभी लोगोंमें कीर्त्तनके माध्यमसे प्रेमसूत्रमें नामकी माला गूँथकर उनके गलेमें पहनाकर पापी-तापी सब जीवोंका उद्धार किया। इस प्रकारसे भक्तभाव अङ्गीकार कर स्वयं आचरणकर भक्तिका प्रचार किया॥२९॥

चैतन्य सिंह—

चैतन्यसिंहेर नवद्वीपे अवतार।
सिंहग्रीव सिंहवीर्य सिंहेर हुङ्कार॥
सेइ सिंह बसूक् जीवेर हृदय-कन्दरे।
कल्मष-द्विरद नाश जाँहार हुङ्कारे॥३०॥

(चै. च. आ. ३/३०-३१)

श्रीचैतन्य महाप्रभुरूप सिंहका नवद्वीपरूप सिंह (श्रेष्ठ) धाममें अवतार हुआ। उन सिंहग्रीव चैतन्यसिंहने सिंहवीर्यसे ऐसा सिंहगर्जन किया कि जीवोंके अन्धकारपूर्ण हृदय कन्दराओंका पापरूपी हाथी दूर भाग गया। वे सिंह अब मेरे हृदयमें विराजमान हों॥३०॥

अवतारका बाह्य कारण—

अनर्पितचरीं चिरात् करुणयावतीर्णः कलौ
समर्पयितुमुन्नतोज्ज्वल-रसां स्वभक्तिश्रियम्।
हरिः पुरटसुन्दरद्युतिकदम्बसन्दीपितः
सदा हृदय-कन्दरे स्फुरतु वः शचीनन्दनः॥३१॥

(विदग्धमाधव १ अङ्क २ श्लोक)

सुवर्ण कान्तिसमूह द्वारा दैदीप्यमान श्रीशचीनन्दन गौरहरि तुम्हारे हृदयमें स्फूर्ति लाभ करें। जिस सर्वोत्कृष्ट उज्ज्वलरसका दान जगतको चिरकाल तक नहीं दिया, उसी स्वभक्ति-सम्पत्तिका दान करनेके लिए वे कलियुगमें अवतीर्ण हुए हैं॥३१॥

गौरावतारका मूल प्रयोजन, गुह्य कारण—

श्रीराधायाः प्रणय-महिमा कीदृशो वानयैवा-
स्वाद्यो येनाद्भुत-मधुरिमा कीदृशो वा मदीयः।
सौख्यञ्चास्या मदनुभवतः कीदृशं वेति लोभात्-
तद्भावाढ्यः समजनि शचीगर्भसिन्धौ हरीन्दुः॥३२॥

(चै. च. आ. १/६ धृत स्वरूपगोस्वामी वाक्य)

श्रीमती राधिकाजीके अलौकिक प्रेमकी महिमा कैसी है? वह मेरी अद्भुत मधुरिमा कैसी है, जिसका श्रीमती राधिकाजी आस्वादन करती हैं? मेरी मधुरिमाकी अनुभूतिसे श्रीमती राधिकाको कौनसा अनिर्वचनीय सुख मिलता है? इन तीन लालसाओंकी पूर्तिकी अभिलाषासे राधाभाव लेकर श्रीकृष्णचन्द्र श्रीशचीगर्भ-समुद्रसे श्रीगौराङ्गदेवके रूपमें आविर्भूत हुए॥३२॥

मुख्यरूपसे राधाभावमें तीन अभिलाषाओंकी पूर्ति,
गौणरूपसे नाम-प्रेम प्रचार—

सेइ राधा भाव लञा चैतन्य-अवतार।
युगधर्म नाम-प्रेम कैल परचार॥३३॥

(चै. च. आ. ४/२२०)

उपर्युक्त राधा-भाव-कान्तिको लेकर श्रीचैतन्य महाप्रभु भूलोकमें अवतरित हुए। उन्होंने आनुसङ्गिकरूपमें नाम-प्रेमरूप युगधर्मका भी प्रचार किया॥३३॥

गौरलीला नित्य है—

अद्यापिह चैतन्य ए सब लीला करे।
जा'र भाग्ये थाके, से देखये निरन्तरे॥३४॥

(चै. भा. म. २३/५१३)

श्रीचैतन्य महाप्रभु आज भी उन लीलाओंको कर रहे हैं, किन्तु कोई-कोई सौभाग्यवान् जीव ही उन लीलाओंको देख पाते हैं॥३४॥

असुर-प्रकृतिके व्यक्ति ही चैतन्यदेवके विद्वेषी हैं—

पूर्वे जेन जरासन्ध आदि राजगण।
वेदधर्म करि करे विष्णुर पूजन॥
कृष्ण नाहि माने ता'ते दैत्य करि' मानि।
चैतन्य ना मानिले तैछे दैत्य ता'रे जानि॥
हेन कृपामय चैतन्य ना भजे जेइ जन।
सर्वोत्तम हइलेओ ता'रे असुरे गणन॥३५॥

(चै. च. आ. ८/८, ९, १२)

जिस प्रकार पूर्वकालमें जरासन्ध आदि राजा वेदमें वर्णित धर्मके अनुसार विष्णुका पूजन करते थे, किन्तु उस समयमें अवतरित स्वयं भगवान् श्रीकृष्णको नहीं मानते थे। इसलिए उन्हें दैत्य कहा गया है। वैसे ही साधारणरूपमें धर्मका अनुसरण करनेपर भी श्रीचैतन्य महाप्रभुकी अवज्ञा करनेवाले अथवा उनकी भगवत्ताको अस्वीकार करनेवालोंको दैत्य-दानव समझना चाहिए। जो ऐसे करुणा-वरुणालय श्रीचैतन्यमहाप्रभुका भजन नहीं करते वे सर्वोत्तम होने पर भी असुर श्रेणीमें आते हैं॥३५॥

गौराङ्ग नागर नहीं हैं—

एइमत चापल्य करेन सबा, सने।
सबे स्त्री मात्र ना देखेन दृष्टि-कोणे॥
'स्त्री' हेन नाम प्रभु एइ अवतारे।
श्रवणो ना करिला—विदित संसारे॥
अतएव जत महामहिम सकले।
"गौराङ्ग नागर" हेन स्तव नाहि बले॥३६॥

(चै. भा. आ. १५/२८-३०)

इस प्रकारसे गौरसुन्दर सबके प्रति चपलता प्रकाश करते थे। परन्तु, स्त्रियोंके प्रति कभी भी वे दृष्टि निक्षेप नहीं करते थे। इस अवतारमें महाप्रभुजी स्त्री नाम सुनने मात्रसे ही संकुचित होते थे, यह सारे संसारमें विदित है। इसीलिए महाभागवतोंने 'गौराङ्ग नागर'के रूपमें उनकी कहीं भी स्तव-स्तुति नहीं की है॥

यद्यपि सकल स्तव सम्भवे ताहाने।
तथापिह स्वभाव से गाय बुधजने॥३६॥

(चै. भा. आ. १५/३१)

यद्यपि उनके प्रति सभी प्रकारके स्तव (प्रार्थना) सम्भव हैं, तथापि उनका स्वभाव ही ऐसा है कि वे इस अवतारमें नागर सम्बन्धी कोई भी स्तव-स्तुति श्रवण करना पसन्द नहीं करते हैं। सिद्धान्तविद्, रस-मर्मज्ञ विद्वज्जनोंका ऐसा ही मत है॥३६॥

चैतन्यनित्यानन्दकी कृपाका विशेषत्व—

चैतन्य-नित्यानन्दे नाहि ए' सब विचार।
नाम लइते प्रेम देन बहे अश्रुधार॥
स्वतन्त्र ईश्वर प्रभु, अत्यन्त उदार।
ताँरे ना भजिले कभु ना हय निस्तार॥३७॥

(चै. च. आ. ८/३१-३२)

श्रीकृष्णनाम और श्रीकृष्णधाममें अपराधका विचार है, किन्तु श्रीगौर-नित्यानन्दके नाम एवं धाममें अपराधका विचार नहीं है। इनका नाम लेते ही हृदयमें प्रेमका प्रादुर्भाव हो जाता है तथा नेत्रोंसे अश्रुधारा अविरलरूपमें प्रवाहित होने लगती है। ऐसा इसलिए होता है कि ये प्रभु स्वतन्त्र ईश्वर हैं तथा परम उदार हैं। जो इनका भजन नहीं करते उनका उद्धार कभी सम्भव नहीं है॥३७॥

वञ्चित जीवका दुर्भाग्य—

चैतन्यावतारे बहे प्रेमामृत वन्या।
सब जीव प्रेमे भासे, पृथ्वी हइल धन्या॥
ए-वन्याय जे ना भासे, सेइ जीव-छार।
कोटि कल्पे तबे ता'र नाहिक निस्तार॥३८॥

(चै. च. अ. ३/२५२-२५३)

श्रीचैतन्य अवतारमें प्रेमामृतकी बाढ़ सम्पूर्ण पृथ्वीको प्लावित कर देती है। सारे जीव उस प्रेम-बाढ़में डूबने लगते हैं। इस प्रकार भूमण्डल धन्य हो जाता है। इस उमड़ती हुई बाढ़में जो जीव डूबा नहीं, उसका जीवन व्यर्थ है। करोड़ों करोड़ों कल्पोंमें भी उसका उद्धार होना असम्भव है॥३८॥

अवतार-सार, गोरा- अवतार,
केन ना भजिलि ता'रे।
करि' नीरे वास, गेल ना पियास,
आपन करम फेरे॥
कण्टकेर तरु, सदाइ सेविलि,
अमृत पाइबार आशे।
प्रेम-कल्पतरु, (श्री)गौराङ्ग आमार,
ताँहारे भाविलि विषे॥
सौरभेर आशे, पलाश शुँकिलि,
नासाते पशिल कीट।
इक्षुदण्ड भावि' काठ चुषिलि,
केमने पाइबि मिठ॥
हार बलिया, गलाय परिलि,
शमन-किङ्कर-साप।
शीतल बलिया, आगुन पोहालि,
पाइलि बजर-ताप॥
संसार भजिलि, (श्री)गौराङ्ग भूलिलि,
ना शुनिलि साधुर कथा।
इह-परकाल, दु'काल खोयालि,
खाइलि आपन माथा॥३९॥

(महाजन-गीति)

श्रीगौरसुन्दरका अवतार सभी अवतारोंका सार है। उनका भजन क्यों नहीं किया? अरे! जलमें निवास करनेपर भी यदि प्यास नहीं बुझी तो यह अपने ही कुकर्मोंका दोष है। इससे अधिक और क्या दुर्भाग्य हो सकता है? अमृत पानेकी लालसासे तुमने काँटोंसे भरे हुए वृक्षकी निरन्तर सेवा की। किन्तु प्रेम-कल्पवृक्षस्वरूप श्रीगौराङ्ग महाप्रभुको विष समझकर उनका परित्याग दिया। अतः प्रेमामृत पानेकी आशा कैसे पूर्ण हो सकती है? सुन्दर सुगन्ध पानेकी आशासे तुमने कीटाणुओंसे भरा हुआ पलास पुष्पको सूँघा उससे सुगन्ध मिलना तो दूर नाकमें विषैले कीड़े और घुस गये। पुनः तुमने सूखे हुए नीरस काठको गन्ना समझकर चूसा, उसमें मीठा रस कहाँसे मिल सकता है, तुमने कालस्वरूप नागको ही हार मानकर गलेमें धारण किया, फिर तो मृत्यु निश्चित ही है। तुमने दहकती हुई आगको परम सुशीतल वस्तु मानकर उसका सेवन किया, किन्तु उसके भीषण तापसे सारे अङ्ग जल गये। तुमने साधुओंकी बात न सुनकर संसारका भजन किया और श्रीगौरसुन्दरका विस्मरण कर इस प्रकार तुमने इहलोक, परलोक, दोनोंको ही नष्ट कर दिया और अपना सर्वस्व खो दिया। अब अपना सिर फोड़कर पछतानेसे क्या होगा?॥३९॥

नाम और अर्चारूपमें महाप्रभुके और दो अवतार हैं—

आरो दुइ जन्म एइ सङ्कीर्त्तनारम्भे।
हइब तोमार पुत्र आमि अविलम्बे॥
'मोर अर्च्चा-मूर्त्ति' माता तुमि से धरणी।
'जिह्वारूपा' तुमि माता नामेर जननी॥
एइ दुइ जन्म मोर सङ्कीर्त्तनारम्भे।
दुइ ठाञि तोर पुत्र रहूँ अविलम्बे॥४०॥

(चै. भा. म. २७/४७-४८)

इस सङ्कीर्त्तनके प्रारम्भमें शीघ्र ही मेरे दो जन्म होंगे। तुम मैया होओगी और मैं तुम्हारा पुत्र होऊँगा, मैं अर्च्चा मूर्त्ति (श्रीविग्रह) और तुम धरणीके रूपमें मेरी माता होओगी। मैं श्रीहरिनामके रूपमें पुत्र और तुम जिह्वाके रूपमें मेरी मैया होओगी। सङ्कीर्त्तनके प्रारम्भमें ये मेरे दो जन्म होंगे। दोनों स्थानोंमें मैं तुम्हारा पुत्र रहूँगा॥४०॥

श्रीचैतन्य महाप्रभुका क्या मत है?—

आराध्यो भगवान् ब्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं
रम्या काचिदुपासना ब्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।

श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्
श्रीचैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः ॥४१॥

(श्रील चक्रवर्ती ठाकुर)

भगवान् ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण एवं वैसा ही वैभवयुक्त श्रीधाम वृन्दावन भी आराध्य वस्तु है। ब्रज वधुओंने जिस भावसे कृष्णकी उपासना की थी, वह उपासना ही सर्वोत्कृष्ट है। श्रीमद्भागवत ग्रन्थ ही निर्मल शब्द प्रमाण एवं प्रेम ही परम पुरुषार्थ है—यही श्रीचैतन्य महाप्रभुका मत है। यह सिद्धान्त ही हम लोगोंके लिए परम आदरणीय है, अन्य मत आदर योग्य नहीं है॥४१॥

परिशिष्ट

राधाकृष्ण प्रणय विकृतिर्ह्लादिनी शक्तिरस्मा-
देकात्मानावपि भुवि पुरा देह भेदं गतौ तौ।
चैतन्याख्यं प्रकटमधुना तद्द्वयं चैक्यमाप्तं
राधाभावद्युतिसुवलितं नौमि कृष्णस्वरूपम्॥१॥

(चै. च. आ. १/५)

श्रीमती राधिका कृष्णप्रेमकी विकारस्वरूपा हैं (अर्थात् कृष्णप्रेमकी घनीभूत अवस्था महाभावकी मूर्त्ति हैं) कृष्णकी प्रेमविलासरूपा ह्लादिनी शक्ति हैं। श्रीराधा एवं कृष्ण एकात्मा होते हुए भी विलास तत्त्वकी नित्यता हेतु अनादिकालसे गोलोक वृन्दावनमें पृथक्-पृथक् देह धारणकर विद्यमान हैं। इस कलियुगमें वे दोनों मिलकर एक स्वरूपमें श्रीकृष्णचैतन्य नामसे प्रकट हुए हैं। राधा-भाव-कान्तियुक्त श्रीकृष्ण-स्वरूप श्रीगौराङ्गसुन्दरको मैं प्रणाम करता हूँ॥१॥

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम्।
भृत्यार्तिहं प्रणतपाल भवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुषं ते चरणारविन्दम्॥२॥

(श्रीमद्भागवत ११/५/३)

हे शरणागत रक्षक! हे पुरुषोत्तम महाप्रभो! निरन्तर ध्यानयोग्य, आप सर्वदा ध्यानयोग्य हैं। आपके ध्यानके लिए न कालका नियम है और न देशका (नाम-नामी अभेदके कारण) इन्द्रिय तथा कुटुम्ब आदिसे होनेवाले तिरस्कार आदिके आप विनाशक हैं। श्रीगौड़-ब्रज-क्षेत्रमण्डलादि तीर्थोंके आश्रय हैं अथवा ब्रह्मसम्प्रदायाचार्य श्रीमध्वानुगत श्रीरूपानुग महाभागवतोंके आश्रयस्वरूप हैं। शिवावतार श्रीमदद्वैताचार्य एवं ब्रह्मावतार नामाचार्य हरिदास ठाकुरके द्वारा वन्दनीय,

अपने भृत्य कुष्ठ रोगी विप्रकी आर्तिको दूर करनेवाले, सार्वभौम, प्रतापरुद्रके भोग-मोक्षरूप कुवासनाको दूर करनेवाले, शुद्धभक्तिके विरोधी अन्याभिलाष-कर्म-ज्ञान-योग आदि विविध कुमार्गोंको नष्ट करनेवाले, कृष्णप्रेम प्रदान करनेवाले तथा भवसागरसे पार करनेके लिए जहाज सदृश आपके श्रीचरणकमलोंकी मैं वन्दना करता हूँ॥२॥

त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्।
मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद् वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥३॥

(श्रीमद्भागवत ११/५/३४)

प्राणोंसे भी प्रिय तथा देवताओं द्वारा भी अभिलषित लक्ष्मीस्वरूपिणी विष्णुप्रिया देवीको भी त्यागकर ब्राह्मणके वचन सत्य करनेके लिए जो वनमें चले गये (संन्यास ग्रहण किया)। कलत्र, पुत्र, वित्त आदि रूपी मायाको ढूढ़नेवाले अर्थात् संसाराविष्ट जनोंके पीछे कृपा करनेके लिए दौड़नेवाले अतिशय दयाविशिष्ट, संसाररूपी समुद्रमें गिरे हुए पतित जीवोंको प्रेमरूपी समुद्रमें निमग्न करनेवाले महापुरुष श्रीचैतन्यमहाप्रभुके श्रीचरणकमलोंकी मैं वन्दना करता हूँ॥३॥

(१) श्रीगौरावतारके मुख्यका मुख्य कारण—

श्रीराधायाः प्रणयमहिमा कीदृशो वानयैवा-
स्वाद्यो येनाद्भुतमधुरिमा कीदृशो वा मदीयः।
सौख्यञ्चास्या मदनुभवतः कीदृशं वेति लोभात्-
तद्भावाढ्यः समजनि शचीगर्भसिन्धौ हरीन्दुः॥४॥

(चै. च. आ. १/६ धृत स्वरूपगोस्वामी वाक्य)

श्रीमती राधिकाजीके अलौकिक प्रेमकी महिमा कैसी है? वह मेरी अद्भुत मधुरिमा कैसी है? जिसका श्रीमती राधिकाजी आस्वादन करती हैं, मेरी मधुरिमाकी अनुभूतिसे श्रीमती राधिकाको कौनसा अनिर्वचनीय सुख मिलता है? इन तीन लालसाओंकी पूर्तिकी अभिलाषासे राधाभाव लेकर श्रीकृष्णचन्द्र श्रीशचीगर्भ-समुद्रसे श्रीगौराङ्गदेवके रूपमें आविर्भूत हुए॥४॥

(२) श्रीगौरावतारके मुख्यका गौण कारण—

तुलसीदल मात्रेण जलस्य चुलुकेन वा।
विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः॥५॥

(चै. च. आ. ३/१०३ गौतमीय तन्त्र)

भक्तिपूर्वक केवल एक तुलसीदल एवं एक चुल्लू जल अर्पण करनेसे भक्तवत्सल भगवान् अपनेको भक्तोंके निकट बेच देते हैं॥५॥

श्रीगौरावतारके गौणका मुख्य कारण—

अनर्पितचरीं चिरात् करुणयावतीर्णः कलौ
समर्पयितुमुन्नतोज्ज्वलरसां स्वभक्तिश्रियम्।
हरिः पुरटसुन्दरद्युतिकदम्बसन्दीपितः
सदा हृदय-कन्दरे स्फुरतु वः शचीनन्दनः॥६॥

(चै. च. आ. ३/४, विदग्धमाधव १ अङ्क २ श्लोक)

सुवर्ण कान्तिसमूह द्वारा दैदीप्यमान श्रीशचीनन्दन गौरहरि तुम्हारे हृदयमें स्फूर्ति लाभ करें। जिस सर्वोत्कृष्ट उज्ज्वल रसका दान जगतको चिरकाल तक नहीं दिया, उसी स्वभक्ति-सम्पत्तिका दान करनेके लिए वे कलियुगमें अवतीर्ण हुए हैं॥६॥

गौणका गौण कारण—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युथानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥७॥

(गीता ४/७-८)

हे अर्जुन! जब-जब धर्मकी हानि होती है, अधर्मकी वृद्धि होती है तब तब मैं अवतरित होता हूँ। साधुजनोंकी रक्षा, दुष्टोंका विनाश तथा धर्मकी संस्थापनाके लिए युग-युगमें अवतार ग्रहण करता हूँ॥७॥

गोलोकं च परित्यज्य लोकानां त्राणकारणात्।
कलौ गौराङ्गरूपेण लीलालावण्यविग्रहः॥८॥

(स्वयं भगवत्ता श्लोक ५१ मार्कण्डेय पुराण)

मैं अनेक लीलाओंके सम्पादनके लिए परम मनोहर विग्रह धारण करनेवाला होकर भी कलियुगमें भक्तजनोंकी रक्षा हेतु गोलोकका त्यागकर श्रीगौराङ्गरूपसे अवतीर्ण होऊँगा॥८॥

यो रेमे सहवल्लवी रमयते वृन्दावनेऽहर्निशं
यः कंसं निजधान कौरवरणे यः पाण्डवानां सखा।
सोऽयं वैष्णवदण्डमण्डितभुजः संन्यासवेशः स्वयं
निःसन्देहमुपागतः क्षितितले चैतन्यरूपः प्रभुः॥९॥

(स्वयं भगवत्ता श्लोक ३८ गरुड़पुराण)

जिन प्रभुने श्रीकृष्णचन्द्ररूपमें श्रीवृन्दावन धाममें गोपियोंके साथ रासलीला करते हुए अनेकों क्रीड़ाएँ कीं एवं जिन्होंने कंसको मार डाला, कौरवोंके संग्राममें

जो पाण्डवोंके सखा बनकर पार्थसारथी कहलाये, निःसन्देह वे अघटित-घटना-पटीयान् स्वयं-प्रभु संन्यास वेष धारणकर वैष्णव दण्डसे अपनी भुजा सुशोभितकर पृथ्वीतलमें श्रीकृष्णचैतन्यरूपसे पधारेंगे॥९॥

वैवस्वतान्तरे ब्रह्मन् गङ्गातीरे सुपुण्यदे।
हरिनाम तदा दत्त्वा चाण्डालान् हडिकांस्तथा॥
ब्राह्मणान् क्षत्रियान् वैश्यान् शततोऽथ सहस्रशः।
उद्धरिष्याम्यहं तत्र तप्तस्वर्णकलेवरः।
संन्यासश्च करिष्यामि काञ्चनग्राममास्थितः॥१०॥

(स्वयं भगवत्ता श्लोक १०८ उर्ध्वाम्नाय संहिता)

स्वयं भगवान् कृष्णने कहा—हे ब्रह्मन्! वैवस्वत् मन्वन्तरमें मैं सुपवित्र गङ्गाके किनारे तपे हुए स्वर्ण जैसा वर्ण एवं विग्रह धारणकर हरिनाम प्रदानकर शत-सहस्र (असंख्य) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और नीच जातिके व्यक्तियोंका उद्धार करूँगा और काञ्चनग्राम जाकर संन्यास ग्रहण करूँगा॥१०॥

जय नवद्वीप - नवप्रदीप - प्रभावः पाषण्डगजैकसिंहः।
स्वनामसंख्याजप सूत्रधारी चैतन्यचन्द्रो भगवान्मुरारिः॥११॥

(चै. भा. म. ५/१)

जो नवद्वीप धामके नवीन प्रदीप (दीपक) स्वरूप हैं, जो पाखण्डरूप हाथियोंके दमनके लिए अद्वितीय सिंहके सदृश हैं तथा 'हरे कृष्ण' आदि अपने नामसमूहोंकी गिनतीके लिए जिन्होंने सूत्र धारण कर रखा है, वे श्रीचैतन्यमहाप्रभु नामक भगवान् मुरारी जययुक्त हों॥११॥

इति गौड़ीय कण्ठहारमें 'गौरतत्त्व' वर्णन नामक चौथा रत्न समाप्त।

U U U

पाँचवाँ रत्न

नित्यानन्द-तत्त्व

गौरके दो अङ्ग हैं—निताइ और अद्वैत—

अद्वैत-आचार्य, नित्यानन्द—दुइ अङ्ग।
दुइजन लइया प्रभुर जत किछु रङ्ग॥१॥

(चै. च. आ. ५/१४६)

श्रीनित्यानन्द प्रभु और श्रीअद्वैताचार्य ये दोनों श्रीमन्महाप्रभुके अंग हैं। इन दोनोंको लेकर ही महाप्रभुने समस्त लीलाएँ की हैं॥१॥

सङ्कर्षण और कारण-गर्भ-क्षीराब्धिशायिगण एवं
शेषके अंशी नित्यानन्द अथवा बलदेव—

सङ्कर्षणः कारणतोयशायी गर्भोदशायी च पयोब्धिशायी।
शेषश्च यस्यांशकलाः स नित्यानन्दाख्य-रामः शरणं ममास्तु॥२॥
मायातीते व्यापि वैकुण्ठलोकेपूर्णैश्वर्ये श्रीचतुर्व्यूहमध्ये।
रूपं यस्योद्भाति सङ्कर्षणाख्यं तं श्रीनित्यानन्द-रामं प्रपद्ये॥३॥
मायाभर्ताजाण्डसङ्घाश्रयाङ्गः शेते साक्षात् कारणाम्भोधिमध्ये।
यस्यैकांशः श्रीपुमानादिदेवस्तं श्रीनित्यानन्दरामं प्रपद्ये॥४॥
यस्यांशांशः श्रील गर्भोदशायी यन्नाभ्यब्जं लोकसंघातनालम्।
लोकस्रष्टुः सूतिकाधामधातुस्तं श्रीनित्यानन्द-रामं प्रपद्ये॥५॥
यस्यांशांशांशः परात्माखिलानां पोष्टा विष्णुर्भाति दुग्धाब्धिशायी।
क्षौणीभर्त्ता यत्कला सोऽप्यनन्तस्तं श्रीनित्यानन्द-रामं प्रपद्ये॥६॥

(चै. च. आ. १/७-११)

सङ्कर्षण, कारणाब्धिशायी, गर्भोदशायी, पयोब्धिशायी और शेषशायी विष्णु जिनके अंश और कला हैं उन्हीं श्रीनित्यानन्दरामकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ॥२॥

मायातीत, सर्वव्यापक वैकुण्ठलोकमें वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इस पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त चतुर्व्यूहमें जो सङ्कर्षणरूपसे विराजमान हैं, उन नित्यानन्दस्वरूप रामके श्रीचरणकमलोंमें मैं शरणागत होता हूँ॥३॥

मायापति और ब्रह्माण्डोंके आश्रयस्वरूप कारणाब्धिशायी प्रथम पुरुषावतार जिनके अंश हैं, उन्हीं नित्यानन्द रामको मैं प्रणाम करता हूँ॥४॥

जिनके नाभिपद्मकी डंडी लोकस्रष्टा विधाताका सूतिकागृह (जन्मस्थान) और लोकोंका विश्राम स्थल है, वे गर्भोदशायी जिनके अंशके अंश हैं, उन्हीं नित्यानन्द-रामको मैं प्रणाम करता हूँ॥५॥

जिनके अंशांशके अंश क्षीरोदशायी हैं, जो अखिल परमात्मा पालनकर्त्ता विष्णु है, पृथ्वीधारी 'अनन्त' जिनकी कला हैं, उन्हीं श्रीनित्यानन्द रामको मैं प्रणाम करता हूँ॥६॥

बलदेव ही मूल सङ्कर्षण हैं—

श्रीबलराम-गोसाञि मूल-सङ्कर्षण।
पञ्चरूप धरि करेन कृष्णेर सेवन॥
आपने करेन कृष्ण-लीलार सहाय।
सृष्टि-लीला-कार्य करे धरि चारि काय॥७॥

(चै. च. आ. ५/८-९)

श्रीबलराम मूल संकर्षण हैं—ये पाँच रूपोंको धारणकर कृष्णकी सेवा करते हैं। वे स्वयं श्रीबलरामजीके रूपमें श्रीकृष्णकी लीलाओंमें सहायक होते हैं और अन्य चार रूपोंको धारणकर सृष्टि लीला करते हैं॥७॥

बलदेवाभिन्न नित्यानन्दप्रभुकी लीला—

प्रेम-प्रचारण आर पाषण्ड दलन।
दुइ कार्ये अवधूत करेन भ्रमण॥८॥

(चै. च. आ. ३/१४८)

जगत् माताय निताइ प्रेमेर माल्साटे।
पलाय दुरन्त कलि पड़िया विभ्राटे॥
कि सुखे भासिल जीव गोराचाँदेर नाटे।
देखिया शुनिया पाषण्डीर बुक फाटे॥९॥

(गीतावली ८ नं. कीर्त्तन)

प्रेमका प्रचार और पाखण्डियोंका दलन करना—ये दो अवधूत श्रीनित्यानन्दके कार्य हैं। प्रेमके गुलचे मारकर श्रीनित्यानन्द प्रभुने जगत्को प्रमत्त कर दिया। निताइ चाँदके इस प्रचण्ड प्रभावको देखकर दुर्दान्त कलि बड़े संकटमें फँस गया। कहाँ जाऊँ? कहाँ भागूँ? ऐसा सोचकर वह बहुत ही घबरा गया। श्रीगौरसुन्दरके जालमें पड़कर सारे जीव न जाने कौनसे अनिर्वचनीय आनन्दमें मत्त हो गये। ऐसा देख-सुनकर पाखण्डियोंका हृदय फटने लगा॥९॥

श्रीनित्यानन्द महिमा—

जय जय नित्यानन्द, नित्यानन्द राम।
जाँहार कृपाते पाइनु वृन्दावन धाम॥
जय जय नित्यानन्द, जय कृपामय।
जाँहा हइते पाइनु रूप-सनातनाश्रय॥
जाँहा हइते पाइनु रघुनाथ महाशय।
जाँहा हइते पाइनु श्रीस्वरूप आश्रय॥
सनातन-कृपाय पाइनु भक्तिर सिद्धान्त।
श्रीरूप-कृपाय पाइनु भक्ति-रस-प्रान्त॥
जय जय नित्यानन्द-चरणारविन्द।
जाँहा हइते पाइनु श्रीराधागोविन्द॥१०॥
(चै. च. आ. ५/२००-२०४)

श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी बड़े उल्लसित होकर दयालु शिरोमणि श्रीनित्यानन्द प्रभुका वर्णन कर रहे हैं। श्रीनित्यानन्द प्रभुकी जय हो! जय हो! जिनकी कृपासे मुझे वृन्दावन धामकी प्राप्ति हुई, उन श्रीनित्यानन्द रामकी जय हो, जिनकी कृपासे मुझे श्रीरघुनाथदास गोस्वामीका संग मिला, जिनकी कृपासे मुझे श्रीस्वरूप गोस्वामीका आश्रय मिला, उन नित्यानन्द प्रभुकी पुनः जय हो। श्रीसनातन गोस्वामीकी कृपासे मुझे भक्तिके सिद्धान्त प्राप्त हुए, श्रीरूप गोस्वामीकी कृपासे मुझे पूर्णरूपमें भक्तिरसकी प्राप्ति हुई। अहो! जिन श्रीनित्यानन्द प्रभुके श्रीचरणकमलोंकी कृपासे श्रीश्रीराधा-गोविन्दजीकी प्राप्ति हुई, उन श्रीनित्यानन्द प्रभुकी पुनः पुनः जय हो॥१०॥

पतितपावन श्रीनित्यानन्द—

जगाइ माधाइ हइते मुइ से पापिष्ठ।
पुरीषेर कीट हइते मुइ से लघिष्ठ॥
मोर नाम शुने जेइ, ता'र पुण्य क्षय।
मोर नाम लय जेइ, ता'र पाप हय॥
एमन निर्घृण मोरे केबा कृपा करे।
एक नित्यानन्द बिनु जगत् भितरे॥
प्रेमे मत्त नित्यानन्द कृपा अवतार।
उत्तम, मध्यम, किछु ना करे विचार॥

जे आगे पड़ये तारे करये निस्तार।
अतएव निस्तारिल मो-हेन दुराचार॥११॥

(चै. च. आ. ५/२०५-२०९)

श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी बड़ी दीनतासे पतितपावन श्रीनित्यानन्दप्रभु की अहैतुकी कृपाका वर्णन कर रहे हैं—मैं जगाई मधाईसे भी अधिक पापी हूँ, टट्टीके कीड़ेसे भी अधिक घृणित हूँ। जो कोई भूलसे भी मेरा नाम सुन लेता है, उसके सारे पुण्य क्षीण हो जाते हैं। जो भूलसे भी मेरा नाम ले लेता है, उसे पाप लग जाता है। ऐसे मुझ घृणितपर एक नित्यानन्द प्रभुके बिना इस सारे जगत्में दूसरा कौन दयालु है अर्थात् कोई नहीं। गौरप्रेममें मतवाले नित्यानन्द प्रभु कृपाके अवतार हैं, वे उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ आदि कृपापात्रोंका विचार नहीं करते; जो कोई भी सामने मिल जाता है, उसका उद्धार कर देते हैं। इसलिए उन्होंने मुझ जैसे दुराचारीका भी उद्धार किया॥११॥

अनर्थकी मुक्ति और भक्तिकी प्राप्तिके लिए निताईकी कृपा ही सम्बल है—

संसारेर पार हइ' भक्तिर सागरे।
जे डूबिबे, से भजुक निताइ चाँदेरे॥१२॥

(चै. भा. आ. १/७७)

जो इस संसारको पारकर भक्तिरसके सागरमें डूबना चाहते हैं, वे श्रीनित्यानन्द प्रभुका भजन करें॥१२॥

निताई श्रीचैतन्यके प्रचारक हैं—

चैतन्येर आदि-भक्त नित्यानन्द-राय।
चैतन्येर यश वैसे जाँहार जिह्वाय॥
अहर्निश चैतन्येर कथा प्रभु कय।
ताँरे भजिले से चैतन्येभक्ति हय॥१३॥

(चै. भा. आ. ९/२१७-२१८)

श्रीनित्यानन्द प्रभुजी, श्रीचैतन्यमहाप्रभुके प्रथम प्रिय भक्त हैं, जिनकी जिह्वापर सदैव चैतन्यमहाप्रभुके यशका गुणगान स्फुरित होता रहता है। वे नित्य-निरन्तर महाप्रभुजीकी लीला कथाओंका वर्णन करते रहते हैं। ऐसे श्रीनित्यानन्द प्रभुका भजन करनेपर ही चैतन्यमहाप्रभुके चरणोंमें भक्ति होती है॥१३॥

गौरदासोंमें पागल निताई—

नित्यानन्द-अवधूत सबाते आगल।
चैतन्येर दास्य-प्रेमे हइल पागल॥१४॥

(चै. च. आ. ६/४७)

अवधूत श्रीनित्यानन्द प्रभु श्रीचैतन्य महाप्रभुके भक्तोंमें अग्रगण्य हैं। वे श्रीगौरहरिके दास्यप्रेममें उन्मत्त रहते हैं॥१४॥

अखण्ड तत्त्वमें खण्ड वस्तुका ज्ञान अश्रद्धा-पाषण्डता मात्र है—

दुइ भाइ एक तनु—समान प्रकाश।
नित्यानन्द ना मान', तोमार हबे सर्वनाश॥
एकेते विश्वास, अन्ये ना कर सम्मान।
'अर्द्धकुक्कुटि-न्याय' तोमार प्रमाण॥

गौरके बिना निताई, निताई बिना गौरमें विश्वास भक्तिविरोधमात्र—

किम्बा, दोंहा ना मानिया ह'ओ त' पाषण्ड।
'एके मानि', आरे ना मानि,-एइ मत भण्ड॥१५॥

(चै. च. आ. ५/१७५-१७७)

श्रीगौर-निताई दोनों भाई एक ही स्वरूप हैं। दोनोंमें समान शक्तिका प्रकाश है। श्रीनित्यानन्दको नहीं माननेसे तुम्हारा सर्वनाश होगा। एक पर तो तुम्हारा विश्वास है, परन्तु दूसरेके प्रति सम्मान नहीं है। अतः तुम्हारा यह विश्वास अर्द्धकुक्कुटी न्यायकी भाँति है (एक अखण्ड वस्तुके आधे भागको स्वीकार करना तथा दूसरे भागको अस्वीकार करना, यह 'अर्द्धकुक्कुटी न्याय' कहलाता है)। अथवा जो दोनोंको ही नहीं मानते वे पाखण्डी हैं, एकको मानना तथा दूसरेको नहीं मानना यह ढोंग है॥१५॥

परिशिष्ट

आजानुलम्बित भुजौ कनाकावदातौ सङ्कीर्त्तनैकपितरौ कमलायताक्षौ।
विश्वम्भरौ द्विजवरौ युगधर्म पालौ वन्दे जगत्प्रियकरौ करुणावतारौ॥१॥

(चैतन्य भागवत)

मैं उन करुणावतार श्रीगौराङ्गदेव एवं श्रीमन्नित्यानन्द प्रभुकी वन्दना करता हूँ जिनकी भुजाएँ घुटनों तक लम्बी हैं, जिनके शरीरकी कान्ति स्वर्णकी भाँति मनोरम हैं, जो सङ्कीर्त्तनके सृष्टिकर्त्ता अथवा प्रवर्त्तक हैं, जिनके नेत्र कमलकी भाँति विशाल हैं, जो विश्वके पोषणकर्त्ता हैं, जो श्रेष्ठ ब्राह्मण कुलमें आविर्भूत हुए हैं, जो युगधर्मके पालनकर्त्ता हैं तथा जगत्के लागोंका परम कल्याण करनेवाले हैं॥१॥

वन्दे श्रीकृष्णचैतन्यनित्यानन्दौ सहोदितौ।
गौड़ोदये पुष्पवन्तौ चित्रौ शन्दौ तमोनुदौ॥२॥

(चै. च. आ. १/२)

गौड़-देशरूप उदयाचल पर एक ही समय उदित होनेवाले आश्चर्यमय सूर्य एवं चन्द्रके समान, परम मङ्गलदाता तथा अज्ञानरूप अन्धकारको नाश करनेवाले श्रीकृष्णचैतन्य तथा नित्यानन्दकी मैं वन्दना करता हूँ॥३॥

यथेष्टं रे भ्रातः! कुरु हरिहरि-ध्वानमनिशं
ततो वः संसाराम्बुधि-तरण-दायो मयि लगेत्।
इदं बाहु-स्फोटैरटति रटयन् यः प्रतिगृहं
भजे नित्यानन्दं भजन-तरु-कन्दं निरवधि॥३॥

(श्रीनित्यानन्दाष्टक ५ श्लोक)

मैं उन नित्यानन्द प्रभुका निरन्तर भजन करता हूँ, जो कि श्रीकृष्ण-भक्तिरूप-वृक्षके मूलस्वरूप हैं, तथा श्रीगौड़देशमें प्रत्येक घरके दरवाजेपर अपनी भुजाओंको फैलाकर, हे भाइयो! तुम सब मिलकर स्वेच्छापूर्वक निरन्तर श्रीहरिनामकी ध्वनि करते रहो, ऐसा करनेसे तुम सबका संसार-सागरसे तारनेका 'दायित्व' मेरे ऊपर आ जायेगा—इस प्रकार उच्चारण करते हुए घूमते रहते हैं॥३॥

श्रीचैतन्य सेइ कृष्ण नित्यानन्द राम।
नित्यानन्द पूर्ण करे चैतन्येर काम॥४॥

(चै. च. आ. ५/१५६)

द्वापर युगमें जो ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण थे, वे ही कलियुगमें शचीनन्दन गौरहरि हैं एवं जो ब्रजमें बलदेव प्रभु थे, वे ही इस समय परम कारुणिक नित्यानन्द प्रभुके रूपमें प्रकट हुए हैं, श्रीनित्यानन्द प्रभु सदैव श्रीमन्महाप्रभुकी अभिलाषा पूर्ण करते हैं॥४॥

इति गौड़ीय कण्ठहारमें 'नित्यानन्द-तत्त्व' वर्णन नामक पञ्चम रत्न समाप्त।

U U U

छठा रत्न

अद्वैत-तत्त्व

महाविष्णुर्जगत्कर्त्ता मायया यः सृजत्यदः।
तस्यावतार एवायमद्वैताचार्य ईश्वरः॥१॥
अद्वैतं हरिणाद्वैतादाचार्यं भक्तिशंसनात्।
भक्तावतारमीशं तमद्वैताचार्यमाश्रये॥२॥

(चै. च. आ. १/१२-१३)

जो महाविष्णु मायाके द्वारा इस जगत्की सृष्टि करते हैं, वे जगत्कर्त्ता हैं; ईश्वर—अद्वैताचार्य उनके अवतार हैं। हरिसे अभिन्न तत्त्व होनेसे उनका नाम 'अद्वैत' है, भक्ति-शिक्षक होनेके कारण उनको आचार्य कहा जाता है—उन भक्तावतार अद्वैताचार्य ईश्वरका मैं आश्रय ग्रहण करता हूँ॥१-२॥

कारणार्णवशायी—निमित्त एवं अद्वैत प्रभु—उपादान कारण हैं—
ईक्षणकर्त्ता (कारणार्णवशायी) के रूपमें निमित्त तथा
सृष्टिकर्त्ता (अद्वैताचार्य) के रूपमें उपादान कारण

आपने पुरुष—विश्वेर 'निमित्त' कारण।
अद्वैत-रूपे 'उपादान' हन नारायण॥
'निमित्तांशे' करे तिहों मायाते ईक्षण।
'उपादान' अद्वैत करेन ब्रह्माण्ड सृजन॥३॥

(चै. च. आ. ६/१६-१७)

प्रथम पुरुष कारणोदकशायी विश्वके निमित्त कारण हैं और वे ही अद्वैताचार्यके रूपमें जगतके उपादान कारण हैं। निमित्त अंशके द्वारा वे प्रकृतिको अपनी दृष्टिसे ही क्रियान्वित करते हैं। उपादान स्वरूप अद्वैताचार्य ब्रह्माण्डका सृजन करते हैं॥३॥

अद्वैत ही सदाशिव हैं—

भक्तावतार आचार्योऽद्वैतो यः श्रीसदाशिवः॥४॥

(गौरगणोद्देशदीपिका ११ संख्या)

जो सदाशिव हैं, वे ही भक्तावतार श्रीअद्वैत प्रभु हैं॥४॥

'अद्वैत' नामकी सार्थकता—

महाविष्णुर अंश—अद्वैत गुण धाम।
ईश्वरे अभेद, तेञि 'अद्वैत' पूर्ण नाम॥५॥

(चै. च. आ. ६/२५)

अद्वैताचार्य महाविष्णुके अंश हैं तथा समस्त गुणोंके धामस्वरूप हैं। ईश्वरसे अभिन्न होनेके कारण उनका नाम अद्वैत है तथा भक्तितत्त्वके आचार्य होनेके कारण वे आचार्य हैं॥५॥

आचार्य नामकी सार्थकता—

पूर्वे जैछे कैल सर्व विश्वेर सृजन।
अवतरि' कैल एबे भक्ति-प्रवर्त्तन॥६॥

(उपरोक्त ६/२६)

जिस प्रकार पूर्व समयमें उन्होंने सारे विश्वका सृजन किया उसी प्रकार इस कालमें अवतार लेकर सारे विश्वमें भक्तिका प्रवर्त्तन किया॥६॥

अद्वैतावतारमें कृष्णभक्ति-प्रचार ही कार्य है—

जीव निस्तारिल कृष्णभक्ति करि' दान।
गीता भागवते कैल भक्तिर व्याख्यान॥७॥

(उपरोक्त ६/२७)

श्रीअद्वैताचार्यने कृष्ण-भक्तिका दानकर जीवोंका सम्पूर्णरूपसे उद्धार किया। उन्होंने गीता और भागवतकी भक्तिपरक व्याख्या की॥७॥

महाविष्णुका अवतार होनेपर भी अद्वैतप्रभुका स्वयंको गौरदास समझना—

अद्वैत-आचार्य गोसाञि साक्षात् ईश्वर।
प्रभु, गुरु करि' माने, तिंहो त किङ्कर॥८॥

(चै. च. आ. ५/१४७)

अद्वैताचार्य साक्षात् ईश्वर हैं, किन्तु ईश्वरोंके ईश्वर होनेपर भी श्रीमन्महाप्रभु श्रीअद्वैताचार्यको गुरुवत् सम्मान देते हैं। तथापि, श्रीअद्वैताचार्य अपनेको श्रीमन्महाप्रभुका दास ही मानते हैं॥८॥

अद्वैत आचार्य और नित्यानन्द प्रभु विषय जातीय सेवक हैं—

एक 'महाप्रभु', आर 'प्रभु'—दुइ जन।
दुइ प्रभु सेवे महाप्रभुर चरण॥९॥

(चै. च. आ. ७/१४)

श्रीगौरसुन्दर महाप्रभु हैं। श्रीमन्नित्यानन्द और अद्वैताचार्य ये दोनों प्रभु महाप्रभुके चरणकमलोंकी सेवा करते हैं॥९॥

अद्वैताचार्यके अनुयायी दो प्रकारके हैं—सारग्राही और भारवाही—

अद्वैताङ्घ्र्यब्जभृङ्गास्तान् सारासारभृतोऽखिलान्।
हित्वासारान् सारभृतो नौमि चैतन्यजीवनान्॥१०॥

(चै. च. आ. १२/१)

अद्वैतप्रभुके अनुगतजन दो प्रकारके हैं—सारग्राही और असारवाही, उनमें असारवाहीका परित्यागकर सारग्राही चैतन्यदासोंको प्रणाम करता हूँ॥१०॥

सारग्राहियोंकी अद्वैतके आनुगत्यमें गौरभक्ति है—
असारवाहियोंका स्वतन्त्रभावमें गौरविरोध है—

प्रथमे त' आचार्येर एकमत गण।
पाछे दुइ मत हइल दैवेर कारण॥
केह त' आचार्येर आज्ञाय, केह त' स्वतन्त्र।
स्वमत कल्पना करे दैव—परतन्त्र॥
आचार्येर मत जेइ, सेइ मत सार।
ताँर आज्ञा लङ्घि' चले, सेइ त' असार॥११॥

(चै. च. आ. १२/८-१०)

सर्वप्रथम श्रीअद्वैताचार्यके अनुगामी एक ही प्रकारके मतको माननेवाले थे। बादमें दैव दुर्विपाकसे उनके दो भाग हो गये। एक अद्वैताचार्यकी आज्ञासे श्रीगौरसुन्दरके चरणोंमें भक्ति करने लगे, और दूसरे श्रीआचार्यका आनुगत्य परित्यागकर अपने-अपने काल्पनिक मतका प्रचार करने लगे। श्रीअद्वैताचार्यका मत ही एकमात्र श्रेयस्कर है। जो लोग उनकी आज्ञाका उल्लंघन कर स्वेच्छाचारी होते हैं, उनका मत सम्पूणरूपसे असार और जगत-जंजालका कारण है॥११॥

असार अद्वैतदासाभिमानीजन ही गौर विरोधी और गौर कृपामृतके अभावमें ध्वंस—

इहार मध्य मालि-पाछे कौन शाखागण।
ना माने चैतन्य-माली दुर्दैव-कारण॥
सृजाइला, जीयाइला, ताँरे ना मानिला।
कृतघ्न हइल, स्कन्ध तारे क्रुद्ध हइला॥
क्रुद्ध हञा तारे स्कन्ध जल ना सञ्चारे।
जलाभावे कृश शाखा शुखाइया मरे॥१२॥

(चै. च. आ. १२/६७-६८)

परिशिष्ट

स्मरामि श्रीमदद्वैतं शुद्ध-स्वर्ण-रुचिं प्रभुम्।
शुक्लाम्बरधरं गौरभक्ति-लम्पटमानसम्॥१॥

(श्रीस्तवकल्पद्रुमः पृष्ठ सं. १५/७)

दैदीप्यमान स्वर्णके समान अङ्गकान्तिवाले, शुक्लवस्त्रधारी, गौरभक्तिलम्पटमानस श्रीमदद्वैताचार्यको मैं स्मरण करता हूँ॥१॥

श्रीअद्वैतं नमस्तुभ्यं कलिजन-कृपानिधे।
गौरप्रेम-प्रदानाय श्रीसीतापतये नमः॥२॥

(श्रीस्तवकल्पद्रुमः पृष्ठ सं. १६/२)

मैं सीतानाथ श्रीअद्वैताचार्यको नमस्कार करता हूँ, जो गौर-प्रेम प्रदान करनेके कारण कलिहत जीवोंके लिए करुणावरुणालय हैं॥२॥

वन्दे आचार्यमद्वैतं भक्तावतारमीश्वरम्।
यस्य ज्ञात्वा मनोवृत्तिं चैतन्योऽवतरेद्भुवि॥३॥

(उपरोक्त १६/४)

मैं भक्तावतार श्रीमदद्वैताचार्यकी वन्दना करता हूँ, जिनके हृदयके भावको जानकर श्रीशचीनन्दन गौरहरि जगतमें अवतीर्ण हुए हैं॥३॥

अद्वैताय नमस्तेऽस्तु महेशाय महात्मने।
यस्य प्रसादाच्चैतन्य-चरणे जायते रतिः॥४॥

(उपरोक्त १६/५)

मैं सदाशिवके अवतार महात्मन् श्रीअद्वैताचार्यको नमस्कार करता हूँ, जिनकी कृपासे शचीनन्दन श्रीगौरहरिके चरणकमलोंमें रति उत्पन्न होती है॥४॥

इति गौड़ीय कण्ठहारमें 'अद्वैत-तत्त्व' वर्णन नामक षष्ठ रत्न समाप्त।

U U U

सातवाँ रत्न

कृष्ण-तत्त्व

अद्वय-ज्ञान तत्त्वकी त्रिविध प्रतीति—

वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥१॥

(श्रीमद्भागवत १/२/११)

श्रीकृष्ण अद्वयज्ञान परतत्त्व-वस्तु हैं। ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् इनकी तीन प्रतीतियाँ हैं॥१॥

ब्रह्म, परमात्मा और भगवत्—विचार—

अद्वय-ज्ञान-तत्त्व-वस्तु कृष्णेर स्वरूप।
'ब्रह्म', 'आत्मा', 'भगवान्'—तिन ताँ'र रूप॥२।

(चै. च. आ. २/६५)

श्रीकृष्ण अद्वयज्ञान परतत्त्व वस्तु स्वरूप हैं। ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् इनके तीन स्वरूप हैं॥२॥

अद्वय ज्ञानकी भगवत् प्रतीति ही पूर्ण, परमात्मा प्रतीति आंशिक,
ब्रह्म प्रतीति असम्यक् (धुंधला) है—

भक्तियोगे भक्त पाय जाँहार दर्शन
सूर्य जेन सविग्रह देखे देवगण॥
ज्ञानयोग मार्गे ताँरे भजे जेइ सब।
ब्रह्म-आत्मा-रूपे ताँ'रे करे अनुभव॥३॥

(चै. च. आ. २/२५-२६)

जिस प्रकार देवगण सूर्यकी श्रीमूर्तिका दर्शन करते हैं, उसी प्रकार भक्तजन भक्तियोगके द्वारा भगवान्‌का दर्शन करते हैं, ज्ञानी जिन ज्ञानयोगसे ब्रह्मके रूपमें अनुभव करते हैं तथा योगीगण योगमार्गके द्वारा उन्हें परमात्मारूपमें दर्शन करते हैं॥३॥

ब्रह्म—कृष्णकी अङ्गकान्ति हैं, श्रुतिप्रमाण—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥४॥

(कठ २/२/१५, मुण्डक २/२/१० और श्वेताश्वतर ६/१४)

उस स्वप्रकाश परब्रह्मको सूर्य-चन्द्र, तारागण या विद्युत ही प्रकाशित करनेमें असमर्थ हैं, तो अग्निकी क्या बात करें। बल्कि उसी स्वप्रकाश-परब्रह्मका आश्रय ग्रहणकर सूर्य आदि सभी प्रकाशित रहते हैं, उसी परब्रह्मकी अङ्गकान्तिसे यह सब अर्थात् जगत् प्रकाशित होता है॥४॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥५॥
पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्युह रश्मीन् समूह।
तेजो यत् ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि॥६॥

(ईशोपनिषद १५-१६ मन्त्र)

शुद्ध भक्तिके बिना श्रीभगवान्का दर्शन नहीं होता। श्रीभगवान्की कृपाके बिना शुद्ध भक्ति नहीं होती। इसलिए कहते हैं—निर्विशेष ब्रह्मरूप ज्योतिर्मय आच्छादनके द्वारा सत्यरूप परब्रह्मका श्रीविग्रह आच्छादित है। हे जगत्पोषक परमात्मन्! सत्य धर्मानुष्ठान परायण मुझ जैसे भक्तोंके साक्षात्कारके लिए आप उस आवरणको दूर करें॥५॥

हे भगवन्! आप भक्तपोषक हैं, आप ज्ञानमय और सर्वनियन्ता हैं। आप भक्तोंकी भक्तिके द्वारा ही जाने जाते हैं, आप वेदोपदेश द्वारा ब्रह्माके प्रिय हैं, आप अपनी तेजराशिको संकुचित करें, तभी आपके कल्याणतम रूपका मैं दर्शन कर सकता हूँ। मैं उसी रूपको देखनेका अधिकारी हूँ। क्योंकि पूर्ण पुरुष आप जगत्प्रविष्ट आपके अंश परमात्मा एवं हम (जीव) सभी चित्स्वरूप हैं। आपकी कृपा होनेपर ही मैं आपको देख सकता हूँ॥६॥

ब्रह्म संहिताका सिद्धान्त—

यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि-कोटीष्वशेषवसुधादिविभूतिभिन्नम्।
तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥७॥

(ब्रह्म-संहिता ५/४०)

जिनकी प्रभासे उत्पन्न होकर उपनिषदोक्त निर्विशेष ब्रह्म करोड़ों-करोड़ों ब्रह्माण्डगत वसुधा आदि विभूतियोंसे पृथक् होकर निष्कल, अनन्त, अशेष तत्त्वके रूपमें प्रतीत होते हैं, उन्हीं आदि पुरुष गोविन्दका मैं भजन करता हूँ॥७॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्यसुखस्यैकान्तिकस्य च॥८॥

(गीता १४/२७)

निर्गुण सविशेष तत्त्व मैं ही ज्ञानियोंकी चरमगति ब्रह्मकी प्रतिष्ठा अर्थात् आश्रय हूँ। अमृतत्व, अव्ययत्व, नित्यत्व, नित्य धर्मरूप प्रेम और ऐकान्तिक सुखरूप ब्रजरस—ये सभी इस निर्गुण-सविशेष-तत्त्वरूप श्रीकृष्णस्वरूपके आश्रित हैं॥८॥

गोस्वामी सिद्धान्त—

यस्य ब्रह्मेति संज्ञां क्वचिदपि निगमे याति चिन्मात्रसत्ता-
प्यंशो यस्यांशकैः स्वैर्विभवति वशयन्नेष मायां पुमांश्च।
एकं यस्यैव रूपं विलसति परमव्योम्नि नारायणाख्यं
स श्रीकृष्णो विधत्तां स्वयमिह भगवान् प्रेमतत्पादभाजाम्॥९॥

(तत्त्वसन्दर्भ ८ वाँ श्लोक)

जिनकी निर्विशेष चिन्मात्र सत्ताको श्रुतियोंमें कहीं कहीं 'ब्रह्म' कहा गया है, जिनके अंश माया नियन्ता कारणार्णवशायी पुरुषने मायाको अपने वशमें लेकर मायाके प्रति दृष्टि शक्ति सञ्चारकर उसके द्वारा ब्रह्माण्डकी सृष्टि की है एवं प्रद्युम्नरूपमें मत्स्य, कूर्म आदि अपने अंश अवतारोंके साथ शक्तिशाली, सर्वव्यापक लीला वातारोंको प्रकट करते हैं एवं जिनका नारायण नामक एक मुख्यरूप परव्योममें विलास करते हैं, वे ही स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण इस जगतमें अपने चरणकमल सेवी भक्तोंको अपना प्रेम प्रदान करें॥९॥

ब्रह्म ताँ'र अङ्गकान्ति निर्विशेष-प्रकाशे।
सूर्य जेन चर्मचक्षे ज्योतिर्मय भासे॥१०॥

(चै. च. म. २०/१५९)

श्रीकृष्ण भगवत्ताकी चरम सीमा हैं। ब्रह्म उनकी अङ्गकान्ति है, इसीको निर्विशेष ब्रह्म कहते हैं, जैसे साधारण लोग अपनी चर्म-चक्षुओंसे सूर्यको न देखकर सूर्यके प्रकाशको देखते हैं। यहाँ ब्रह्म प्रकाश स्थानीय निर्विशेष, निर्गुण, निराकार, निःशक्तिक तत्त्व है॥१०॥

ताँहार अङ्गेर शुद्ध-किरण-मण्डल।
उपनिषत् कहे ताँ'रे ब्रह्म सुनिर्मल॥११॥

(चै. च. आ. २/१२)

स्वयं भगवान्‌की केवल शुद्ध किरणोंको ही उपनिषदोंमें निर्मल ब्रह्म कहा गया है॥११॥

भगवान् निर्विशेष गुणको आत्मसात् करके 'नित्य सविशेष' हैं—

ताँ'रे 'निर्विशेष' कहि, चिच्छक्ति ना मानि।
अर्द्धस्वरूप ना मानिले पूर्णता हय हानि॥१२॥

(चै. च. आ. ७/१४०)

जो परम ब्रह्मकी चित् शक्तिको स्वीकार न कर उसे निर्विशेष ब्रह्म कहते हैं, वे परब्रह्मके अर्द्धस्वरूपको ही स्वीकार करते हैं। वे पूर्ण ब्रह्मको अस्वीकार करते हैं। अतः उनकी इस मान्यतासे पूर्णताकी हानि होती है॥१२॥

"व्यञ्जिते भगवत्तत्त्वेब्रह्म च व्यज्यते स्वयम्"॥१३॥

(भगवत्सन्दर्भ ८)

भगवत्तत्त्व हृदयमें प्रकाशित होनेसे ब्रह्मतत्त्व स्वतः प्रकाशित हो जाते हैं॥१३॥

परमात्मा—

योगियोंके आराध्य सर्वान्तर्यामी अनिरुद्ध-विष्णु—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥१४॥

(गीता १८/६१)

सभी जीवोंके हृदयमें मैं ही परमात्माके रूपमें अवस्थित हूँ। परमात्मा ही सभी जीवोंके नियन्ता और ईश्वर हैं। समस्त जीव जो-जो कर्म करते हैं ईश्वर तदनुरूप उनको फल प्रदान करते हैं। यन्त्रारूढ़ वस्तु जिस प्रकार घूमती रहती है, उसी प्रकार समस्त जीव ईश्वरके नियन्त्रणमें धर्मवशतः जगत्में घूमते रहते हैं। ईश्वरकी प्रेरणासे ही पूर्व कर्मोंके अनुसार तुम अपने कर्ममें सहज भावसे प्रवृत्त रहोगे॥१४॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥१५॥

(गीता १०/४२)

हे अर्जुन! और अधिक क्या कहूँ? संक्षेपमें इतना ही जानो कि मेरी प्रकृति सर्वशक्ति सम्पन्ना है। उसके एक-एक प्रभावके द्वारा मैं इस समस्त जगत्में प्रविष्ट होकर स्थित हूँ। जड़ प्रभावके द्वारा जड़ीय सत्ता एवं जीव प्रभाव द्वारा जैव सत्तामें प्रविष्ट होकर इस सृष्ट जगत्में साम्बन्धिक भावसे स्थित हूँ॥१५॥

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्त्तते॥१६॥

(गीता ९/१०)

प्रकृति मेरी ही शक्ति है। मेरे ही आश्रयमें वह कार्य करती है। मैं चिद्-विलास सम्बन्धी इच्छावशतः प्रकृति पर जो कटाक्ष करता हूँ, उससे ही सभी कार्योंमें मेरी अध्यक्षता है। उस कटाक्षद्वारा परिचालित होकर प्रकृति ही चर-अचर जगत्को प्रसव करती है, इसी कारणसे जगत्की पुनः पुनः सृष्टि होती है॥१६॥

अहं हि सर्व यज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥१७॥

(गीता ९/२४)

मैं ही समस्त यज्ञोंका भोक्ता और स्वामी हूँ। जो अन्य देवताओंकी मुझसे पृथक् स्वतन्त्ररूपसे उपासना करते हैं, उनको ही प्रतीकोपासक कहा जाता है। वे लोग मेरे तत्त्वसे अवगत नहीं हैं, अतएव अतात्त्विक उपासनावशतः वे मूल तत्त्वसे च्युत हो जाते हैं॥१७॥

परमात्मा कृष्णके एक अंश हैं—

परमात्मा जिंहो तिंहो कृष्णेर एक अंश।
आत्मार आत्मा हन कृष्ण—सर्व-अवतंस॥१८॥

(चै. च. म. २०/१६१)

परमात्मा श्रीकृष्णके अंश हैं। कृष्ण आत्माकी आत्मा सर्वश्रेष्ठ परतत्त्व हैं॥१९॥

केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्।
चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशङ्खगदाधरं धारणया स्मरन्ति॥१९॥

(श्रीमद्भागवत २/२/८)

कोई-कोई योगी पुरुष साधक अपने शरीरके भीतर हृदयाकाशमें विराजमान भगवानके प्रादेशमात्र स्वरूपकी धारणा करते हैं कि भगवान्की चार भुजाओंमें शंख, चक्र, गदा और पद्म हैं॥१९॥

परतत्त्व-विचार—

परतत्त्व भगवान ही सम्वित्, सन्धिनी और ह्लादिनी शक्तिके
शक्तिमत्-तत्त्व—असमोर्ध्द अप्राकृत-पुरुष हैं—

न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया च॥२०॥

(श्वे. उ. ६/८)

उन परब्रह्म परमात्माकी कोई भी क्रिया प्राकृत नहीं होती, क्योंकि उनका कोई भी करण-हस्त पादादि इन्द्रियाँ प्राकृत नहीं होतीं। वे अप्राकृत शरीरसे

एक ही समय सब जगह विराजमान रहते हैं। इसलिये उनसे बड़ा तो दूर रहे, उनके समान भी कोई दूसरा नहीं दीखता। उन परमेश्वर की अलौकिकी शक्ति नाना प्रकारकी सुनी जाती है, जिनमें ज्ञानशक्ति, बलशक्ति और क्रियाशक्ति—ये तीन प्रधान हैं। इन तीनोंको क्रमशः चित्शक्ति या सम्वित्-शक्ति, सत्शक्ति या सन्धिनी-शक्ति और आनन्दशक्ति या ह्लादिनी-शक्ति कहते हैं॥२०॥

विष्णु ही परमतत्त्व हैं—

ॐ तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम्।
तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिंधते। विष्णोर्यत् परमं पदम्॥२१॥

(ऋग्वेद १/२२/२०)

आकाशमें अबाधरूपसे जिस प्रकार सूर्यालोक प्राप्ति हेतु चक्षुः देखनेमें समर्थ हैं, ज्ञानिगण उसी प्रकार परमेश्वर विष्णुके परमपदको सर्वदा देखा करते हैं। भ्रम, प्रमादादि दोषवर्जित भगवन्निष्ठ साधुजन विष्णुका जो परमपद है, उसको सर्वत्र प्रकाशित (प्रचारित) करते हैं॥२१॥

अद्वयज्ञानतत्त्व कृष्ण—स्वयं भगवान्।
स्वरूप-शक्तिरूपे ताँ'र हय अवस्थान॥२२॥

(चै. च. म. २२/७)

श्रीकृष्ण अद्वयज्ञान परतत्त्वस्वरूप स्वयं भगवान् हैं। उनमें स्वरूपशक्ति नित्य विद्यमान रहती है॥२२॥

कृष्ण ही स्वराट् पुरुष हैं—

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत् सूरयः।
तेजो-वारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि॥२३॥

(श्रीमद्भागवत १/१/१)

जिससे इस जगत्की सृष्टि, स्थिति और प्रलय होता है—क्योंकि वह सभी सद्रूप पदार्थोंमें अनुगत है और असत् पदार्थोंसे पृथक् है, जड़ नहीं चेतन है, परतन्त्र नहीं स्वयं प्रकाश है, जो ब्रह्मा अथवा हिरण्यगर्भ नहीं प्रत्युत् उन्हें अपने सङ्कल्पसे ही जिसने उस वेदज्ञानका दान किया है, जिसके सम्बन्धमें बड़े-बड़े विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं, जैसे तेजोमय सूर्य रश्मियोंमें जलका, जलमें स्थलका और स्थलमें जलका भ्रम होता है, वैसे ही जिसमें यह त्रिगुणमयी जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्तिरूपा सृष्टि मिथ्या होनेपर भी अधिष्ठान सत्तासे सत्यवत् प्रतीत हो रही

है, उस अपनी स्वयं प्रकाश ज्योतिसे सर्वदा और सर्वथा माया और माया-कार्यसे पूर्णतः मुक्त रहनेवाले परम सत्यरूप परमात्माका हम ध्यान करते हैं॥२३॥

श्रीकृष्ण ही सर्ववेद प्रतिपाद्य तत्त्व हैं—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहन ञ्च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥२४॥

(गीता १५/१५)

मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें ईश्वररूपसे अवस्थित हूँ। मेरे द्वारा ही प्राणियोंकी कर्म-फलके अनुसार स्मृतिज्ञान और स्मृतिज्ञानकी अपगति अर्थात् विस्मृति होती है, सभी वेदोंमें एकमात्र मैं ही जानने योग्य हूँ तथा वेदान्तका रचयिता और वेदोंको जाननेवाला भी मैं ही हूँ॥२४॥

कृष्ण ही स्वयंरूप भगवान् हैं—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृड़यन्ति युगे युगे॥२५॥

(श्रीमद्भागवत १/३/२८)

पहले जिन अवतारोंका वर्णन किया गया है, उनमें कोई-कोई पुरुषावतार कारणार्णवशायी महाविष्णुके अंश हैं और कोई-कोई आवेशावतार हैं। ये सब अवतार असुरों द्वारा उत्पीड़ित जगत्की रक्षा करनेके लिए प्रत्येक युगमें अवतरित होते हैं। किन्तु ब्रजेन्द्रनन्दन कृष्ण स्वयं भगवान् हैं। अवतारोंके मूल पुरुष, आद्य पुरुषावतार महाविष्णु भी ब्रजेनन्दन कृष्णके अंश हैं॥२५॥

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥२६॥

(ब्रह्मसंहिता ५/१)

सत्, चित् और आनन्दमय विग्रह श्रीकृष्ण ही सर्वेश्वरेश्वर हैं। वे स्वयंरूप, अनादि एवं सर्वविष्णु और वैष्णवतत्त्वके आदि एवं सर्वकारणोंके कारण हैं॥२६॥

ईश्वर परम कृष्ण, स्वयं भगवान्।
सर्व-अवतारी, सर्वकारण-प्रधान॥
अनन्त-वैकुण्ठ आर अनन्त-अवतार।
अनन्त-ब्रह्माण्ड इहा सबार आधार॥
सच्चिदानन्द-तनु श्रीब्रजेन्द्र-नन्दन।
सर्वैश्वर्य, सर्वशक्ति, सर्वरस-पूर्ण॥२७॥

(चै. च. म. १३३-१३५)

श्रीकृष्ण ईश्वरोंके भी ईश्वर सर्वेश्वर एवं स्वयं भगवान् हैं। वे समस्त अवतारोंके अवतारी, समस्त कारणोंके आदि कारण, अनन्त वैकुण्ठों, अनन्त अवतारों और अनन्त ब्रह्माण्डोंके आधारस्वरूप हैं। ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णका श्रीविग्रह सच्चिदानन्द है। वे सर्वशक्तिमान, षडैश्वर्यपूर्ण एवं अखिल रसामृत सिन्धु हैं॥२७॥

भगवद् शब्दका निरूपण—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञान-वैराग्योश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना॥२८॥

(विष्णुपुराण ६/५/४७)

सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सम्पूर्ण वीर्य, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण श्री अर्थात् सौन्दर्य, सम्पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण वैराग्य—इन छह अचिन्त्य गुणोंसे युक्त परमतत्त्व ही भगवान् हैं॥२८॥

जाँ'र भगवत्ता हैते अन्येर भगवत्ता।
स्वयं भगवान्-शब्देर ताहातेइ सत्ता॥२९॥

(चै. च. आ. २/८८)

जिनकी भगवत्तासे अन्य स्वरूपोंकी भगवत्ता प्रकाशित होती है, वे स्वयं भगवान् शब्दके वाच्य हैं॥२९॥

कृष्णही सर्वसेव्य, सर्वभोक्ता स्वराट् पुरुष हैं—

आनेर कि कथा, बलदेव महाशय।
जाँ'र भाव—शुद्ध सख्य-वात्सल्यादिमय॥
तिंहो आपनाके करेन दास भावना।
कृष्णदास-भाव बिनु आछे कोन् जना॥
सहस्र-वदने जेंहो शेष-सङ्कर्षण।
दशदेह धरि' करे कृष्णेर सेवन।
अनन्त ब्रह्माण्डे रुद्र—सदाशिवेर अंश
गुणावतार तेंहो—सर्वदेव-अवतंस॥
तिंहो करेन कृष्णेर दास्य-प्रत्याश।
निरन्तर कहे, शिव—'मुञि कृष्णदास'॥
कृष्णप्रेमे उन्मत्त, विह्वल दिगम्बर।
कृष्ण-गुण-लीला गाय, नाचे निरन्तर॥
पितामाता-गुरु-सखा-भाव केने नय।
कृष्णप्रेमेर स्वभावे दास्य-भाव से करय॥

एक कृष्ण—सर्वसेव्य, जगत्-ईश्वर।
आर जत सब,—ताँ'र सेवकानुचर॥
सेइ कृष्ण अवतीर्ण—चैतन्य-ईश्वर।
अतएव आर सब,—ताँहार किङ्कर॥
केह माने, केह ना माने, सबे ताँ'र दास।
जे ना माने, ताँ'र हय सेइ पापे नाश॥३०॥

(चै. च. आ. ६/७४-८३)

दूसरोंकी तो बात ही क्या, स्वयं बलदेव प्रभुका श्रीकृष्णके प्रति शुद्ध दास्य, शुद्ध सख्य और शुद्ध वात्सल्यका भाव है। ऐसा कौन है, जिसमें श्रीकृष्णका दास भाव नहीं है। सहस्रमुखवाले शेष संकर्षण भी दस रूप धारणकर श्रीकृष्णकी सेवा करते हैं। सदाशिवके अंश रुद्र अनन्त ब्रह्माण्डोंमें गुणावतारके रूपमें प्रसिद्ध हैं। उनको देव-देव महादेव भी कहते हैं। वे भी अपनेको कृष्णदास मानते हैं। वे श्रीकृष्णप्रेममें ऐसे उन्मत्त और विह्वल हो जाते हैं कि अपने वसनका ध्यान नहीं रहता, इसलिए उनको दिगम्बर भी कहते हैं। वे तन-मनकी सुध-बुध खोकर कृष्णके नाम, रूप, गुण, लीलाओंका गान करते हुए भाव विह्वल होकर नृत्य करते हैं। माता-पिता, गुरु, सखा चाहे कोई भी हो, वे स्वाभाविक कृष्ण-प्रेमके कारण अपनेमें कृष्ण-सेवाका अभिमान रखते हैं। वे कृष्णप्रेमके प्रभावसे अपनेको कृष्णका सेवक अभिमान करते हैं। अकेले श्रीकृष्ण सबके सेव्य और जगत्के ईश्वर हैं, और सभी उनके सेवक अथवा सेवकोंके सेवक हैं। वे साक्षात् कृष्णही इस कलियुगमें चैतन्यमहाप्रभुके रूपमें अवतीर्ण हुए हैं। इसलिए सभी उनके किङ्कर हैं। कोई माने अथवा न माने सभी उनके दास हैं, जो ऐसा नहीं मानते उनका उस पापके फलस्वरूप सर्वनाश होता है॥३०॥

कृष्ण ही सब कारणोंके कारण हैं—

तेनैव हेतुभूतेन वयं जाता महेश्वरि।
कारणं सर्वभूतानां स एकः परमेश्वरः॥३१॥

(स्कन्दपुराण)

शिवजी पार्वतीसे कह रहे हैं—हे महेश्वरी! हम लोग इसीलिए (सृष्टि और प्रलय हेतु) पुरुषसे प्रकट हुए हैं। वे ही एकमात्र परमेश्वर हैं एवं सब भूतोंके कारण हैं॥३१॥

कृष्ण ही सर्वाश्रय हैं—

दशमे दशमं लक्ष्यमाश्रिताश्रयविग्रहम्।
श्रीकृष्णाख्यं परं धाम जगद्धाम नमामि तत्॥३२॥

(श्रीमद्भागवत १०/१/१—भावार्थ-दीपिका)

दसवें स्कन्धमें आश्रितोंके आश्रयविग्रहस्वरूप श्रीकृष्ण लक्षित हुए हैं। उन श्रीकृष्णाख्य परमधाम और जगद्धामको मैं नमस्कार करता हूँ॥३२॥

कृष्ण ही मूल पुरुष हैं—

अवतार सब—पुरुषेर कला-अंश।
स्वयं भगवान् कृष्ण—सर्व-अवतंस॥
कृष्ण—एक सर्वाश्रय, कृष्ण सर्वधाम।
कृष्णेर शरीरे सर्व-विश्वेर विश्राम॥
स्वयं भगवान् कृष्ण, कृष्ण सर्वाश्रय।
परम-ईश्वर-कृष्ण सर्वशास्त्रे कय॥३३॥

(चै. च. अ. २/७०,९४,१०६)

सभी अवतार पुरुषकी कला और अंश हैं किन्तु ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् एवं समस्त अवतारोंके अवतारी हैं। अकेले कृष्ण ही सभीके आश्रय और सर्वधाम- स्वरूप हैं। कृष्णके शरीरमें सारा विश्व विश्राम करता है। समस्त शास्त्रोंमें श्रीकृष्णको स्वयं भगवान्, सर्वाश्रय और सर्वेश्वर कहा गया है॥३३॥

कृष्ण और नारायण तत्त्वतः एक होने पर भी
रसकी दृष्टिसे कृष्ण ही श्रेष्ठ हैं—

सिद्धान्ततस्त्वभेदेऽपि श्रीश-कृष्णस्वरूपयोः।
रसेनोत्कृष्यते कृष्णरूपमेषा रसस्थितिः॥३४॥

(श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु-पूर्व विभाग २/३२)

नारायण और कृष्ण दोनोंके स्वरूपमें सिद्धान्ततः कोई भेद नहीं है। तथापि शृङ्गार रसकी दृष्टिसे श्रीकृष्ण-स्वरूप-नारायण स्वरूपसे श्रेष्ठ है। इस रूपमें ही रसतत्त्वकी स्थिति है॥३४॥

कृष्ण ही मूल नारायण हैं,
नारायण—कृष्णके ही विलास विग्रह हैं—

नारायणस्त्वं न हि सर्वदेहिनामात्मास्यधीशाखिल लोकसाक्षी।
नारायणोऽङ्गं नर-भू-जलायनात्-तच्चापि सत्यं न तवैव माया॥३५॥

(श्रीमद्भागवत १०/१४/१४)

(ब्रह्माने गोवत्स हरण करनेके बाद श्रीकृष्णके तत्त्वसे अवगत होकर जो स्तुति की, वह इस प्रकार है)—हे अधीश! आप अखिल लोकसाक्षी हैं। आप जब समस्त जीवोंके आत्मा हैं, तब क्या आप मेरे पिता नारायण नहीं हैं? नरसे उत्पन्न होनेवाले तथा जलमें निवास करनेके कारण जिन्हें नारायण (नार—जल और

अयन—निवास स्थान) कहा जाता है, वे भी आपके एक अंश ही हैं। आपके अंशस्वरूप कारणोदकशायी, गर्भोदकशायी और क्षीरोदकशायी कोई भी मायाके अधीन नहीं हैं, वे मायाधीश हैं—मायातीत परम सत्य हैं॥३५॥

हरिस्त्वेकं तत्त्वं विधि-शिव-सुरेश-प्रणमितः
यदेवेदं ब्रह्म प्रकृतिरहितं तत्तनु महः।
परात्मा तस्यांशो जगदनुगतो विश्वजनकः
स वै राधाकान्तो नवजलद-कान्तिश्चिदुदयः॥३६॥

(दश-मूलशिक्षा)

ब्रह्मा, शिव, इन्द्र द्वारा प्रणमित श्रीहरि ही एकमात्र परमतत्त्व हैं। निःशक्तिक निर्विशेष जो ब्रह्म है, वह श्रीहरिकी अङ्गकान्ति मात्र है। जगत्कर्त्ता जगत्व्यापी जो परमात्मा है, वह श्रीहरिका अंश—वैभवमात्र है। वे ही श्रीहरि हमारे नवनीरद कान्तियुक्त चित्स्वरूप श्रीराधावल्लभ हैं॥३६॥

ब्रह्मरुद्रादि देवता सभी कृष्णके अधीन तत्त्व हैं—

अथापि यत्पादनखावसृष्टं जगद्विरिञ्चोपहृतार्हणाम्भः।
सेशं पुनात्यन्यतमो मुकुन्दात् को नाम लोके भगवत्-पदार्थः॥३७॥

(श्रीमद्भागवत १/१८/२१)

ब्रह्माजीने भगवान्के चरणोंका प्रक्षालन करनेके लिए जो जल समर्पित किया था, वही उनके चरण-नखोंसे निकलकर गंगाजीके रूपमें प्रवाहित हुआ। यह जल महादेवजी सहित सारे जगत्को पवित्र करता है। ऐसी अवस्था में त्रिभुवनमें श्रीकृष्णके अतिरिक्त 'भगवान्' शब्दका दूसरा और क्या अर्थ हो सकता है?॥३७॥

यच्छौचनिःसृतसरित्प्रवरोदकेन तीर्थेन मूर्द्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत्।
ध्यातुर्मनःशमलशैलनिसृष्टवज्रं ध्यायेच्चिरं भगवतश्चरणारविन्दम्॥३८॥

(श्रीमद्भागवत ३/२८/२२)

इन्हींके श्रीचरण धोवनसे नदियोंमें श्रेष्ठ श्रीगङ्गाजी प्रकट हुई हैं, जिनके पवित्र जलको मस्तक पर धारण करनेके कारण स्वयं मङ्गलरूप श्रीमहादेवजी और भी अधिक मङ्गलमय हो गये, जो व्यक्ति उन चरणोंका ध्यान करते हैं, वज्र पड़नेपर पर्वतके समान उनके मनका पाप ध्वंश हो जाता है, अतएव भगवान्के उन्हीं चरणारविन्दोंका सर्वदा चिन्तन करें॥३८॥

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः।

ध्यानावस्थित-तद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः॥३९॥

(श्रीमद्भागवत १२/१३/१)

ब्रह्मा-वरुण-इन्द्र-रुद्र और मरुद्‌गण दिव्य स्तुतियोंके द्वारा जिनके गुणगानमें संलग्न रहते हैं, साम सङ्गीतके मर्मज्ञ ऋषिमुनि अङ्ग, पद, क्रम एवं उपनिषदोंके सहित वेदों द्वारा जिनका गान करते रहते हैं, योगी लोग ध्यानके द्वारा निश्चल एवं तल्लीन मनसे जिनका हृदयमें दर्शन करते हैं एवं सुरासुरगण जिनका अन्त नहीं पा सके हैं, उन्हीं परम देवता श्रीकृष्णको नमस्कार है॥३९॥

असंख्य ब्रह्मार गण आइल ततक्षणे
दश-विश-शत-सहस्रायुत-लक्ष-वदन।
कोट्यर्बुद मुख कारो, ना जाय गणन॥
रुद्रगण आइला लक्षकोटि-वदन।
इन्द्रगण आइला लक्षकोटि-नयन॥

★ ★ ★

आसि' सब ब्रह्मा, कृष्ण-पादपीठ-आगे।
दण्डवत् करिते मुकुट पाद-पीठे लागे॥

★ ★ ★

पादपीठ-मुकुटाग्र-संघट्टे उठे ध्वनि।
पाद-पीठे स्तुति करे मुकुट हेन जानि॥
जोड़ हाते ब्रह्मा-रुद्रादि करये स्तवन।
बड़ कृपा करिले प्रभु देखाइले चरण॥
भाग्य, मोरे बोलाइला दास अङ्गीकरि'।
कोन् आज्ञा हय, ताहा करि शिरे धरि॥४०॥

(चै. च. म. २१/६६-७४)

किसी समय असंख्य ब्रह्मा द्वारिका पुरीमें द्वारिकाधीश श्रीकृष्णका दर्शन करनेके लिए उपस्थित हुए। उनमें किसीके दस, किसीके बीस, किसीके सहस्र, किसीके लक्ष और किसीके करोड़ों मुख थे। उनकी संख्याकी गणना करना असंभव था। उसी समय दस, बीस एवं करोड़ों मुखवाले रुद्र भी उपस्थित हुए। इतनेमें ही उसी प्रकारके मुखवाले करोड़ों इन्द्र भी उपस्थित हुए। वे सभी ब्रह्मा, रुद्र एवं इन्द्र कृष्णके पादपीठके सम्मुख दण्डवत् करने लगे। उस समय उनके रत्न निर्मित मुकुटोंकी ध्वनिसे सारा आकाश मण्डल झंकृत हो गया। मानो वे मुकुट भी कृष्णकी स्तुति कर रहे हों। ब्रह्मा और रुद्र आदि हाथोंको जोड़कर द्वारिकाध ीशका स्तव करने लगे। वे स्तव-स्तुति करनेके पश्चात् बोले—प्रभो! आपने

अपार कृपाकर हमें दर्शन दिया। हमारा परम सौभाग्य है कि आपने हमें यहाँ बुलाया और अपने दासके रूपमें अङ्गीकार किया। आपकी क्या आज्ञा है? हम उस आदेशको सीसपर धारणकर उसका पालन करेंगे॥४०॥

कृष्णके अंशांश द्वारा ही सृष्टि-स्थिति-क्रिया साधित होती है—

यस्यांशांशांशभागेन विश्वोत्पत्तिलयोदयाः।
भवन्ति किल विश्वात्मंस्तं त्वाद्याहं गतिं गता॥४१॥

(श्रीमद्भागवत १०/८५/३१)

जिनके पुरुषरूप अंशसे इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति और प्रलय आदि होता है, मैं उसी विश्वात्मा आदि पुरुषके शणागत होता हूँ॥४१॥

द्विभुज-मुरलीधर वृन्दावनचन्द्र गोपीजनवल्लभ कृष्ण ही स्वयंरूप हैं—

कृष्णोऽन्यो यद्सम्भूतो यः पूर्णः सोऽस्त्यतः परः।
वृन्दावनं परित्यज्य स क्वचित् नैव गच्छति॥४२॥

(लघुभागवतामृत पूर्वखण्ड १६५ यामलवचन)

यदुकुलमें अवतीर्ण वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् नन्दनन्दन श्रीकृष्णसे स्वरूपतः अभिन्न होनेपर भी वे स्वयंरूप ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण वृन्दावन परित्यागकर किसी भी स्थानपर नहीं जाते अर्थात् प्रकट लीलामें द्वारका, मथुरा, कुरुक्षेत्र आदि स्थानोंपर गमनागमन करनेपर भी अप्रकट लीलामें केवल मात्र वृन्दावनमें ही रहते हैं॥४२॥

द्विभुजः सर्वदा सोऽत्र न कदाचित् चतुर्भुजः।
गोप्यैकया युतस्तत्र परिक्रीड़ति नित्यदा॥४३॥

(लघुभागवतामृत पूर्वखण्ड १६५ यामलवचन)

ये स्वयंरूप भगवान् द्विभुज श्रीकृष्ण कभी चतुर्भुज नहीं होते। वे एकमात्र गोपियोंके साथ सदैव वृन्दावनमें क्रीड़ा करते हैं॥४३॥

श्रीकृष्ण-स्वरूप—

कृष्णेर स्वरूप-विचार, शुन, सनातन।
अद्वय-ज्ञान-तत्त्व ब्रजे ब्रजेन्द्रनन्दन॥
सर्व-आदि, सर्व-अंशी, किशोरशेखर।
चिदानन्द-देह, सर्वाश्रय, सर्वेश्वर॥
स्वयं-भगवान् कृष्ण, गोविन्द—'पर'-नाम।
सर्वैश्वर्यपूर्ण जाँ'र गोलोक—नित्यधाम॥४४॥

(चै. च. म. २०/१५२-१५३,१५५)

श्रीचैतन्य महाप्रभु सनातन गोस्वामीको कृष्णस्वरूपका विचार उपदेश करते हुए कह रहे हैं कि ब्रजके प्रसिद्ध श्रीब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण अद्वयज्ञान परतत्त्वकी सीमा हैं। वे किशोरशेखर सबके आदि, सबके अंशी सच्चिदानन्द विग्रह, सर्वाश्रय, सर्वैश्वर्यपूर्ण और सर्वेश्वर हैं। उनके स्वयं भगवान्, श्रीकृष्ण, श्रीगोविन्द, परब्रह्म आदि विविध नाम हैं। गोलोक उनका नित्य-धाम है॥४४॥

वेदोंमें लीला पुरुषोत्तम गोपेन्द्रनन्दनकी कथा—

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचिर्वसान आवरीवर्त्तिभुवनेष्वन्तः॥४५॥

(ऋग्वेद, १म मण्डल, २२ अनुवाक्, १६४ सूक्त, ३१ ऋक्)

गोपवंशमें उत्पन्न एक बालकको देखा, जिसका कभी भी पतन (विनाश) नहीं है। वह कभी अत्यन्त निकट और कभी दूर नाना पथोंमें विचरण करता है। कभी-कभी वह भिन्न-भिन्न प्रकारके वस्त्रोंसे सुसज्जित रहता है, तो कभी पृथक्-पृथक् (एकवस्त्रके) वस्त्रोंसे आवृत रहता है। इस प्रकार वह संसारमें बार-बार अपनी प्रकट और अप्रकट लीलाओंका प्रकाश करता है॥४५॥

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या॥४६॥

(श्रीमद्भागवत ४/३१/१४)

जिस प्रकार वृक्षकी जड़ सींचनेसे उसके तना, शाखा, उपशाखा आदि सभीका पोषण हो जाता है (जड़को छोड़कर पृथक्‌रूपसे विभिन्न स्थानोंपर सिंचन करनेपर वैसा नहीं होता) और जैसे भोजन द्वारा प्राणोंको तृप्त करनेसे समस्त इन्द्रियाँ पुष्ट होती हैं (किन्तु इन्द्रियोंको अलग-अलग अन्न देनेपर वैसा नहीं होता) उसी प्रकार एकमात्र श्रीकृष्णकी पूजा द्वारा ही निखिल देव-पितृ आदिकी पूजा हो जाती है (उनकी अलग-अलग पूजा करनेकी आवश्यकता नहीं होती)॥४६॥

विष्णुको ही सर्वेश्वरेश्वर जानकर अधीनत्व ब्रह्म-रुद्रादि
देवताओंके प्रति भी द्वेष करना उचित नहीं है—

हरिरेव सदाराध्यः सर्वदेवेश्वरेश्वरः।
इतरे ब्रह्मरुद्राद्या नावज्ञेया कदाचन॥४७॥

(पद्मपुराण)

सर्व देवेश्वर श्रीहरि ही एकमात्र सर्वदा आराध्य हैं किन्तु ब्रह्मा, रुद्रादि अन्य देवताओंकी भी अवज्ञा करना उचित नहीं है॥४७॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥४८॥

(गीता १०/८)

मैं वासुदेव ही सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्तिका कारण हूँ, इस प्रकार तत्त्वसे जानकर श्रद्धा और भक्तिसे युक्त हुए, बुद्धिमान भक्तजन मुझ परमेश्वरको ही निरन्तर भजते हैं॥४८॥

एक ही कृष्णके तीन रूप हैं—(क) स्वयंरूप,
(ख) तदेकात्मरूप और (ग) आवेशरूप—

स्वयंरूप, तदेकात्मरूप, आवेश-नाम।
प्रथमेइ तिन रूपे रहेन भगवान्॥४९॥

(क) स्वयं मूर्तिके—दो भेद हैं; (१) स्वयंरूप ब्रजेन्द्रनन्दन
और (२) स्वयं प्रकाश—

'स्वयंरूप', 'स्वयंप्रकाश',—दुइ रूपे स्फूर्त्ति।
स्वयंरूपे—एक 'कृष्ण' ब्रजे गोपमूर्त्ति॥५०॥

(चै. च. म. २०/१६५-१६६)

भगवान् तीन रूपोंमें अवस्थित हैं—स्वयंरूप, तदेकात्मरूप और आवेश॥४९॥

स्वयंरूप दो रूपोंमें प्रकाशित होता है—स्वयंरूप और स्वयं प्रकाश। ब्रजमें विहार करनेवाले गोपरूपमें विराजमान श्रीकृष्ण ही स्वयंरूप हैं। महिषियोंके विवाहके समय जैसे एक ही कृष्णने पृथक्-पृथक् वेश-भूषाओंसे सुसज्जित पृथक्-पृथक् रूपोंमें अपनेको प्रकाशित किया था, जिन विविध मूर्तियोंको प्रकाश किया था, उन्हें प्राभव विलास कहा जाता है॥५०॥

कृष्ण स्वरूपके छह प्रकारके विलासोंमें (२) स्वयं प्रकाशके दो भेद हैं—
(क) प्राभव (ख) वैभव—

(क) प्राभव—प्रकाशरूपमें अनेक प्रकारकी लीला अथवा
विलास जैसे रास और महिषी विवाहमें—

महिषी-विवाहे हैल बहुविध मूर्त्ति।
प्राभव-विलास—एइ शास्त्र परसिद्धि॥५१॥

वैभव प्रकाश—

सेइ वपु, सेइ आकृति पृथक् यदि भासे।
भावावेश-भेदे नाम वैभव-प्रकाशे॥५२॥

(चै. च. म. २०/१६८,१७१)

वही वपु (शरीर), वही आकृति यदि पृथक् रूपमें प्रकाशित होती है, तो भावावेशके भेदसे उसे वैभव प्रकाश कहते हैं॥५१॥

(ख) वैभव-प्रकाश—(१) श्रीबलराम (२) कृष्णरूपी-द्विभुज-वासुदेव या देवकीनन्दन (३) कृष्णरूपी चतुर्भुज-वासुदेव या देवकीनन्दन—

वैभव-प्रकाश कृष्णेर—श्रीबलराम।
वर्णमात्र भेद, सब—कृष्णेर समान॥
वैभव-प्रकाश जैछे देवकी-तनुज।
द्विभुज-स्वरूप कभु, कभु हन चतुर्भुज॥५३॥

(चै. च. म. २०/१७४-१७५)

श्रीबलराम कृष्णके वैभव प्रकाश हैं। सब कुछ कृष्णके समान होनपर भी केवल अंगकान्ति (वर्ण) का भेद है। बलराम गौरवर्ण एवं कृष्ण श्यामवर्णके हैं। वैभवप्रकाशका उदाहरण, देवकीनन्दन कृष्ण हैं। वे कभी द्विभुज कभी चतुर्भुज होते हैं॥५३॥

उक्त चतुर्भुज—उक्त द्विभुजका ही प्रकाश-विग्रह है; ब्रजेन्द्रनन्दनमें गोपाभिमान और वासुदेवमें क्षत्रियाभिमान है; वासुदेवकी अपेक्षा नन्दनन्दनमें चार गुण अधिक हैं—

जे काले द्विभुज, नाम—वैभव-प्रकाश।
चतुर्भुज हैले, नाम—प्राभव-विलास॥
स्वयंरूपेर गोपवेश, गोप-अभिमान।
वासुदेवेर क्षत्रिय-वेश, 'आमि क्षत्रिय' ज्ञान॥
सौन्दर्य, ऐश्वर्य, माधुर्य, वैदग्ध-विलास।
ब्रजेन्द्र-नन्दने इहा अधिक उल्लास॥५४॥

(चै. च. म. २०/१७६-१७८)

जिस समय द्विभुज होते हैं, वे वैभव प्रकाश कहलाते हैं। चतुर्भुज होनेपर प्राभव विलास कहलाते हैं। स्वयंरूपमें गोपवेश और गोप अभिमान रहता है। देवकीनन्दनमें क्षत्रिय वेष और क्षत्रिय अभिमान रहता है। ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णमें सौन्दर्य, ऐश्वर्य, माधुर्य, वैदग्ध, विलास आदि अधिक विद्यमान रहनेके कारण इनके दर्शन और सेवा आदिमें अधिक उल्लास होता है॥५४॥

(ख) तदेकात्मरूप—

सेइ वपु भिन्नाभासे किछु भिन्नाकार।
भावावेशाकृति-भेदे 'तदेकात्म' नाम ताँ'र॥५५॥

(चै. च. म. २०/१८३)

वही वपु भिन्न आभासमें कुछ भिन्न रूपमें होनेपर भावावेश और आकृतिके भेदसे तदेकात्म नाम धारण करता है॥५५॥

इसके दो भेद हैं—(१) विलास (२) स्वांश—

तदेकात्मरूपे 'विलास', 'स्वांश'—दुइ भेद।
विलास-स्वांशेर भेदे विविध विभेद॥५६॥

(चै. च. म. २०/१८४)

तदेकात्मरूप भी विलास और स्वांशके भेदसे दो प्रकारका होता है। और इनके भी अनेक प्रकार होते हैं॥५६॥

विलासके दो भेद—(क) प्राभव (ख) वैभव।

(क) प्राभव विलास—मथुरा और द्वारकापुरीमें आदि-चतुर्व्यूहकी चार मूर्त्ति हैं—

प्राभव-विलास—वासुदेव, सङ्कर्षण।
प्रद्युम्न, अनिरुद्ध,—मुख्य चारिजन॥५७॥

(चै. च. म. २०/१८६)

वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ये चारों प्राभव विलास हैं॥५७॥

उसमें एक मूर्तिमें ही बलराम—ब्रजमें गोपाभिमानी और पुरमें क्षत्रियाभिमानी; वर्ण वेशादि भेद विलास हेतु—

ब्रजे गोप-भाव रामेर पुरे क्षत्रिय-भावन।
वर्ण-वेश-भेद, ताते 'विलास' ताँ'र नाम॥५८॥

(चै. च. म. २०/१८७)

ब्रजमें बलरामका गोपवेष और गोप अभिमान होता है, किन्तु मथुरा और द्वारकामें उनका क्षत्रिय वेष और क्षत्रिय अभिमान होनेपर वे विलासमें परिगणित होते हैं॥५८॥

वैभव-प्रकाशरूपमें और प्राभव-विलास (आदि चतुर्व्युह)—रूपमें भाव भेदसे एक ही बलराम हैं—

वैभव-प्रकाशे आर प्राभव-विलासे।
एकइ मूर्त्ये बलदेव-भाव भेदे भासे॥५९॥

(चै. च. म. २०/१८८)

बलदेव प्रभु एक ही मूर्तिमें भावके भेदसे कभी वैभव प्रकाशमें कभी प्राभव विलासमें प्रकाशित होते हैं॥५९॥

प्राभव विलास आदि चतुर्व्यूह ही समस्त चतुर्व्यूहरूपी
वैभव-विलासोंका कारण है—

आदि चतुर्व्युह केह नाहि इहाँर सम।
अनन्त चतुर्व्युहगणेर प्राकट्य कारण॥६०॥

वे ही पुरके (मथुरा और द्वारका धामके) अधीश्वर हैं—

कृष्णेर एइ चारि प्राभव-विलास।
द्वारका-मथुरापुरे नित्य इहाँर वास॥६१॥

(चै. च. म. २०/१८९-१९०)

प्राभव विलासरूप आदि चतुर्व्यूह सारे चतुर्व्यूहोंरूपी वैभव विलासोंका उद्गमस्थान है। इनके समान कोई भी चतुर्व्यूह नहीं है॥६०॥

कृष्णके चारों प्रकारके प्राभव विलास द्वारिका व मथुरामें नित्य-विराजमान रहते हैं॥६१॥

(२) आदि चतुर्व्यूहसे नाम और अस्त्र वैचित्र्यमें चौबीस मूर्त्तियोंका—
'वैभव विलास'—

एइ चारि हइते चव्विश-मूर्त्ति-परकाश।
अस्त्रभेदे नाम-भेद—वैभव-विलास॥६२॥

(चै. च. म. २०/१९१)

आदि चतुर्व्यूहकी चार मूर्त्तियोंसे चौबीस मूर्त्तियाँ प्रकटित होती हैं। इनमें अस्त्र क्रमके भेदसे नामका भी भेद होता है। ये वैभव विलास कहलाते हैं॥६२॥

(क) पुरसे आदि-चतुर्व्यूहके साथ कृष्णही वैकुण्ठमें द्वितीय चतुर्व्यूहके साथ
नारायणरूपमें विलास-विग्रह—

पुनः कृष्णचतुर्व्यूह लञा पूर्वरूपे।
परव्योम-मध्ये बैसे नारायण-रूपे॥
ताहा हइते पुनः चतुर्व्यूह-परकाश।
आवरणरूपे चारिदिके जाँ'र वास॥६३॥

(चै. च. म. २०/१९२-१९३)

पुनः कृष्ण नारायण स्वरूपमें वैसे ही चतुर्व्यूहके साथ परव्योम वैकुण्ठमें विराजमान रहते हैं। वहाँ पुनः चार व्यूह प्रकाशित होकर उनके चारों ओर आवरणके रूपमें विराजमान होते हैं॥६३॥

(ख) द्वितीय चतुर्व्यूहकी प्रत्येककी तीन मूर्त्ति करके प्रकाश-विग्रह—
१२ मास और १२ तिलकोंकी १२ मूर्त्ति देवता—

चारिजनेर पुनः पृथक् तिन तिन मूर्त्ति।
केशवादि यथा हैते विलासेर पूर्त्ति॥६४॥

(चै. च. म. २०/१९४)

द्वितीय चतुर्व्यूहके चारोंमेंसे प्रत्येकसे और भी तीन-तीन मूर्तियाँ प्रकाशित होती हैं। ये केशव आदि बारह विलासके रूपमें परिगणित होते हैं॥६४॥

स्वांशके मुख्यतः दो रूप हैं—(१) प्रकृतिके अधिष्ठाता-चालक, (२)
साधुओंके पालक और असाधुओंके विनाशक रूपमें नाना अवतार—

सङ्कर्षण-मत्स्यादिक—दुइ भेद ताँ'र।
सङ्कर्षण—पुरुषावतार, मत्स्यादि—अवतार॥६५॥

(चै. च. म. २०/२४४)

स्वांश दो प्रकारके होते हैं—प्रथम—सङ्कर्षण आदि और द्वितीय—मत्स्यकूर्मादि अवतार समूह। महासङ्कर्षणसे तीन प्रकारके पुरुषावतार प्रकटित होते हैं—कारणोदकशायी, गर्भोदकशायी और क्षीरोदकशायी॥६५॥

छह प्रकारके अवतार—

अवतार हय कृष्णेर षड्विध प्रकार।
पुरुषावतार एक, लीलावतार आर॥
गुणावतार, आर मन्वन्तरावतार।
युगावतार, आर शक्त्यावेशावतार॥६६॥

(चै. च. म. २०/२४५-२४६)

कृष्णके छ प्रकारके अवतार हैं—पुरुषावतार, लीलावतार, गुणावतार, मन्वन्तरावतार, युगावतार, शक्त्यावेशावतार। पुरुषावतार तीन होते हैं, लीलावतार—मत्स्य, कूर्म, वराह आदि प्रधानतः चौबीस अवतार हैं। ब्रह्मा, विष्णु और महेश ये तीनों गुणावतार हैं। मन्वन्तरावतार चौदह हैं। युगावतार चार हैं। श्रीनारद, कपिल, पृथु महाराज, परशुराम आदि शक्त्यावेश अवतार हैं॥६६॥

स्वयं भगवान् कौन हैं?—

जाँर भगवत्ता हैते अन्येर भगवत्ता।
'स्वयं भगवान्'—शब्देर ताहातेइ सत्ता॥६७॥

जिसकी भगवत्तासे समस्त भगवद् अवतारोंकी भगवत्ता प्रकाशित होती है, वही स्वयं भगवान् हैं॥६७॥

अवतारी तथा अवतारोंका दृष्टान्त—कृष्ण ही अवतारी हैं—

दीप हैते जैछे बहु दीपेर ज्वलन।
मूल एक दीप, ताहा करिये गणन।
तैछे सब अवतारेर कृष्ण से कारण॥६८॥

(चै. च. आ. २/८८-९०)

जैसे एक प्रदीपसे बहुतसे प्रदीप जलते हैं, उसी प्रकार कृष्णसे सभी अवतार प्रकाशित होते हैं॥६८॥

अवतार व अवतारी अभिन्न हैं—

वासुदेवः सङ्कर्षणः प्रद्युम्नोऽनिरुद्धोऽहं मत्स्यः कूर्मः वराहः नृसिंहो वामनो रामः रामो बुद्धःकल्किरहमिति॥६९॥

(चतुर्वेद-शिखा)

अवतारी स्वयं भगवान् कहते हैं—मैं वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध हूँ, मैं ही बलदेव, मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम और राम हूँ; मैं ही कल्कि तथा मैं ही बुद्ध हूँ॥६९॥

सभी अवतार चिच्छक्तिमान महेश्वर हैं—

नैवेते जायन्ते नैतेषामज्ञानबन्धो न मुक्तिः सर्व एषह्येते पूर्णा अजरा अमृताः परमाः परमानन्द इति॥७०॥

(चतुर्वेद-शिखा)

ये सब अवतार बद्ध जीवोंकी भाँति जन्म ग्रहण नहीं करते; बद्ध जीवोंकी भाँति इनका ज्ञान अज्ञान द्वारा आवृत नहीं होता। ये सभी पूर्ण, अजर अमृत, परतत्त्व तथा परमानन्दस्वरूप हैं॥७०॥

अवतार-काल और प्रयोजन—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥७१॥

(गीता ४/७)

हे भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब मैं अपने रूपको प्रकट करता हूँ॥७१॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥७२॥

(गीता ४/८)

मैं अपने परमभक्त साधु पुरुषोंकी दर्शनकी लालसाको पूर्ण करने, दुःखोंसे रक्षा करने एवं भक्त द्रोहियोंका विनाश और श्रवण-कीर्त्तन आदि नित्य धर्म स्थापन करनेके लिए युग-युगमें प्रकट होता हूँ॥७२॥

विष्णुका कार्य—साधु-परित्राण और दुष्कृत विनाश है,
स्वयं कृष्णका वह कार्य नहीं है। अवतारी कृष्णके अवतरण कालमें
उनके साथ अवतार विष्णुका मिलन—देह स्थित अंश-विष्णु द्वारा
जगत्का भार हरण और पालन-लीला—

स्वयं भगवानेर कर्म नहे भार-हरण।
स्थितिकर्त्ता विष्णु करेन जगत् पालन॥
किन्तु कृष्णेर जेइ हय अवतार-काल।
भारहरण-काल ता'ते हइले मिशाल॥
पूर्ण भगवान् अवतरे जेइ काले।
आर सब अवतार ताँ'ते आसि' मिले॥
अतएव विष्णु तखन कृष्णेर शरीरे।
विष्णुद्वारे कृष्ण करे असुर संहारे॥७३॥

(चै. च. आ. ४/८-१०,१३)

स्वयं भगवान्का कार्य पृथ्वीका भार हरण करना नहीं है। भू-भार हरण करना अथवा जगत्का पालन करना विष्णुका कार्य है किन्तु जिस समय स्वयं भगवान् श्रीकृष्णका अवतार ग्रहण करनेका समय होता है, उसी समय संयोगवशतः भू-भार हरणका भी काल उपस्थित हो गया। पूर्ण भगवान जिस समय अवतरित होते हैं, उस समय सारे अवतार उनमें मिल जाते हैं। इसलिए कृष्णके अवतरित होनेपर विष्णु भी उनके शरीरमें प्रविष्ट रहते हैं। उन विष्णुके द्वारा ही कृष्ण असुरोंका संहार करते हैं॥७३॥

कृष्णके असंख्य अवतार हैं—

अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः।
यथाऽविदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः॥७४॥

(श्रीमद्भागवत १/३/२६)

सूत गोस्वामी शौनकादि ऋषियोंको कहने लगे—हे ब्राह्मणो, जैसे अक्षय सरोवरसे हजारों छोटे-छोटे नाले निकलते हैं, वैसे ही सत्त्वनिधि भगवान् श्रीहरिके असंख्य अवतार हुआ करते हैं॥७४॥

(क) सर्वप्रथम तीन पुरुषावतार—

(१) कारणार्णवशायी, (२) गर्भोदकशायी, (३) क्षीरोदकशायी—

विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः।
एकस्तु महतः स्रष्टृ द्वितीयं त्वण्डसंस्थितम्।
तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते॥७५॥

(लघुभागवतामृत पूर्व खण्ड ५ अङ्क सात्वततन्त्रवचन)

विष्णुके तीन रूप हैं। प्रथम—महत्तत्त्वके स्रष्टा—कारणाब्धिशायी महाविष्णु; द्वितीय—गर्भोदकशायी, समष्टि ब्रह्माण्डान्तर्गत पुरुष; तृतीय—क्षीरोदकशायी, व्यष्टि ब्रह्माण्डान्तर्गत पुरुष—ये प्रत्येक जीवके अन्तर्यामी ईश्वर और परमात्मा हैं। इन तीनों तत्त्वोंको जान लेनेपर जीव जड़ बुद्धिसे मुक्त हो जाता है अर्थात् इन तीनों पुरुषावतारोंको प्रकृतिका स्वामी जान लेने पर जीवोंका पुरुषाभिमान नष्ट हो जाता है। तब उसको इस मूर्त्तिमती-प्रकृतिरूपी स्त्रीके प्रति भोक्ताभिमान नहीं रहता है। तत्काल ही वे भोगमय जड़बुद्धिसे मुक्त हो जाते हैं एवं साधुसङ्गके साथ हरिसेवा करनेका सुयोग प्राप्त करते हैं॥७५॥

प्रपञ्चातीत-धामसे प्रपञ्चमें कृपापूर्वक प्राकट्य अथवा अवतरण ही 'अवतार' है—

सृष्टि-हेतु जेइ मूर्त्ति प्रपञ्चे अवतरे।
सेइ ईश्वरमूर्त्ति 'अवतार' नाम धरे॥
मायातीत परव्योमे सबार अवस्थान।
विश्वे अवतरि' धरे 'अवतार' नाम॥७६॥

(चै. च. म. २०/२६३-२६४)

सृष्टि और सृष्टिका पालन करनेके लिए जो भगवत् स्वरूप जगत्में उतरते हैं—उनको अवतार कहा जाता है। मायातीत वैकुण्ठमें इनकी स्थिति है। इस धराधाममें अवतरित होनेके कारण इनका नाम अवतार हुआ है॥७६॥

(१) सङ्कर्षण ही प्रकृति-वीक्षण और बीजवपनकारी आदि पुरुषावतार हैं—

जगृहे पौरुषं रूपं भगवान् महदादिभिः।
सम्भूतं षोडशकलमादौ लोक-सिसृक्षया॥७७॥

(श्रीमद्भागवत १/३/१)

सृष्टिके आदिमें भगवान् श्रीहरिने लोकोंके निर्माणके लिए सबसे पहले बुद्धि, अहङ्कार एवं पञ्चतन्मात्रसे रचित एकादश इन्द्रिय और पञ्चमहाभूत—ये सोलह कलाएँ जिनमें अंशरूपमें वर्तमान हैं, उन्हीं कारणार्णवशायी नामक आद्य-पुरुषावतार-लीला प्रकट की॥७७॥

**आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य कालः स्वभावः सदसन्मनश्च।
द्रव्यं विकारो गुण इन्द्रियाणि विराट् स्वराट् स्थाष्णु चरिष्णु भूमन्॥७८॥**

(श्रीमद्भागवत २/६/४२)

प्रकृतिके प्रति ईक्षण करनेवाले कारणार्णवशायी पुरुष परव्योमाधिपति भगवान्के प्रथम अवतार हैं। काल स्वभाव आदि उनका कर्म, कार्यकारणात्मक प्रकृति, महत्तत्त्व, महाभूत,अहङ्कारतत्त्व, सत्त्वादिगुण, समष्टि शरीररूप पातालादि, सभी जीव, हिरण्यगर्भ, स्थावरजङ्गमरूप जितनी भी वस्तुएँ हैं, वे सबके सब परमेश्वर सम्बन्धी हैं॥७८॥

**यस्यैकनिःश्वसितकालमथावलम्ब्य
जीवन्ति रोमविलजा जगदण्डनाथाः।
विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥७९॥**

(ब्रह्मसंहिता ५/४८)

ब्रह्मागण एवं समस्त ब्रह्माण्डोंके अधिपतिगण जिनके रोमकूपोंसे जन्म ग्रहणकर उनके निःश्वास काल तक रहते हैं, वे महाविष्णु जिनके अंश अथवा कला हैं, ऐसे आदिपुरुष गोविन्दका मैं भजन करता हूँ॥७९॥

**सहस्र पत्रं कमलं गोकुलाख्यं महत्पदम्।
तत्कर्णिकारं तद्धाम तदनन्तांश सम्भवम्॥८०॥**

(ब्रह्मसंहिता ५/२)

गोकुल सर्वोकृष्ट कृष्णधाम है। वह अनन्तके अंशद्वारा नित्य प्रकटित है। वह गोकुल चिन्मय सहस्रपद दल कमलके समान है। उसकी कर्णिका ही श्रीकृष्णका अपना आवास स्थल है॥८०॥

कारणार्णवशायी पुरुषका अप्राकृत स्वरूप—

**यस्यावयवसंस्थानैः कल्पितो लोकविस्तरः।
तद्वै भगवतो रूपं विशुद्धं सत्त्वमूर्जितम्॥८१॥**

(श्रीमद्भागवत १/३/३)

भगवान्के उस विराट् रूपके अङ्ग प्रत्यङ्गमें ही समस्त लोकोंकी कल्पना की गई है, उन भगवान् श्रीहरिका रजस्तमोहीन विशुद्ध स्वरूप ही सर्वश्रेष्ठ सच्चिदानन्दघन विग्रह है॥८१॥

(१) प्रद्युम्नरूपी द्वितीय पुरुषावतार गर्भोदकशायी—ये ही ब्रह्माण्ड संस्थित समष्टि विष्णु—ब्रह्मा, विष्णु और शिव गुणावतार और मत्स्य, कूर्म, राम, नृसिंहादि लीलावतार के मूल हैं। हिरण्यगर्भ अथवा समस्त प्राणियोंके अन्तर्यामी यही गर्भोदकशायी ही ऋक् सूक्तके स्तवनीय मायाधीश तत्त्व हैं—

ब्रह्मा, विष्णु, शिव—ताँ'र 'गुणावतार'।
सृष्टि, स्थिति, प्रलये तिनेर अधिकार॥
हिरण्यगर्भेर अन्तर्यामी—गर्भोदकशायी।
'सहस्रशीर्षादि' करि' वेदे जाँरे गाइ॥८२॥

(चै. च. म. २०/२९१-२९२)

ब्रह्मा, विष्णु और महेश ये तीन गुणावतार हैं। इन तीनोंको सृष्टि, स्थिति और प्रलय करनेका अधिकार है। गर्भोदकशायी हिरण्यगर्भके अन्तर्यामी हैं। गर्भोदकशायीको वेदोंमें सहस्रशीर्षा आदि कहा गया है॥८२॥

(३) अनिरुद्धरूपी तृतीय पुरुषावतार क्षीरोदकशायी या गुणावतार विष्णु हैं। वे ही समस्त भूतोंमें अर्थात् सभी प्राणियोंके अन्तर्यामी और पालक हैं—

विराट् व्यष्टि-जीवेर तिंहो अन्तर्यामी।
क्षीरोदकशायी, तिंहो पालन-कर्त्ता, स्वामी॥८३॥

(चै. च. म. २०/२९५)

क्षीरोदकशायी विष्णु विराट् और व्यष्टि-जीवोंके अन्तर्यामी हैं। वे जगत्के पालनकर्त्ता और स्वामी भी हैं। विराट्का ताप्तर्य ब्रह्मा और व्यष्टि जीवका तात्पर्य प्रत्येक जीवसे है॥८३॥

त्रिविध गुणावतार—ब्रह्मा, विष्णु और शिव; रजोगुणमें ब्रह्मा,—कभी महत्तम जीवोंके पुरुष-ब्रह्मत्व, कभी उस भावमें गर्भोदकशायी ही हिरण्यगर्भ-ब्रह्मत्व—

भक्तिमिश्रकृत पुण्ये कौन जीवोत्तम।
रजोगुणे विभावित करि' ताँ'र मन॥
गर्भोदकशायीद्वारा शक्ति सञ्चारि'।
व्यष्टि-सृष्टि करे कृष्ण ब्रह्मा-रूप धरि'॥८४॥

(चै. च. म. २०/३०२, ३०३)

भक्तिमिश्र प्रचुर पुण्य करनेवाले किसी जीवात्माके मनको रजोगुणमें विभावितकर तथा अपनी शक्ति संचारितकर गर्भोदकशायी विष्णु जब उसके द्वारा सृष्टि करवाते हैं तब वह उत्तम जीव ब्रह्मा कहलाता है। जिस कल्पमें ब्रह्मा-पदके लिए ऐसा योग्य जीव नहीं मिलता उस समय गर्भोदकशायी विष्णु ही ब्रह्माके रूपमें सृष्टि इत्यादिका कार्य करते हैं॥८४॥

ब्रह्मके भेदाभेद प्रकाश तत्त्वमें उपमा—
अग्नि उत्पादक काँच और सूर्यका दृष्टान्त—

भास्वान् यथाश्मसकलेषु निजेषु तेजः
स्वीयं कियत् प्रकटयत्यपि तद्वदत्र।
ब्रह्मा य एष जगदण्ड-विधान-कर्त्ता
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥८५॥

(ब्रह्मसंहिता ५/४९)

जिस प्रकार मणियाँ सूर्यके तेजके अंशमात्रको ग्रहणकर प्रतिभात होती हैं, उसी प्रकार विभिन्नांशस्वरूप ब्रह्मा जिनसे शक्ति प्राप्तकर जगत्की सृष्टि करते हैं, मैं उन आदि पुरुष गोविन्दका भजन करता हूँ॥८५॥

तमोगुणमें रुद्र; मायाके साथ गर्भोदकशायी ही रुद्रतत्त्व हैं—

निजांश-कलाय कृष्ण तमोगुण अङ्गीकरि।
संहारार्थे मायासङ्गे रुद्ररूपे धरि॥८६॥

कृष्णके स्वांश रूपमें वस्तुतः अभिन्नांश कोटि ईश्वर होकर भी रुद्र मायाके विकारसे जगत् संहारक रूपमें विभिन्नांश जीव—

मायासङ्गे विकारे रुद्र भिन्नाभिन्न रूप।
जीवतत्त्व हय, नहे कृष्णेर स्वरूप॥८७॥

रुद्रके भेदाभेद-प्रकाश तत्त्वकी उपमा—
दुग्ध और दहीका दृष्टान्त—

दुग्ध जेन अम्लयोगे दधिरूप धरे।
दुग्धान्तर वस्तु नहे, दुग्ध हइते नारे॥८८॥

(चै. च. म. २०/३०७-३०९)

अपने अंशके अंश अर्थात् कलाके द्वारा कृष्ण तमोगुण अङ्गीकारकर संहार कार्यके लिए मायाके साथ मिलकर रुद्र रूप धारण करते हैं॥८६॥

मायाका सङ्ग तथा तमोगुणको अङ्गीकार करनेवाला सदाशिवका एक अंश रुद्र कहलाता है। भगवत् तत्त्वसे भिन्न और अभिन्न होनेके कारण रुद्रदेव भिन्नाभिन्न तत्त्व हैं। यह कृष्णका स्वांश तत्त्व नहीं बल्कि जीव तत्त्व हैं। किसी-किसी कल्पमें कृष्ण ही रुद्रका कार्य करते हैं, तब वे स्वांश होते हैं॥८७॥

जैसे अम्लयोगसे दूध ही दहीका रूप धारण करता है, उसी प्रकार विष्णु रुद्र का रूप धारण करते हैं, किन्तु दही दूधके अतिरिक्त कोई पृथक् वस्तु

नहीं है फिर भी दही दूध नहीं हो सकता। इसी प्रकार विष्णुसे ही शिव प्रकाशित हैं, तथापि शिव विष्णु नहीं हैं॥८८॥

ब्रह्मसंहिताका समर्थन वाक्य—

क्षीरं यथा दधि-विकार-विशेष-योगात्
सञ्जायते न तु ततः पृथगस्ति हेतोः।
यः शम्भुतामपि तथा समुपैति कार्यात्
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥८९॥

(ब्रह्मसंहिता ५/४५)

अम्लादि (खटाई)के विकार संयोगसे दूध ही दही रूपमें परिणित हो जाता है; इसलिए दूध से दही का पृथक् अस्तित्व न रहने पर भी दही जिस प्रकार दूधके नामसे परिचित नहीं हो सकता; उसी प्रकार गर्भोदकशायी विष्णु संहार करनेके लिए तमोगुण अङ्गीकार (ग्रहण) करके शम्भु रूपसे अवतीर्ण होते हैं, किन्तु शम्भु गर्भोदकशायी विष्णुसे भिन्न एक स्वतन्त्र ईश्वर नहीं हैं; शम्भु भी विष्णु नामसे परिचित नहीं हो सकते। मैं उन्हीं मायातीत विष्णुके अंशी आदिपुरुष गोविन्दका भजन करता हूँ॥८९॥

रुद्र और विष्णुमें पार्थक्य—

शिव-मायाशक्तिसङ्गी, तमोगुणावेश।
मायातीत, गुणातीत, 'विष्णु'—परमेश॥९०॥

(चै. च. म. २०/३११)

शिव मायाशक्तिका स्पर्श करते हैं तथा उनमें तमोगुणका आवेश होता है; किन्तु विष्णु सदा मायातीत और गुणातीत परमेश्वर हैं॥९०॥

व्यवहारमें रुद्र सर्वदा गुणमाया युक्त हैं—

शिवः शक्तियुतः शश्वत् त्रिलिङ्गोगुणसंवृतः।
वैकारिक-स्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा॥९१॥

(श्रीमद्भागवत १०/८८/३)

शुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! शिवजी सदा मायाशक्तिसे युक्त रहते हैं, वे वैकारिक, तैजस और तामस इन तीन अहङ्कारों द्वारा संवृत्त रहते हैं॥९१॥

विष्णुका गुण-मायातीत और अधोक्षजत्त्व—

हरिर्हि निर्गुणः साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः।
स सर्वदृगुपद्रष्टा तं भजन् निर्गुणो भवेत्॥९२॥

(श्रीमद्भागवत १०/८८/५)

शुकदेवजी पुनः कहते हैं—हे राजन्! भगवान् श्रीहरि प्रकृतिसे परे निर्गुण पुरुष हैं। वे सर्वज्ञ तथा उपदेष्टा हैं। जो उनका भजन करता है, वह स्वयं भी गुणातीत हो जाता है॥९२॥

सत्त्वगुणमें विष्णु गर्भोदकशायीका ही विलास और कृष्णकी कला है—

पालनार्थ स्वांश विष्णुरूपे अवतार।
सत्त्वगुण दृष्टान्त, ताते गुणमाया-पार॥
स्वरूप-ऐश्वर्यपूर्ण, कृष्ण समप्राय।
कृष्ण अंशी, तिंहां अंश, वेदे हेन गाय॥९३॥

(चै. च. म. २०/३१४-३१५)

जगत्का पालन करनेके लिए श्रीकृष्णका स्वांश विष्णुके रूपमें अवतरित होता है। उनके इस पालन कार्यमें सत्त्वगुण दृष्टिगोचर होनेपर भी वे त्रिगुणोंसे सर्वथा अतीत हैं। यद्यपि वे स्वरूपतः कृष्णके प्रायः समान हैं तथा ऐश्वर्यपूर्ण हैं, तथापि कृष्ण अंशी हैं और ये उनके अंश हैं—वेदोंमें ऐसा वर्णित है॥९३॥

दीपकका दृष्टान्त—

दीपार्च्चिरेव हि दशान्तरमभ्युपेत्य
दीपायते विवृतहेतु-समानधर्मा।
यस्तादृगेव हि च विष्णुतया विभाति
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।९४॥

(ब्रह्मसंहिता ५/४६)

हम विष्णु और वैष्णव तत्त्वके आदि पुरुष गोविन्दका भजन करते हैं। दीपकका प्रकाश जिस प्रकार अलग बत्तीसे प्रज्ज्वलित होकर पूर्व दीपककी भाँति समान रूपसे प्रकाश देता है, प्रकाश आदि देनेका धर्म दोनोंकाही समान है। उसी प्रकार गोविन्द पालन आदि कार्यके निमित्त गुणावतार विष्णु रूपमें प्रकटित होनेपर भी ब्रह्मा-रुद्र आदिके समान उनके (विष्णु) साथ स्वयं भगवान् गोविन्दका कोई भेद नहीं रहता अर्थात् विशुद्ध सत्त्वांशमें दोनों ही समान हैं॥९४॥

विष्णु, ब्रह्मा और शिवका स्वरूप; ब्रह्मा और शिव दास तत्त्व हैं एवं कृष्णसे भिन्न आकृति है; विष्णु—ईश तत्त्व हैं और कृष्णके समान आकृति है—

ब्रह्मा, शिव—आज्ञाकारी भक्त अवतार।
पालनार्थे विष्णु-कृष्णेर स्वरूप आकार॥९५॥

(चै. च. म. २०/३१७)

ब्रह्मा और शिव आज्ञाकारी भक्त अवतार हैं; किन्तु विश्वका पालन करनेवाले विष्णु स्वरूपतः कृष्णके स्वरूप-आकार अर्थात् भगवत्-तत्त्व हैं॥९५॥

सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरति तद्वशः।
विश्वं पुरुष-रूपेण परिपाति त्रिशक्तिधृक्॥९६॥

(श्रीमद्भागवत २/६/३२)

ब्रह्माजी कहते हैं—श्रीहरिकी प्रेरणासे मैं इस संसारकी सृष्टि करता हूँ, उन्हींके अधीन होकर शिव इसका संहार करते हैं, त्रिगुण मायाशक्तिधर (अथवा अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग-तटस्थ-शक्तिधर) वे स्वयं ही विष्णुके रूपसे इसका पालन करते हैं॥९६॥

भगवान्की जन्म कर्मादि लीला अप्राकृत और नित्य है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥९७॥

(गीता ४/९)

हे अर्जुन! अचिन्त्य चित्शक्तिके द्वारा मेरा आविर्भाव और कर्म दिव्य है—इसे जो पुरुष तत्त्वसे जानता है, वह देहको त्यागकर संसारमें फिर जन्म नहीं लेता वरन् मुझे ही प्राप्त होता है॥९७॥

कृष्णकी नित्यलीलाके विषयमें श्रुति प्रमाण—

ता वां वास्तून्युश्मसिगमध्यै यत्र गावो भूरिश्रृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भुरि॥९८॥

(१/५४ सूक्त ६ ऋक्)

(ऋक् मन्त्रोंमें भगवान्की नित्यलीला इस प्रकार वर्णित हुई है)—आपके (राधा-कृष्णके) उस धामको प्राप्त करनेकी अभिलाषा करता हूँ, जहाँ प्रशस्त श्रृङ्गविशिष्ट कामधेनु गायें भक्त-वाच्छावत्सल श्रीकृष्णसहित प्रचुर रूपमें शोभायमान हो रही हैं॥९८॥

'अपाणिपादः' का अर्थ प्राकृत-हस्तपदादि रहित अप्राकृत-देहवान्से है—

'अपाणिपादः' श्रुति वर्ज्जे 'प्राकृत' पाणि-चरण।
पुनः कहे—शीघ्र चले, करे सर्व ग्रहण॥९९॥

(चै. च. म. ६/१५०)

अविचिन्त्य शक्ति सम्पन्न भगवान्‌की निरंकुश इच्छा-प्रभावसे ही वे संसारमें अवतीर्ण होते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥१००॥

(गीता ४/६)

मैं अज अर्थात् जन्मरहित, सब प्राणियोंका ईश्वर एवं सच्चिदानन्दमय अविनाशी स्वरूप हूँ। अपनी चित्‌शक्तिका आश्रय लेकर मैं युग-युगमें अपने आद्य चिन्मय रूपमें जीवोंके ऊपर कृपा करनेके लिए अवतरित होता हूँ॥१००॥

अप्राकृत तत्त्व प्राकृत बुद्धिके द्वारा अगम्य है—

अप्राकृत वस्तु नहे प्राकृत-गोचर।
वेद पुराणेते एइ कहे निरन्तर॥१०१॥

(चै. च. म. ९/१९५)

वेद और पुराण पुनः पुनः ऐसी घोषणा करते हैं कि अप्राकृत वस्तु प्राकृत इन्द्रियोंके द्वारा कभी भी नहीं जानी जाती॥१०१॥

अचिन्त्या खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥१०२॥

(महाभारत भीष्म पर्व ५/२२)

जो भाव अचिन्त्य है, उसमें तर्क करना उचित नहीं होता। अचिन्त्यका लक्षण यही है कि वह प्रकृतिसे अतीत है॥१०२॥

"तर्काप्रतिष्ठानात्"॥१०३॥ (ब्रह्मसूत्र २/१/११)

तर्ककी प्रतिष्ठा नहीं है। इसके द्वारा कोई वस्तु स्थापित नहीं की जा सकती है, क्योंकि एक व्यक्ति तर्क और युक्तिसे जिसकी स्थापना करता है, कल उससे अधिक प्रतिभाशाली मनुष्य उसका खण्डन कर देता है। इसलिए तर्ककी अप्रतिष्ठा कही गई है॥१०३॥

अथापि ते देव पदाम्बुजद्वय प्रसादलेशानुगृहीत एव हि।
जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्॥१०४॥

(श्रीमद्भागवत १०/१४/२९)

हे देव! जिन्होंने आपके युगल पादपद्मोंकी थोड़ीसी भी कृपा प्राप्त कर ली है, केवल वे ही आपकी महिमाको जान सकते हैं। किन्तु जो कोई भी ज्ञान वैराग्य आदि साधनरूप अपने प्रयत्नसे बहुत काल तक कितना भी अनुसन्धान करता रहे, वह आपकी महिमाका यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता है॥१०४॥

अनुमान-प्रमाण नहे ईश्वरतत्त्व-ज्ञाने।
कृपा बिना ईश्वर-तत्त्व केह नाहि जाने॥१०५॥
पाण्डित्याद्ये ईश्वरतत्त्व-ज्ञान कभु नहे॥१०६॥

(चै. च. म. ६/८२,८७)

ईश्वर तत्त्वसे अवगत होनके लिए 'अनुमान' प्रमाण नहीं है। कृपाके बिना ईश्वर तत्त्वको कोई भी नहीं जान सकता। पाण्डित्यादिके द्वारा ईश्वर तत्त्व कदापि समझा नहीं जा सकता॥१०५-१०६॥

त्वां शीलरूपचरितैः परमप्रकृष्टैः
सत्त्वेन सात्त्विकतया प्रबलैश्च शास्त्रैः।
प्रख्यात-दैव-परमार्थ-विदां मतैश्च
नैवासुर-प्रकृतयः प्रभवन्ति बोद्धुम्॥१०७॥

(यामुनाचार्यकृत स्तोत्ररत्न १५)

हे भगवन्! आपके अवतार तत्त्वज्ञ परमार्थविद् व्यासादि भक्तगण ही सात्त्विक शास्त्रोंके द्वारा आपके शील, रूप, चरित्र और परम सात्त्विक भावको लक्ष्य करके आपको जान सकते हैं, किन्तु राजस और तामस भाव-विशिष्ट असुर प्रकृतिके जीव आपको जाननेमें समर्थ नहीं हैं॥१०७॥

उल्लंघितत्रिविधसीमातिशायि-
सम्भावनं तव परिव्रढिमस्वभावम्।
मायाबलेन भवतापि निगृह्यमाणं
पश्यन्ति केचिदनिशं त्वदनन्यभावाः॥१०८॥

(यामुनाचार्यकृत स्तोत्ररत्न १६ श्लोक)

हे भगवन्! देश, काल और चिन्ता—इन तीन सीमाओंके द्वारा समस्त वस्तुयें बँधी हुई हैं। किन्तु आपका गूढ़स्वभाव असमोर्द्ध (बराबर भी नहीं और अधिक भी नहीं) होने पर भी उक्त तीनों सीमाओंकी मर्यादाका उल्लंघन कर विद्यमान है। मायाशक्तिके द्वारा आप इस स्वभावको आच्छादित कर देते हैं अर्थात् छिपा लेते हैं। किन्तु आपके अनन्य भक्तगण सर्वदा आपके दर्शन करनेमें सक्षम हैं॥१०८॥

श्रीविग्रह-सच्चिदानन्द अप्राकृत वस्तु है—

ईश्वरेर श्रीविग्रह सच्चिदानन्दाकार।
से विग्रहे कह सत्त्वगुणेर विकार॥

श्रीविग्रह जे ना माने सेइ त' पाषण्ड।
अस्पृश्य अदृश्य सेइ हय यमदण्ड्य॥१०९॥

(चै. च. म. ६/१६६-१६७)

भगवान्‌का श्रीविग्रह सच्चिदानन्द होता है। उस सच्चिदानन्द विग्रहको तुम सब प्रभुका विकार समझ रहे हो। जो श्रीविग्रह नहीं मानते वे पाखण्डी हैं। वे अस्पृश्य, अदृश्य और यमके द्वारा दण्ड भोगने योग्य हैं॥१०९॥

नाम, विग्रह और स्वरूप—एकतत्त्व और सभी सच्चिदानन्दस्वरूप हैं—
श्रीविग्रहके देह-देहीमें भेद नहीं है—

'नाम', 'विग्रह', 'स्वरूप'—तिन एकरूप।
तिने 'भेद' नाहि,—तिन 'चिदानन्दरूप'॥
देह-देहीर, नाम-नामीर कृष्णे नाहि 'भेद'।
जीवेर धर्म-नाम-देह-स्वरूपे 'विभेद'॥
अतएव कृष्णेर 'नाम', 'देह', 'विलास'।
प्राकृतेन्द्रिय-ग्राह्य नहे, हय स्वप्रकाश॥११०॥

(चै. च. म. १७/१३१-१३२,१३४)

भगवन्नाम, भगवद्-विग्रह और भगवत्-स्वरूप तीनों एक ही रूप हैं अर्थात् अभिन्न हैं। ये तीनों ही चिदानन्द-स्वरूप हैं। श्रीकृष्णमें देह-देही और नाम-नामीका भेद नहीं है। जीवके धर्म, नाम, शरीर और स्वरूपमें भेद होता है, इसलिए कृष्णके नाम, देह और विलास प्राकृत इन्द्रियोंके ग्राह्य नहीं है। वे स्वप्रकाश हैं॥११०॥

मूर्ख व्यक्ति ही नित्य सच्चिदानन्दस्वरूपका अनादर करते हैं—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥१११॥

(गीता ९/११)

सभी जीवोंके महेश्वरस्वरूप मेरे परमतत्त्वको नहीं समझ पानेके कारण मूर्खगण मुझे मनुष्य शरीरधारी कहकर मेरी अवज्ञा करते हैं अर्थात् प्राकृत समझते हैं॥१११॥

पूर्णानन्द चित्स्वरूप जगन्नाथ-राय।
ताँ'रे कैले जड़ नश्वर प्राकृतकाय॥
पूर्णषड़ैश्वर्य चैतन्य स्वयं भगवान्।
ताँ'रे कैलि क्षुद्रजीव स्फुलिङ्ग-समान॥

दुइ ठाइ अपराधे पाइबि दुर्गति।
अतत्त्वज्ञ 'तत्त्व' वर्णे तार एइ गति॥
आर एक करियाछ परम-प्रमाद।
देह-देहि-भेद ईश्वरे कैला अपराध॥
ईश्वरेर नाहि कभु देह-देहि-भेद।
स्वरूप देह चिदानन्द नाहिक विभेद॥११२॥

(चै. च. अ. ५/११८-१२२)

श्रीजगन्नाथ स्वयं ही सच्चिदानन्द विग्रहस्वरूप हैं, किन्तु तुमने उनके देहको जड़, नश्वर और प्राकृत माना है। पुनः श्रीचैतन्य महाप्रभु षडैश्वर्यपूर्ण स्वयं भगवान् हैं। तुमने उन्हें स्फुलिङ्गकण जैसा क्षुद्र जीव बना दिया है। तुमने उक्त दोनों स्थानोंमें भीषण अपराध किया है, उससे तुम्हारी बड़ी दुर्गति होगी। अतत्त्वज्ञ व्यक्तियोंकी अप्राकृत तत्त्वके सम्बन्धमें वर्णन करनेसे ऐसी ही दुर्गति होती है। तुमने एक और भी भयङ्कर भूल की है—वह यह कि सच्चिदानन्द भगवत्स्वरूपमें देह-देहीका भेद नहीं होता, किन्तु तुमने भेद माना है॥११२॥

श्रीभगवान्‌की अर्चामूर्त्ति आठ प्रकारकी हैं—

शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता॥११३॥

(श्रीमद्भागवत ११/२७/१२)

भगवान्‌की अर्चा-मूर्त्ति आठ प्रकारकी हैं, जैसे— (१) पत्थरकी, (२) लकड़ीकी, (३) लोहा, स्वर्ण आदि धातुकी, (४) मिट्टीकी, (५) चित्रद्वारा बनाई गई, (६) बालूकी, (७) मनोमयी अर्थात् मन द्वारा निर्मित और (८) मणिमयी॥११३॥

परिशिष्ट

रामादिमूर्त्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्
नानावतारमकरोद्भुवनेषु किन्तु।
कृष्णः स्वयं समभवत् परमः पुमान् यो
गोविन्दामादिपुरुषं तमहं भजामि॥२॥

(ब्रह्मसंहिता ५/४५)

जो परम पुरुष श्रीकृष्ण अपने अंश और कलाओंसे रामादि नानाप्रकारके अवतार धारण करते हैं एवं स्वयं श्रीकृष्णरूपमें अवतीर्ण होते हैं, उन आदिपुरुष गोविन्दका मैं भजन करता हूँ॥२॥

कः परमो देवः इत्याद्यनन्तरम्, (गो. ता. पूर्व ३) "तदु होवाच ब्राह्मणः कृष्णो वै परमं दैवतम्" इत्यादि। उपसंहारे च (गो. ता. पूर्व ५२)—"तस्मात् कृष्ण एव परो देवस्तं ध्यायेत्तं रसयेत्तं यजेदित्यो तत् सत्" इति।

(श्रीकृष्णसंहिता अध्याय ८२)

श्रीसनकादि चारों कुमारोंने पितामह ब्रह्माजीसे पूछा था—परमदेव कौन हैं? श्रीब्रह्माजीने उत्तर दिया—श्रीकृष्ण ही परम देवता हैं। गोपाल तापनीके उपसंहारमें भी ऐसा ही कहा गया है। अतएव सर्वोत्कृष्टता हेतु श्रीकृष्ण ही परम देवता हैं। अतः उनका ही ध्यान, रसन, अर्चन एवं प्रेमपूर्वक भजन करो। वे ही 'ॐ तत् सत्' शब्दत्रयके प्रतिपाद्य हैं॥३॥

अवताराः ह्यसंख्याताः कथिता मे तवाग्रतः।
परं सम्यक् प्रवक्ष्यामि कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्॥४॥

(श्रीकृष्णसंहिता अध्याय ८२)

श्रीब्रह्माजीने देवर्षि नारदसे कहा—हे अनघ! हे निष्पाप! मैंने तुम्हारे निकट असंख्य अवतारोंका वर्णन किया है, अतःपर सार-स्वरूप कहता हूँ—श्रीकृष्ण ही स्वयं भगवान् हैं॥४॥

श्रीकृष्णका रूप वर्णन—

नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय
गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय।
वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणु
लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय॥५॥

(श्रीमद्भागवत १०/१४/१)

श्रीब्रह्माजी कहते हैं—हे जगद्वन्द्य! नवीन मेघके समान श्यामल आपके श्रीअङ्ग हैं, उस पर स्थिर विद्युतके समान झिलमिलाता हुआ आपका पीताम्बर है, आप गोपराज नन्दके नित्य पुत्र हैं। आपके गलेमें गुञ्जाकी माला, कानोंमें मकराकृति कुण्डल तथा सिरपर मोरपंखोंका मुकुट है। इन सबकी कान्तिसे आपके मुखपर अनोखी छटा छिटक रही है। वक्षःस्थलपर लटकती हुई वनमाला और नन्हीसी हथेलीपर दही-अन्नका कवल (कोट), बगलमें वेत और शृङ्गा तथा कमरके फेटेमें

आपका अत्यन्त प्रिय वेणु शोभा पा रहा है। आपके चरणयुगल कमलसे भी सुकोमल हैं। मैं आपका स्तव करता हूँ॥५॥

श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमाल्यबर्ह-
धातुप्रवालनटवेषमनुव्रतांसे।
विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जं
कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासम्॥६॥

(श्रीमद्भागवत १०/२३/२२)

उनके साँवले श्रीअङ्गपर सुनहरा पीताम्बर झिलमिला रहा है। गलेमें लटकती हुई वनमाला, सिरपर मोरमुकुट है। अङ्गोंमें रङ्गीन धातु एवं कोपलोंके गुच्छे धारणकर, नटवर जैसा रूप बना रखा है। एक हाथ अपने सखाके कन्धेपर रखा हुआ है और दूसरे हाथसे नीला कमल नचा रहे हैं। कानोंमें कमलके कुण्डल हैं, कपोलोंपर घुंघराली अलकें लटक रही हैं। और मूखकमलमें मन्द मुस्कान खेल रही है॥६॥

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
विभ्रद् वासः कनककपिशं वैजयन्ती च मालाम्।
रन्ध्रान्वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्त्तिः॥७॥

(श्रीमद्भागवत १०/२१/५)

गोपियाँ मन-ही-मन देखने लगीं की श्रीकृष्ण ग्वालबालोंके साथ आपने श्रीचरणकमलोंसे अंकित श्रीवृन्दावनमें प्रवेशकर रहे हैं। उनके सिरपर मोरपंख है और अल्हड़पनके कारण कानोंमें कनेरका एक फूल है, श्रीअङ्गपर सुनहरा पीताम्बर विराजमान है, गलेमें पांच प्रकारकी सुगन्धित पुष्पोंकी ग्रथित वैजयन्ती माला है। श्रेष्ठ नट जैसा क्या ही सुन्दर वेष है। वेणुके छिद्रोंको वे अपने अधरामृतसे भर रहे हैं। उनके पीछे-पीछे ग्वालबाल उनकी लोकपावन कीर्त्तिका गान कर रहे हैं॥७॥

इति 'गौड़ीय कण्ठहार'में 'कृष्णतत्त्व' वर्णन नामक सप्तम रत्न समाप्त।

U U U

आठवाँ रत्न

शक्ति-तत्त्व

भगवान्‌की अनन्त शक्तियाँ हैं—

कुतः पुनर्गृणतो नाम तस्य महत्तमैकान्तपरायणस्य।
योऽनन्तशक्तिर्भगवाननन्तो महद्‌गुणत्वाद्यमनन्तमाहुः॥१॥

(श्रीमद्भागवत १/१८/१९)

सूत गोस्वामी शौनकादि ऋषियोंको भगवानकी महिमा-कीर्त्तनके प्रसङ्गमें कहते हैं—हे ऋषिगण! जो महापुरुषोंके एकान्त परमाश्रय हैं, उन भगवान् श्रीकृष्णके नामका उच्चारण करनेसे नीच जातिमें उत्पन्न होनेकी मनोव्यथा शीघ्र ही मिट जाती है। इस विषयमें और अधिक क्या कहा जाय! जिनकी शक्ति अनन्त हैं, जो भगवान स्वयं अनन्त हैं, और जिनके गुण समस्त महान वस्तुओंमें हैं, वास्तवमें उनके गुणोंकी अनन्तता के कारण ही उन्हें अनन्त कहा जाता है। उनके नामकीर्त्तन करनेवालेका नीच जातिमें उत्पन्न होना और उसके कारण दुःख प्राप्त होना दूर होगा—इसमें क्या सन्देह है?॥१॥

अनन्तशक्तियोंमें तीन शक्तियाँ प्रधान हैं—

न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते
न तत् समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च॥२॥

(श्वेताश्वतर ६/८)

उन परब्रह्म परमात्माकी कोई भी क्रिया प्राकृत नहीं होती, क्योंकि उनका कोई भी करण—हस्तपादादि इन्द्रियां प्राकृत नहीं होतीं। प्राकृत करणके बिना ही उनकी अप्राकृत लीलाका कार्य होता है। वे अप्राकृत शरीरसे एक ही समय सब जगह विराजमान रहते हैं। इसलिए उनसे बड़ा तो दूर रहे, उनके समान भी कोई दूसरा नहीं दीखता। उन परमेश्वरकी अलौकिकी शक्ति नानाप्रकारकी सुनी जाती है, जिनमें ज्ञानशक्ति, बलशक्ति और क्रियाशक्ति—ये तीन प्रधान हैं। इन तीनोंको क्रमशः चित्-शक्ति या सम्वित्-शक्ति, सत्-शक्ति या सन्धिनी-शक्ति और आनन्द-शक्ति या ह्लादिनी-शक्ति भी कहते हैं॥२॥

अनन्त-शक्ति-मध्ये कृष्णेर तिन शक्ति प्रधान।
इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति, ज्ञानशक्ति नाम॥
इच्छाशक्ति-प्रधान कृष्णेर इच्छाय सर्वकर्त्ता।
ज्ञानशक्ति-प्रधान वासुदेव अधिष्ठाता॥
इच्छा, ज्ञान, क्रिया बिना ना हय सृजन।
तिनेर तीन शक्ति मेलि' प्रपञ्च रचन॥
क्रियाशक्ति-प्रधान सङ्कर्षण बलराम।
प्राकृताप्राकृत सृष्टि करेन निर्माण॥
अहङ्कारेर अधिष्ठाता कृष्णेर इच्छाय।
गोलोक वैकुण्ठ सृजे चिच्छक्ति-द्वाराय॥
यद्यपि असृज्य नित्य चिच्छक्तिविलास।
तथापि सङ्कर्षण-इच्छाय ताहार प्रकाश॥३॥

(चै. च. म. २०/२५२-२५७)

श्रीकृष्णकी अनन्त शक्तियोंमेंसे तीन शक्तियाँ प्रधान हैं—इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति। इच्छा शक्तिके प्रधान कृष्ण हैं। ज्ञान शक्तिके प्रधान वासुदेव हैं। क्रियाशक्तिके प्रधान सङ्कर्षण अथवा बलराम हैं। इच्छा, ज्ञान और क्रियाके बिना सृजनका कोई भी कार्य नहीं होता। उक्त तीनोंकी तीन शक्तियाँ मिलकर प्राकृत-अप्राकृत विश्वकी सृष्टि करती हैं। बलदेव प्रभु प्राकृत और अप्राकृत सभी प्रकारकी सृष्टि करते हैं। अहङ्कारके अधिष्ठाता कृष्णकी इच्छासे वे चित्शक्तिके द्वारा गोलोक और वैकुण्ठका सृजन करते हैं। यद्यपि गोलोक-वैकुण्ठ नित्य एवं चित्शक्तिके विलास स्वरूप हैं, तथापि सङ्कर्षणकी इच्छासे उनका प्रकाश होता है॥३॥

तीन शक्तियोंका परिचय—

कृष्णेर अनन्तशक्ति, ता'ते तिन प्रधान।
चिच्छक्ति, मायाशक्ति, जीवशक्ति नाम॥
अन्तरङ्गा, बहिरङ्गा, तटस्था कहि जारे।
अन्तरङ्गा स्वरूपशक्ति सबार उपरे॥४॥

(चै. च. म. ८/१५१-१५२)

कृष्णकी अनन्त शक्तियोंमें तीन प्रधान हैं—चित्शक्ति, जीवशक्ति और मायाशक्ति। इनको क्रमशः अन्तरङ्गा, बहिरङ्गा और तटस्थाशक्ति भी कहते हैं। इनमें अन्तरङ्गा स्वरूपशक्ति सर्वश्रेष्ठ है॥४॥

सूर्यांश किरण जेन अग्निज्वालाचय।
स्वाभाविक कृष्णेर तिन प्रकार शक्ति हय॥
कृष्णेर स्वाभाविक तिन शक्ति-परिणति।
चिच्छक्ति, जीवशक्ति आर मायाशक्ति॥५॥

(चै. च. म. २०/१०९, १११)

जीव कृष्णकी तटस्थाशक्तिकी परिणति है। जैसे—सूर्य और उसकी अंश किरणें हैं तथा ज्वलन्त अग्नि और उससे निकली हुई चिनगारियाँ हैं, ठीक ऐसे ही कृष्ण और जीवका सम्बन्ध है। कृष्ण और उनकी शक्तिमें भी कोई भेद नहीं है, जैसे—सूर्यसे सूर्यका प्रकाश तथा अग्निसे अग्निका ताप अभिन्न है। कृष्णकी स्वाभाविकरूपमें तीन प्रकारकी शक्तियाँ हैं। उन्हीं तीन शक्तियोंकी परिणति चित्-शक्ति, जीवशक्ति और मायाशक्ति हैं॥५॥

चित्शक्तिके विषयमें श्रुति प्रमाण—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढ़ाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः॥६॥

(श्वेताश्वतर १/३)

ब्रह्मवादी तत्त्वज्ञ ऋषियोंने समाधि योगमें स्थित होकर परब्रह्मके गुणोंसे विभावित होकर अपने गुणोंके द्वारा उन भगवान् की अत्यन्त रहस्यपूर्ण दिव्य और स्वकीय (स्वरूपभूत) शक्तियोंका साक्षात्कार किया, जो निखिल कारणसमूहके एवं जीव, प्रकृति, काल और कर्मके एकमात्र अधिष्ठाता या नियामक हैं॥६॥

चित्शक्तिके विषयमें स्मृति प्रमाण—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥७॥

(गीता ४/६)

मैं अविनाशीस्वरूप अजन्मा होनेपर भी तथा सब भूत-प्राणियोंके ईश्वर होनेपर भी अपनी प्रकृतिको अधीनकर युग-युगमें अपने चिन्मय रूपमें जीवोंपर कृपा करनेके लिए प्रकट होता हूँ॥७॥

जीवशक्तिके विषयमें श्रुति-प्रमाण—

स विश्वकृद् विश्वविदात्मयोनिः
कालकारो गुणी सर्वविद् यः।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः
संसारमोक्षस्थितिबन्ध हेतुः॥८॥

(श्वे. उ. ६/१६)

वे (परमात्मा) विश्वके रचयिता, सर्वज्ञ, आत्मयोनि अर्थात् स्वयं ही अपने प्राकट्यके हेतु, कालके भी महाकाल, सम्पूर्ण दिव्य गुणोंसे सम्पन्न, सबको जाननेवाला, प्रधान (मायाके) अधीश्वर, क्षेत्रज्ञपति, समस्त गुणोंके ईश्वर अर्थात् गुणोंसे अतीत या उनके नियन्ता तथा जन्म-मृत्युरूप संसारमें बाँधने, स्थित रखने और उससे मुक्त करनेवाले हैं॥८॥

जीवशक्तिके विषयमें स्मृति-प्रमाण—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥९॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥१०॥

(गीता ७/४-५)

हे अर्जुन! पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार ये आठ प्रकारकी मेरी अपरा अर्थात् जड़ा प्रकृति है। इसके अतिरिक्त मेरी एक तटस्था प्रकृति भी है, जिसे परा प्रकृति भी कहा जा सकता है। वह प्रकृति चैतन्यरूप और जीवरूप है। उसीसे समस्त जीव प्रकाशित होकर जड़ जगत्को चैतन्यमय किये हुए हैं। मेरी अन्तरङ्गा शक्ति द्वारा प्रकटित चिज्जगत् और बहिरङ्गा-शक्तिसे उत्पन्न जड़ जगत्—इन दोनों जगतोंके लिए उपयोगी होनेके कारण जीव-शक्तिको 'तटस्था' शक्ति कहा जाता है॥९-१०॥

मायाशक्तिके विषयमें श्रुति-प्रमाण—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥११॥

(श्वे. उ. ४/५)

लाल, सफेद और काले रङ्गकी अर्थात् रज, सत्त्व और तम—इन तीनों गुणोंसे युक्त बहुतसे भूत समुदायको प्रकाशित करनेवाली 'सरूपा' अर्थात् भगवान्के समान एक अजाका (अजन्मा, अनादि प्रकृति) एक श्रेणी के अज (अज्ञानी जीव) भजन करते हैं। परन्तु दूसरे प्रकारके अज (ज्ञानी) पुरुष उस भोगी हुई प्रकृतिका सम्पूर्ण रूपसे त्यागकर देते हैं॥११॥

मायाशक्तिके विषयें स्मृति-प्रमाण—

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥१२॥

(गीता ९/८)

मैं अपनी त्रिगुणात्मिका प्रकृति (माया)का आश्रय लेकर इस भूत समुदायकी पुनः पुनः सृष्टि किया करता हूँ। इससे मेरा स्वरूप विकृत नहीं होता। सृष्टि आदि जड़ व्यापारमें मैं स्वरूपतः उदासीन रहता हूँ, अतएव मेरे इच्छावश प्रकृतिके द्वारा ही सृष्टि आदि समस्त कार्य सम्पन्न होते हैं॥१२॥

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्त्तते॥१३॥

(गीता ९/१०)

हे अर्जुन! मैं अपनी इच्छा द्वारा प्रकृतिके प्रति कटाक्ष करता हूँ। इन कार्योंमें मेरी अध्यक्षता है। उसी कटाक्ष द्वारा चालित होकर प्रकृति ही चराचर जगत्को उत्पन्न करती है। इसलिए यह जगत् बार-बार प्रादुर्भूत होता है॥१३॥

माया दो प्रकारकी है—गुणमाया और जीवमाया—

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः॥१४॥

(श्रीमद्भागवत २/९/३३)

स्वरूप तत्त्व ही यथार्थ तत्त्व है। उस तत्त्वके बाहरमें जिसकी प्रतीति होती है एवं उस स्वरूप-तत्त्वमें जिसकी प्रतीति नहीं होती है, उसको ही मेरी माया समझना चाहिए। स्वरूप तत्त्व सूर्यकी भाँति ज्योतिर्मय वस्तु है। उनकी माया दो प्रकारकी है—जीवमाया और गुणमाया॥१४॥

जड़माया योगमायाकी छाया है—

सृष्टि-स्थिति-प्रलय-साधनशक्तिरेका
छायेव यस्य भुवनानि विभर्ति दुर्गा।
इच्छानुरूपमपि यस्य च चेष्टते सा
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥१५॥

(ब्रह्मसंहिता ४४)

स्वरूपशक्ति अर्थात् चित्-शक्तिकी छायास्वरूपा, प्रापञ्चिक जगत्की सृष्टि-स्थिति-प्रलय-साधिनी मायाशक्ति ही संसारकी पूज्या दुर्गा है। जिनके इच्छानुरूप ही वे चेष्टा करती हैं, उन आदिपुरुष गोविन्दका मैं भजन करता हूँ॥१५॥

विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया।
विमोहिता विकत्थन्ते ममाहमिति दुर्धियः॥१६॥

(श्रीमद्भागवत २/५/१३)

यह जड़माया तो लज्जित होकर उनकी (भगवान)की आँखोंके सामने ठहरती ही नहीं, झेंपकर दूरसे ही भाग जाती है। किन्तु संसारके अज्ञानी जन उस माया द्वारा मोहित होकर 'यह मैं हूँ, यह मेरा है'—इस प्रकार बकते रहते हैं॥१६॥

ह्लादिनी, सम्वित् और सन्धिनी—ये तीन शक्तिकी वृत्तियाँ हैं—

ह्लादिनी सन्धिनी सम्वित् त्वयेका सर्वसंस्थितौ।
ह्लादतापकारी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते॥१७॥

(विष्णुपुराण प्रथमांश १२/४८)

हे भगवन्! आप सबके आश्रय हैं। आपकी ह्लादिनी, सन्धिनी और सम्वित्—ये तीन वृत्तियाँ चिन्मय हैं। मायाके वशीभूत होने योग्य चित्कण जीवने मायाके तीनों गुणोंका आश्रय पाकर जो अवस्था प्राप्त की है, उसमें शक्तिके तीन प्रकारके भाव पाये जाते हैं—ह्लादकारी, तापकारी और मिश्रा। किन्तु सर्वगुणातीत आपमें यह शक्ति निर्मला और निर्गुण स्वरूपमें एकाकार है॥१७॥

सच्चित्-आनन्दमय कृष्णेर स्वरूप।
अतएव स्वरूपशक्ति हय तीन रूप॥
आनन्दांशे ह्लादिनी सदंशे सन्धिनी।
चिदंशे सम्वित् जारे ज्ञान करि मानि॥१८॥

(चै. च. म. ८/१५४-१५५)

कृष्णका स्वरूप सच्चिदानन्दमय है। इसलिए उनकी स्वरूपशक्ति तीन रूप धारण करती है। अपने सत् अंशसे सन्धिनी, चिद् अंशसे सम्वित् तथा आनन्द अंशसे ह्लादिनीके रूपमें प्रकट होती है। सम्वित्को ज्ञान भी कहते हैं॥१८॥

कृष्ण ही तीनों शक्तियोंके अधीश्वर हैं—

स्वयन्त्वसाम्यातिशयस्त्र्यधीशः स्वाराज्यलक्ष्म्याप्तसमस्तकामः।
बलिं हरद्भिश्चिरलोकपालैः किरीटकोटीडितपादपीठः॥१९॥

(श्रीमद्भागवत ३/२/२१)

स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण तीनों शक्तियोंके अधीश्वर हैं, उनसे बढ़कर होनेकी बात तो दूर रहे उनके समान भी कोई नहीं है, वे अपने स्वतः सिद्ध ऐश्वर्यसे ही सर्वदा पूर्णकाम हैं। इन्द्र आदि असंख्य लोकपाल नाना प्रकारकी भेंट ला-लाकर अपने-अपने मुकुटोंके अग्रभागसे उनके पादपीठको प्रणाम किया करते हैं॥१९॥

विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथा परा।
अविद्या कर्म संज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते॥२०॥

(विष्णुपुराण ६/७/६१)

विष्णुशक्ति तीन प्रकारकी हैं—परा, क्षेत्रज्ञा और अविद्या संज्ञावाली। विष्णुकी पराशक्ति का नाम चित्-शक्ति, क्षेत्रज्ञा शक्तिका नाम जीवशक्ति और अविद्या शक्तिका नाम माया है॥२०॥

कृष्ण-प्रेयसीगण कृष्णकी शक्ति हैं—

ईश्वरेर शक्ति हय त्रिविध प्रकार।
एक—लक्ष्मीगण, पुरे महिषीगण—आर॥
ब्रजे गोपीगण आर सबाते प्रधान।
ब्रजेन्द्रनन्दन जाते स्वयं भगवान्॥२१॥

(चै. च. आ. १/७९-८०)

भगवान्की शक्तियाँ तीन प्रकारकी होती हैं—वैकुण्ठमें लक्ष्मियाँ, द्वारिकापुरीमें महीषियाँ तथा ब्रजमें गोपियाँ हैं। ये गोपियाँ सर्वश्रेष्ठ हैं। उसी प्रकार सभी भगवत् अवतारोंमें स्वयं भगवान् ब्रजेन्द्रनन्दन श्रेष्ठ हैं॥२१॥

राधिका कृष्णकी पूर्णशक्ति हैं—

राधा—पूर्णशक्ति, कृष्ण—पूर्ण शक्तिमान्।
दुई वस्तु भेद नाहि, शास्त्रपरमाण॥
मृगमद, ता'र गन्ध—जैछे अविच्छेद।
अग्नि, ज्वालाते, जैछे कभु नाहि भेद॥
राधाकृष्ण ऐछे सदा एक-इ स्वरूप।
लीलारस आस्वादिते धरे दुइरूप॥२२॥

(चै. च. आ. ४/९७-९८)

राधा पूर्णशक्ति हैं और कृष्ण पूर्ण शक्तिमान हैं। शास्त्रोंके अनुसार इन दोनोंमें कोई भी भेद नहीं है। जिस प्रकार कस्तूरीसे उसकी गन्ध और अग्निसे तापको अलग नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार राधा और कृष्णको अलग नहीं किया जा सकता। ये दोनों एक ही स्वरूप हैं। केवल लीलारसका आस्वादन करनेके लिए इन्होंने दो रूप धारण किये हैं।२२॥

राधा ही सब लक्ष्मियोंकी अंशिनी हैं—

अवतारी कृष्ण जैछे करे अवतार।
अंशिनी राधा हैते तिन गणेर विस्तार॥
वैभवगण जेन ताँ'र अङ्ग-विभूति।
बिम्ब-प्रतिबिम्ब-रूप महिषीर तति॥

लक्ष्मीगण ताँ'र वैभव-विलासांशरूप।
महिषीगण प्राभव-प्रकाश-स्वरूप॥
आकार-स्वरूप भेद ब्रजदेवीगण।
कायव्यूहरूप ताँ'र रसेर कारण॥२३॥

(चै. च. आ. ४/७६-७९)

जैसे अवतारी कृष्ण नाना प्रकारके अवतार प्रकाश करते हैं, उसी प्रकार अंशिनी श्रीमती राधिकासे ब्रजकी गोपियाँ, द्वारिकाकी महीषियाँ और वैकुण्ठकी लक्ष्मियाँ प्रकाशित होती हैं। श्रीमती राधिका सभी कान्ताओंकी अंशिनी हैं। उनके अंशसे लक्ष्मियों, महीषियों और ब्रजाङ्गनाओंका विस्तार हुआ है। ये सभी कान्ताएँ उनकी अङ्ग विभूतिके रूपमें वैभवके अन्तर्गत परिगणित हैं। बिम्ब और प्रतिबिम्ब रूपमें महीषियोंका विस्तार हुआ है। इस विषयमें यह विचारणीय है कि लक्ष्मियां राधिकाके वैभव विलासांशरूप हैं तथा महीषियाँ उनकी प्राभव-प्रकाशस्वरूप हैं। ब्रजदेवियाँ उनकी अपनी कायव्यूह स्वरूपा हैं। कृष्णको रसास्वादन करानेके लिए ये भिन्न-भिन्न आकारों और स्वरूपोंमें विभक्त हैं। अनेक कान्ताओंके बिना रसका उल्लास नहीं होता, इसलिए रसकी पुष्टिके लिए उनके अनेक स्वरूप प्रकाशित होते हैं। इन सबमें ब्रजरस सर्वोत्तम है। वे नाना प्रकारके भावों, रास आदि विविध प्रकारकी लीलाओंके माध्यमसे कृष्णको विविध प्रकारसे रसास्वादन कराती हैं॥२३॥

परिशिष्ट

को वेत्ति भूमन् भगवन् परात्मन् योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम्।
क्व वा कथं वा कति वा कदेति विस्तारयन् क्रीड़सि योगमायाम्॥१॥

(श्रीमद्भागवत १०/१४/२१)

भगवन्! आप परमात्मा और योगेश्वर हैं। आप अपनी योगमायाका विस्तारकर जब लीला करने लगते हैं, उस समय त्रिलोकीमें ऐसा कौन है, जो यह जान सके कि आपकी लीला कहाँ, किसलिए, कब और कितनी होती है।१॥

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥२॥

(श्रीमद्भागवत १०/२९/१)

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! श्रीकृष्णने वस्त्रहरणके समय ब्रजगोपियोंके निकट स्वीकार किया कि हे अबलाओं! तुम सभीने सिद्धि प्राप्त की है, इस समय

अपने-अपने घरमें जाओ! आगामी रात्रियोंमें मेरे साथ विहार कर सकोगी। वर्तमान शरद ऋतुमें प्रस्फुटित मल्लिका आदि कुसुमोंसे विभूषित उसी रात्रिको उपस्थित देखकर स्वयं भगवान्‌ने योगमाया नामकी अपनी अघटन-घटन-पटीयसी शक्तिका आश्रयकर विहार करनेकी इच्छा की॥२॥

कात्यायनि महामाये महायोगिन्यधीश्वरि।
नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः॥३॥

(श्रीमद्भागवत १०/२२/४)

गोपकुमारियाँ कात्यायनी देवीको सम्बोधनपूर्वक कहती हैं—हे महामाये! हे महायोगिनी! हे सबकी स्वामिनी! आप नन्दनन्दन श्रीकृष्णको हमारा पति बना दीजिए। हम सब आपके चरणोंमें प्रणाम कर रही हैं—इस मन्त्रका जप करती हुई वे कुमारियाँ देवीकी पूजा करती थीं॥३॥

सा तद्धस्तात् समुत्पत्य सद्यो देव्यम्बरं गता।
अदृश्यतानुजा विष्णोः सायुधाष्टमहाभुजा॥४॥

(श्रीमद्भागवत १०/४/९)

परन्तु श्रीकृष्णकी छोटी बहन योगमाया देवी कंसके हाथसे निकलकर ऊपरकी ओर आकाशमें चली गयी और शूल आदि आयुधोंसे युक्त अष्ट भुजाके रूपमें दीख पड़ी॥४॥

इति गौड़ीय कण्ठहारमें 'शक्ति-तत्त्व' वर्णन नामक आठवाँ रत्न समाप्त।

U U U

नवाँ रत्न

भगवद्रस–तत्त्व

कृष्ण ही अखिल रसामृत सिन्धु हैं—

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्तास्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः॥१॥

(श्रीमद्भागवत १०/४३/१७)

श्रील शुकदेवजी कहते हैं—हे परीक्षित महाराज! अखिल रसकदम्बस्वरूप श्रीकृष्णके अनेक रसोंका परिचय देता हूँ, आप सुनें। जिस समय श्रीकृष्ण बलरामजीके साथ रङ्गभूमिमें पधारे, उस समय जो जिस रसमें थे उनको उसी रसमें श्रीकृष्ण दिखाई देने लगे। वीर रस प्रिय पहलवानोंको वे वज्र सदृश कठोर शरीरवाले दिखाई दिये, मधुररस प्रिय स्त्रियाँ मूर्त्तिमान् कामदेवके रूपमें दर्शन करने लगीं। साधारण मनुष्योंको नर–रत्न और गोपोंको स्वजन जान पड़े, भयार्त राजाओंने श्रीकृष्णका दर्शन शासकके रूपमें किया। माता–पिताने सुन्दर शिशुरूपमें दर्शन किया। भोजपति कंसको साक्षात् मृत्युके रूपमें, जड़ बुद्धिवालोंको विराट्रूपमें, शान्त रस प्रिय योगी पुरुषोंको परतत्त्वरूपमें एवं भक्त शिरोमणि वृष्णिवंशियोंको अपने इष्टदेव जान पड़े।

(यहाँ पर श्रीकृष्ण दर्शनसे योगियोंको शान्त, वृष्णियोंको दास्य, हास्यप्रिय गोपबालकोंको सख्य और हास्य, नन्दादि गोपोंको वात्सल्य और करुण, स्त्रियोंको मधुर, मल्लोंको वीर, साधारण मनुष्योंको अद्भुत, भयभीत राजाओंको रौद्र, भोजपति कंसको भयानक, जड़बुद्धिवालोंको वीभत्स रसका उदय हुआ। श्रीकृष्णमें पांच मुख्य रस और सात गौण रस पूर्ण रूपसे विद्यमान हैं। इसीलिए वे अखिल रसामृत मूर्त्ति हैं।)॥१॥

अद्वय ज्ञानस्वरूप परतत्त्व ही रस है—

रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयति॥२॥

(तैत्तिरीय २/७)

वे परमतत्त्व ही रसस्वरूप हैं। उस रसस्वरूपको प्राप्तकर जीव आनन्दका अनुभव करते हैं। यदि वे परमतत्त्व रसरूप-आनन्दस्वरूप नहीं होते तो कौन जीवित रहता और प्राण-रक्षाकी चेष्टा करता? वे ही सबको आनन्द प्रदान करते हैं॥२॥

पाँच भक्तिरस मुख्य हैं—

शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर-रस नाम।
कृष्णभक्ति-रस-मध्ये ए पञ्च प्रधान॥३॥

(चै. च. म. १९/१८५)

कृष्णभक्ति रसोंमें शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर ये पाँच रस प्रधान हैं॥३॥

सात रस गौण हैं—

हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, वीभत्स, भय।
पञ्चविध भक्ते गौण सप्त रस हय॥४॥

(चै. च. म. १९/१८७)

पाँच प्रकारके भक्तोंमें हास्य अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, वीभत्स और भय—ये सात गौण रस होते हैं॥४॥

श्रुतियोंमें शान्त रसका वर्णन—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत॥५॥

(छान्दोग्य ३/१४/१)

ये सब उसी ब्रह्मसे उत्पन्न हुए हैं, उसीमें रहते हैं एवं अन्तिम समय में उसीमें मिल जाएँगे। अतएव हम जो कुछ देखते हैं, सभी ब्रह्म है अर्थात् तत्त्व वस्तुकी दृष्टिसे ब्रह्मके अतिरिक्त द्वितीय कोई वस्तु नहीं है। इसलिए शान्त भावसे उसकी उपासना करना कर्त्तव्य है॥५॥

श्रीमद्भागवतमें शान्तरसका वर्णन—

मुनयो वातवसनाः श्रमणो ऊर्ध्द्धमन्थिनः।
ब्रह्माख्यं धाम ते यान्ति शान्ताः सन्यासिनोऽमलाः॥६॥

(श्रीमद्भागवत ११/६/४७)

दिगम्बर, उर्ध्द्धरेता, भिक्षु, शान्त, शुद्ध, संन्यासी, ऋषिगण (ब्रह्मचर्यादि कष्ट सहन करके किसी प्रकार) ब्रह्मलोकमें गमन करते हैं॥६॥

भगवन्निष्ठा ही शान्त रसका गुण है—

शमो मन्निष्ठताबुद्धेर्दम इन्द्रियसंयमः।
तितिक्षा दुःखसम्मर्षो जिह्वोपस्थजयो धृतिः॥७॥

(श्रीमद्भागवत ११/१९/३६)

मन्निष्ठता (भगवन्निष्ठता) बुद्धिसे ही 'शम' इन्द्रिय संयम 'दम' तितिक्षा, जिह्वा और जननेन्द्रियपर विजय प्राप्त करना धृति है॥७॥

शान्तरसका गुण और स्वरूप—

शान्तरसमें—कृष्णमें निरपेक्षभाव—

स्वर्ग, मोक्ष कृष्णभक्त 'नरक' करि माने।
'कृष्ण-निष्ठा', तृष्णा-त्याग-शान्तेर 'दुइ' गुणे॥
शान्तेर स्वभाव—कृष्णे ममता-गन्ध-हीन।
'परब्रह्म'-'परमात्मा'-ज्ञान-प्रवीण॥८॥

(चै. च. म. १९/२१४, २१७)

कृष्णभक्तोंके लिए स्वर्ग तथा मोक्ष समान है। कृष्णके प्रति निष्ठा एवं विषय तृष्णाओंका त्याग ही शान्त रसके दो गुण हैं। उनमें कृष्णके प्रति ममताकी गन्ध भी नहीं होती। उनमें कृष्णके प्रति परब्रह्म, परमात्माका ज्ञान प्रबल होता है॥८॥

दास्य रसमें—शान्तरस और सेवा—

केवल 'स्वरूपज्ञान' हय शान्तरसे।
'पूर्णेश्वर्य-प्रभु-ज्ञान' अधिक हय दास्ये॥
ईश्वरज्ञान, सम्भ्रम-गौरव प्रचुर।
'सेवा' करि' कृष्णे सुख देन निरन्तर॥
शान्तेर गुणदास्ये आछे,—अधिक 'सेवन'।
अतएव दास्यरसेर एइ 'दुइ' गुण॥९॥

(चै. च. म. १९/२१८-२२०)

शान्तरसमें केवल कृष्णका स्वरूप-ज्ञान होता है। दास्यरसके भक्तोंमें श्रीकृष्ण षडैश्वर्यपूर्ण हैं एवं हमारे प्रभु हैं—यह भाव शान्तरसके भक्तोंकी अपेक्षा अधिक होता है। दास्यरसके भक्त सेवाके द्वारा कृष्णको सुखी करते हैं। शान्तका गुण दास्यरसमें तो है ही, इसके अतिरिक्त उनमें 'सेवा' गुण अधिक होनेके कारण दास्यरसमें ये दो गुण होते हैं॥९॥

श्रीमद्भागतवमें दास्य रसका वर्णन—

इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या दास्यं गतानां परदैवतेन।
मायाश्रितानां नरदारकेण साकं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः॥१०॥

(श्रीमद्भागवत १०/१२/११)

जो ज्ञानियोंके निकट ब्रह्म सुखानुभूतिके रूपमें, दास्य रसके भक्तोंके निकट परदेवताके रूपमें एवं मायाश्रित लोगोंके निकट नरबालकके रूपमें प्रकाशित होते हैं, उन भगवान् श्रीकृष्णके साथ ब्रज गोपबालकों बहुसुकृतिके फलसे सख्य रसमें विहार किया था॥१०॥

भगवद्दास्य महिमा—

त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोऽलङ्कार चर्चिताः।
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेम हि॥११॥

(श्रीमद्भागवत११/६/४६)

श्रीउद्धवने कहा—हे भगवन्! हम आपकी जूठन खानेवाले सेवक हैं। आपके प्रदत्त निर्माल्य, वस्त्र, गन्ध, अलङ्कार आदिको ग्रहण करते-करते हम आपकी माया पर अवश्य ही विजय प्राप्त करेंगे॥११॥

भगवद्दास्यका महत्त्व—

अल्प करि' ना मानिह दास हेन नाम।
अल्प भाग्ये 'दास' नाहि करे भगवान्॥
अग्रे हय मुक्ति, तबे सर्व-बन्ध-नाश।
तबे से हइते पारे श्रीकृष्णेर दास॥१२॥

(चै. च. म. १७/१०३-१०४)

कृष्ण दासकी पदवीको छोटा अथवा हीन नहीं समझना चाहिए। बड़े सौभाग्यवानको ही भगवान् दासके रूपमें ग्रहण करते हैं, यह अल्प भाग्यसे नहीं होता। पहले मुक्ति होती है। तत्पश्चात् सब प्रकारके बन्धन छूट जाते हैं। इसके पश्चात् ही वह सौभाग्यवान जीव श्रीकृष्णका दास हो सकता है॥१२॥

श्रुतियोंमें सख्य रस-वर्णन—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥१३॥

(श्वेताश्वतर ४/६)

क्षीरोदकशायी पुरुष और जीव इस अनित्य संसाररूप पीपलके वृक्षके ऊपर सखाकी तरह वास करते हैं। उन दोनोंमें से एक अर्थात् जीव अपने कर्मके अनुसार उस वृक्षके फलोंको चख रहा है और दूसरा अर्थात् परमात्मा उन फलोंका उपभोग न कर साक्षी स्वरूपमें केवल देख रहे हैं॥१३॥

श्रीमद्भागवतमें विश्रम्भ सख्यरसका उदाहरण—

उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानं पराजितः।
वृषभं भद्रसेनस्तु प्रलम्बो रोहिणीसुतम्॥१४॥

((श्रीमद्भागवत १०/१८/२४)

मल्लयुद्धमें हारे हुए श्रीकृष्णने श्रीदामको अपनी पीठपर चढ़ाया, भद्रसेनने वृषभको और छद्मवेशी प्रलम्बने बलरामजीको पीठ पर चढ़ाया॥१४॥

सख्यरसमें शान्त-क्रोड़ीभूत दास्यरस और विश्रम्भ ममता—

शान्तेर गुण, दास्येर सेवन-सख्ये दुइ हय।
दास्येर सम्भ्रम-गौरव-सेवा सख्ये 'विश्वास'मय॥
कान्धे चढ़े, कान्धे चढ़ाय, करे क्रीड़ा रण।
कृष्णे सेवे, कृष्णे कराय आपन-सेवन॥
विश्रम्भ - प्रधानसख्य—गौरव-सम्भ्रम-हीन।
अतएव सख्य-रसेर 'तिन' गुण—चिह्न॥
'ममता' अधिक, कृष्णे आत्मसम-ज्ञान।
अतएव सख्यरसेर वश भगवान्॥१५॥

(चै. च. म. १९/२२१-२२४)

सख्यमें शान्तकी निष्ठा तथा दास्यका सेवन—इन दोनों गुणोंके अतिरिक्त कृष्णके प्रति संकोच और गौरव-भावरहित विश्वासमय सेवाकी वृत्ति होती है। सखा कृष्णको अपने कन्धेपर चढ़ाता है, कभी कृष्णके कन्धोंपर स्वयं ही चढ़ता है, सब समय निःसंकोच होकर कृष्णके साथ क्रीड़ा करता है, कभी लड़ता-झगड़ता भी है, कभी कृष्णकी सेवा करता है, कभी कृष्णसे अपनी सेवा कराता है, इनमें कृष्णके प्रति अधिक ममता होती है। ये कृष्णको प्राणोंके समान समझकर प्रीतिमय सेवा करते हैं। अतएव इनमें ममतारूप गुण अधिक होता है। इसीलिए श्रीकृष्ण सख्यरसके वशीभूत रहते हैं॥१५॥

वात्सल्यरसमें दास्य-क्रोड़ीभूत सख्यरस और कृष्णमें पाल्यज्ञान—

वात्सल्ये शान्तेर गुण, दास्येर सेवन।
सेइ सेइ सेवनेर इहाँ नाम—'पालन'॥

सख्येर गुण—'असङ्कोच', 'अगौरव' सार।
ममताधिक्ये ताड़न-भर्त्सन-व्यवहार॥
आपनाके 'पालक' ज्ञान, कृष्णे 'पाल्य' ज्ञान।
'चारि' गुणे वात्सल्य-रस—अमृत-समान॥१६॥

(चै. च. म. १९/२२५-२२७)

वात्सल्यमें शान्तकी निष्ठा, दास्यका सेवन, सख्यकी ममता और अधिक रूपमें कृष्णको पाल्य समझकर प्रीतिपूर्वक पालन, ये चार गुण हैं। वात्सल्य रसमें अत्यधिक ममता रहनेके कारण डाँटना-डपटना और शासन करना—ये व्यवहार भी देखे जाते हैं। वात्सल्य भाववाले भक्त कृष्णको पाल्य और अपनेको पालक समझते हैं। इन चार गुणोंसे भरपूर वात्सल्य रस अमृतके समान आस्वादनीय होता है॥१६॥

मधुर रसमें दास्य और सख्य-क्रोड़ीभूत वात्सल्य और निजाङ्ग द्वारा सेवा—
मधुर रससें अवशिष्ट चार रस सम्बद्ध हैं—

मधुर रसे—कृष्णनिष्ठा, सेवा अतिशय।
सख्येर असङ्कोच, लालन-ममताधिक्य हय॥
कान्तभावे निजाङ्ग दिया करेन सेवन।
अतएव मधुर-रसेर हय 'पञ्च' गुण॥
आकाशादि गुण जेन पर पर भूते।
एक दुइ तीन चारि क्रमे पञ्च पृथिवीते॥
एइ मत मधुरे सब भाव समाहार।
अतएव आस्वादाधिक्ये करे चमत्कार॥१७॥

(चै. च. म. १९/२३०-२३३)

मधुर रसमें कृष्ण-निष्ठा, अत्यधिक सेवा, सख्यका असंकोच और गौरवरहित सेवा, वात्सल्यका अत्यधिक ममतायुक्त लालन-पालन—इन चारों गुणोंके अतिरिक्त कान्त-भावसे अपने समस्त अङ्गोंसे सेवा—ये पाँच गुण होते हैं। जिस प्रकार आकाश आदिके गुण वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीमें क्रमशः एक-एक अधिक होते हैं अर्थात् आकाशमें शब्द, वायुमें शब्द और स्पर्श, अग्निमें शब्द, स्पर्श और रूप, जलमें शब्द, स्पर्श, रूप और रस तथा पृथ्वीमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँचों गुण रहते हैं। उसी प्रकार मधुर-रसमें पाँचों गुणोंके कारण अधिक रसास्वाद रहनेके कारण चमत्काररूपमें रसास्वादन होता है तथा अखिल रसोंके रसिक कृष्ण मधुररसके द्वारा सर्वाधिक वशीभूत होते हैं।१७॥

स्थाई भाव या रतिके साथ सामग्री–मिलनसे रसोत्पत्ति,
रति ही मुख्य आधार या रसका मूल है—

प्रेमादि स्थायिभाव सामग्री मिलने।
कृष्णभक्ति–रसरूपे पाय परिणामे॥
विभाव, अनुभाव, सात्त्विक, व्यभिचारी।
स्थायीभाव 'रस' हय एइ चारि मिलि॥१८॥

(चै. च. म. २३/४३–४४)

स्थायी भाव तथा विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और व्यभिचारी इन चार प्रेमकी सामग्रियोंके मिलनेपर भक्ति रसरूपमें परिणत हो जाती है॥१८॥

रसके 'हेतु' दो प्रकारके विभाव हैं—(१) आलम्बन और (२) उद्दीपन—

द्विविध 'विभाव'—आलम्बन, उद्दीपन।
वंशीस्वरादि—उद्दीपन, कृष्णादि—आलम्बन॥१९॥

(चै. च. म. २३/४६)

विभाव दो प्रकारके होते हैं—आलम्बन और उद्दीपन। पुनः आलम्बन—आश्रय और विषय दो प्रकारका होता है। कृष्ण, प्रेमके विषय आलम्बन हैं। दास, सखा, नन्द, यशोदा तथा गोपियाँ आश्रय आलम्बन हैं। कृष्णका रूप, कृष्णका सौन्दर्य, वंशी, वंशीका स्वर ये उद्दीपन हैं॥१९॥

विषय और आश्रय–भेदसे दो प्रकारका आलम्बन है—

कृष्णश्च कृष्णभक्ताश्च बुधैरालम्बना मताः।
रत्यादेर्विषयत्वेन तथाधारतयापि च॥२०॥

(भ. र. सि. १/७)

कृष्ण गौण और मुख्य रसके विषय (सेव्य) हैं एवं कृष्ण–भक्तगण ही रसके आधारस्वरूप हैं। पण्डितगण इन दोनोंको ही आलम्बन कहते हैं॥२०॥

श्रीकृष्ण ही सर्वश्रेष्ठ विषय–जातीय आलम्बन हैं—

सिद्धान्ततस्त्वभेदेऽपि श्रीशकृष्णस्वरूपयोः।
रसेनोत्कृष्यते कृष्णरूपमेषा रसस्थितिः॥२१॥

(भ. र. सि. पू. वि. २/३२)

नारायण और कृष्ण–इन दोनों स्वरूपोंमें सिद्धान्तकी दृष्टिसे कोई भेद नहीं है। तथापि शृङ्गाररसके विचारसे श्रीकृष्ण–रूपकी उत्कर्षता हैं। यही रसका नियम है कि वह कृष्ण–भक्तिके रूपमें ही सुन्दररूपसे अभिव्यक्त होता है॥२१॥

आश्रयोंमें श्रीमती राधिका ही श्रेष्ठ है—

अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः॥२२॥

(श्रीमद्भागवत १०/३०/२८)

हे सखियो! हमारा परित्याग करके श्रीकृष्ण जिसको एकान्तमें ले गये हैं, उसने अवश्य ही हरिकी अधिक आराधना की है। गूढ़ अर्थ यही है कि कृष्ण कान्ताओंमें शिरोमणि होनेसे उसका नाम 'राधिका' हुआ है॥२६॥

कंसारिरपि संसार-वासना-बद्धं-शृंखलाम्।
राधामाधाय हृदये तत्याज व्रजसुन्दरीः॥२३॥

(गीतगोविन्द—३ सर्ग १ श्लोक)

कंसारि कृष्ण सम्पूर्ण साररूप रासलीला-वासना बन्धनकी शृंखलारूपी श्रीराधाको लेकर अन्यान्य व्रजसुन्दरियोंका त्याग कर चले गए॥२३॥

रसके कार्य अनुभावके १३ प्रकारके भेद हैं;
सात्त्विक आठ प्रकारके और रसके 'कार्य'—

'अनुभाव'—स्मित, नृत्य, गीतादि उद्भास्वर।
स्तम्भादि 'सात्त्विक' अनुभावेर भितर॥२४॥

(चै. च. म. २३/५१)

मन्द मुस्कान, नृत्य, गीत आदि उद्भास्वर कहलाते हैं। रोमाञ्च, कम्पाश्रु आदि आठ प्रकारके सात्त्विक भाव हैं। ये सभी अनुभावके अन्तर्गत हैं॥२४॥

रसके 'सहायक'—व्यभिचारी-भाव ३३ हैं—

निर्वेद-हर्षादि-तेत्रिश 'व्यभिचारी'।
सब मिलि 'रस' हय चमत्कार-कारी॥२५॥

(चै. च. म. २३/५२)

निर्वेद, हर्ष आदि तैंतीस प्रकारके व्यभिचारी भाव हैं। ये सब मिलकर परम चमत्कारपूर्ण रसकी संज्ञा प्राप्त करते हैं॥२५॥

परिशिष्ट

यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतम्।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्॥१॥

(श्रीमद्भागवत ३/२/१२)

भगवान्‌ने प्रापंचिक जगतम्‌में अपनी योगमायाके प्रभावसे मर्त्यलीलाके उपयोगी अपना श्रीविग्रह प्रकट किया था, वह श्रीविग्रह इतना सुन्दर था कि उसे देखकर सारा जगत् विस्मित हो जाता था, वे स्वयं भी विस्मित हो जाते थे। उस रूपमें सौभाग्य और सुन्दरताकी पराकाष्ठा थी। वह श्रीरूप भूषणोंका भी भूषण था॥१॥

शान्त रस—

त्वं प्रत्यगात्मनि तदा भगवत्यनन्त आनन्दमात्र उपपन्नसमस्तशक्तौ।
भक्तिं विधाय परमां शनकैरविद्याग्रन्थिं बिभेत्स्यसि ममाहमिति प्ररूढम्॥२॥

(श्रीमद्भागवत ४/११/३०)

मनुने (ध्रुवको) कहा—ऐसा करनेसे सर्वशक्तिसम्पन्न परमानन्दस्वरूप सर्वान्तर्यामी भगवान् अनन्तमें तुम्हारी सुदृढ़ भक्ति होगी और उसके प्रभावसे तुम 'मैं' और 'मेरापन' के रूपमें दृढ़ हुई अविद्याकी गाँठको काट डालोगे॥२॥

दास्य रस—

इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या दास्यं गतानां परदैवतेन।
मायाश्रितानां नरदारकेण साकं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः॥३॥

(श्रीमद्भागवत १०/१२/११)

भगवान् श्रीकृष्ण ज्ञानियोंके लिए ब्रह्मानन्दस्वरूप हैं। दास्यभक्तोंके लिए आराध्यदेव परमेश्वर हैं और मायामोहित विषयान्धोंके लिए केवल एक नर बालक हैं। उन्हीं भगवान्‌के साथ वे महान् सुकृतिशाली ग्वालबाल तरह-तरहके खेल खेल रहे हैं॥३॥

सख्यरस—

उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानं पराजितः।
वृषभं भद्रसेनस्तु प्रलम्बो रोहिणीसुतम्॥४॥

(श्रीमद्भागवत १०/१८/२४)

मल्लयुद्धमें पराजित होकर भगवान् श्रीकृष्ण श्रीदामको, भद्रसेन वृषभासुरको एवं प्रलम्बासुर बलदेव प्रभुको ढोने लगे॥४॥

वात्सल्य रस—

अहोऽतिधन्या व्रजगोरमण्यः स्तन्यामृतं पीतमतीव ते मुदा।
यासां विभो वत्सतरात्मजात्मना यत्तृप्तयेऽद्यापि न चालमध्वराः॥५॥

(श्रीमद्भागवत १०/१४/३१)

हे विभो! जगत्‌के बड़े-बड़े यज्ञ सृष्टिके प्रारंभसे लेकर अब तक आपको पूर्णरूपसे तृप्त नहीं कर सके। आपने व्रजकी गायों और ग्वालिनोंके बछड़े एवं बालक बनकर उनके स्तनोंका अमृत-सा दूध बड़े उमंगसे पीया है। वास्तवमें उन्हींका जीवन धन्य है, वे ही अत्यन्त धन्य हैं॥५॥

गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य रूपं लावण्यसारमसमोर्ध्वमनन्यसिद्धम्।
दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुरापमेकान्तधाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्य॥६॥

(श्रीमद्भागवत १०/४४/१४)

मथुराकी महिलाएँ कह रही हैं—अहो! पता नहीं, गोपियोंने कौनसी तपस्या की थी जो दोनों नेत्रोंसे नित्य-निरन्तर इनकी रूप-माधुरीका पान करती रहती हैं। इनका रूप क्या है, लावण्यका सार है। संसारमें या उससे परे किसीका भी रूप इनके रूपके समान नहीं है, फिर बढ़कर होनेकी तो बात ही क्या है? वह भी किसीके सजानेसे नहीं, स्वयंसिद्ध है। इस रूपको देखते हुए तृप्ति भी नहीं होती। क्योंकि यह प्रतिक्षण नया होता जाता है, नित्य नूतन है। समग्र यश, सौन्दर्य और ऐश्वर्य इसीके आश्रित हैं। सखियो! परन्तु इसका दर्शन तो औरोंके लिए बड़ा ही दुर्लभ है। वह तो गोपियोंके ही भाग्यमें बदा है॥६॥

नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ-
लब्धाशिषां य उदगाद् व्रजवल्लवीनाम्॥७॥

(श्रीमद्भागवत १०/४७/६०)

रासोत्सवके समय श्रीकृष्णने इन व्रजाङ्गनाओंके गलेमें बाँह डालकर इनके मनोरथ पूर्ण किये। इन्हें भगवान्‌ने जिस कृपा-प्रसादका वितरण किया, वैसा भगवान्‌की नित्यसंगिनी वक्षःस्थलपर विराजमान लक्ष्मीजीको भी प्राप्त नहीं हुआ। कमलकी-सी सुगन्ध और कान्तिसे युक्त देवाङ्गनाओंको भी नहीं मिला। फिर दूसरी स्त्रियोंकी तो बात ही क्या करें॥७॥

अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः सख्यः पशूननुविवेशयतोर्वयस्यैः।
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणु जुष्टं यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम्॥८॥

(श्रीमद्भागवत १०/२१/७)

गोपियाँ आपसमें बातचीत करने लगीं—अरी सखी! हमने तो आँखवालोंके जीवनकी और उनकी आँखोंकी बस, यही—इतनी ही सफलता समझी है, और तो हमें कुछ मालूम ही नहीं है। वह कौन-सा लाभ है? वह यही है कि जब श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण और गौरसुन्दर बलराम ग्वालबालोंके साथ गायोंको हाँककर वनमें ले जा रहे हों या लौटाकर व्रजमें ला रहे हों, उन्होंने अपने अधरोंपर मुरली धर रखी हो और प्रेमभरी

तिरछी चितवनसे हमारी ओर देख रहे हों, उस समय हम उनकी मुख-माधुरीका पान करती रहें॥८॥

हन्तायमद्रिरबला हरिदासवर्यो यद् रामकृष्णचरणस्पर्शप्रमोदः।
मानं तनोति सहगोगणयोस्तयोर्यत् पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूलैः॥९॥

(श्रीमद्भागवत १०/२१/१८)

अरी गोपियो! यह गिरिराज गोवर्द्धन तो भगवान्‌के भक्तोंमें बहुत ही श्रेष्ठ है। धन्य हैं इसके भाग्य! देखती नहीं हो, हमारे प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण और नयनाभिराम बलरामके चरणकमलोंका स्पर्श प्राप्त करके यह कितना आनन्दित रहता है! इसके भाग्यकी सराहना कौन करे? यह तो उन दोनोंका—ग्वालबालों और गौओंका बड़ा ही सत्कार करता है। स्नान-पानके लिए झरनोंका जल देता है, गौओंके लिए सुन्दर हरी-हरी घास प्रस्तुत करता है। विश्राम करनेके लिए कन्दराएँ और खानेके लिए कन्द-मूल-फल देता है। वास्तवमें यह धन्य है॥९॥

क्वेमाः स्त्रियो वनचरीर्व्यभिचारदुष्टाः कृष्णे क्व चैष परमात्मनि रूढभावः।
नन्वीश्वरोऽनुभजतोऽविदुषोऽपि साक्षाच्छ्रेयस्तनोत्यगदराज इवोपयुक्त॥१०॥

(श्रीमद्भागवत १०/४७/५९)

कहाँ ये वनचरी आचार, ज्ञान और जातिसे हीन गाँवकी गँवार ग्वालिनें और कहाँ सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्णमें यह अनन्य परम प्रेम! अहो, धन्य है! धन्य है! इससे सिद्ध होता है कि यदि कोई भगवान्‌के स्वरूप और रहस्यको न जानकर भी उनसे प्रेम करे, उनका भजन करे, तो वे स्वयं अपनी शक्तिसे, अपनी कृपासे उसका परम कल्याण कर देते हैं, ठीक वैसे ही, जैसे कोई अनजानमें भी अमृत पी ले, तो वह अपनी वस्तु-शक्तिसे ही पीनेवालेको अमर बना देता है॥१०॥

इति गौड़ीय कण्ठहारमें 'भगवद्रस-तत्त्व' वर्णन नामक नवाँ रत्न समाप्त।

U U U

दसवाँ रत्न

जीव–तत्त्व

सभी जीव हरिके विभिन्नांश तत्त्व हैं—

स्वांश विभिन्नांश–रूपे हइया विस्तार।
अनन्त वैकुण्ठ–ब्रह्माण्डे करेन विहार॥
स्वांश विस्तार—चतुर्व्यूह, अवतारगण।
विभिन्नांश जीव—ताँ'र शक्तिते गणन॥१॥

(चै. च. म. २२/८–९)

स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण स्वांश और विभिन्नांशरूपसे विस्तृत होकर अनन्त वैकुण्ठ और ब्रह्माण्डोंमें विहार करते हैं चतुर्व्यूह अवतारगण स्वांशके अन्तर्गत हैं तथा विभिन्नांश जीव कृष्णकी शक्तिमें परिगणित होते हैं॥१॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥२॥

(गीता १५/७)

हे अर्जुन! मैं सर्वेश्वर हूँ। समस्त जीव मेरे अंश (विभिन्नांश) हैं और नित्य हैं अर्थात् घटाकाशादिकी तरह कल्पित नहीं हैं, परन्तु बद्धदशामें होनेके कारण इस प्रपंचमें मन और पांच इन्द्रियोंके साथ घोर संघर्ष कर रहे हैं॥२॥

जीवात्मा स्वरूपतः चिन्मय है—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥३॥

(गीता २/२०)

जीवात्मा षड्विकार रहित है। इसलिए यह अज अर्थात् जन्म रहित है, नित्य अर्थात् नाशरहित है। उसका न तो जन्म होता है और न ही मृत्यु। बार–बार उसकी उत्पत्ति या वृद्धि भी नहीं होती। उसका क्षय अथवा नाश नहीं होता। वह पुरातन अथच नित्य नवीन है। देहके नाश होने पर भी इसका नाश नहीं होता॥३॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥४॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥५॥

(गीता २/२३-२४)

इस आत्माको अस्त्र-शस्त्रादि नहीं काट सकते, आग नहीं जला सकती तथा जल गला नहीं सकता और वायु सुखा नहीं सकती। क्योंकि यह आत्मा अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है। यह नित्य, सर्वव्यापक, अविकारी, स्थिर रहनेवाला तथा सनातन है॥४-५॥

जीव परमात्मारूप सूर्यके किरण-कण हैं—

यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति। एवमेवास्मदात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति॥६॥

(वृहदारण्यक २/१/२०)

जैसे अग्निसे अनेक क्षुद्र चिनगारियां उड़ती हैं, उसी प्रकार समस्त आत्माओंके भी आत्मास्वरूप श्रीकृष्णसे समस्त जीव उत्पन्न हुए हैं॥६॥

तत्त्व वस्तु—सूर्य सदृश, जीव—उसके किरण कण है—

तत्त्व जेन ईश्वरेर ज्वलित ज्वलन।
जीवेर स्वरूप जैछे स्फुलिङ्गेर कण॥७॥

(चै. च. आ. ७/११६)

ईश्वर-तत्त्व एक ज्वलन्त अग्नि पिण्डके समान है तथा जीव अग्निसे बहिर्गत स्फुलिङ्गके समान है॥७॥

जीव अणु चैतन्य है, श्रुति प्रमाण—

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥८॥

(श्वेताश्वतर ५/९)

जीव जड़-शरीरमें अवस्थित होनेपर भी सूक्ष्म और अप्राकृत तत्त्व है। जड़ीय बालकी नोकके सौ टुकड़ेकर पुनः उनमेंसे एक टुकड़ेके सौ टुकड़े करनेपर उनमें एक भाग जितना सूक्ष्म हो सकता है, उससे भी जीव अधिक सूक्ष्म होता है। इतना सूक्ष्म होनेपर भी जीव अप्राकृत वस्तु है तथा आनन्त्य धर्मके योग्य होता है, अन्त अर्थात् मृत्यु, मृत्युसे रहित होना ही 'आनन्त्य' अर्थात् मोक्ष है॥८॥

अणुर्ह्येष आत्मायं वा एते सिनीतः पुण्यं चापुण्यञ्च॥९॥

(२/३/१८ सूत्रमें मध्व भाष्योद्धृत गौपवन-श्रुतिवाक्य)

यह आत्मा अणु है, पाप-पुण्यादि इसका आश्रय ले सकते हैं॥९॥

**एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष
आत्मा॥१०॥**

(मुण्डक ३/१/९)

यह आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म है। विशुद्ध हृदयमें ही इसकी उपलब्धि होती है। प्राणवायु—प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान—इन पाँचोंमें विभक्त होकर जिस शरीरमें प्रविष्ट रहती है, जिस चेतनाशक्ति द्वारा प्राणियोंकी समस्त इन्द्रियोंमें व्याप्त है, वही आत्मा विशुद्ध चित्तमें प्रकाशित होती है॥१०॥

अणु चैतन्य जीवके देहमें व्याप्त है—

**यथा प्रकाशा यत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥११॥**

(गीता १३/३४)

हे भारत! जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा चेतन धर्म द्वारा सम्पूर्ण क्षेत्रको प्रकाशित करती है॥११॥

वेदान्त प्रमाण—

गुणाद्वालोकवत्॥१२॥

(ब्रह्मसूत्र २/३/२६)

जिस प्रकार दीपकका प्रकाश एक स्थानमें रहकर सारे घरको आलोकित करता है, उसी प्रकार आत्मा भी शरीरके एक क्षेत्रमें रहकर भी अपनी चेतन-शक्ति द्वारा सर्वदेहव्यापी होकर रहती है॥१२॥

बद्ध और मुक्त भेदसे जीव दो प्रकारके हैं—

सेइ विभिन्नांश जीव—दुइ त प्रकार।
एक—'नित्यमुक्त', एक—'नित्य संसार'॥
'नित्यमुक्त'—नित्य कृष्ण चरणे उन्मुख।
'कृष्णपारिषद'—नाम, भुञ्जे सेवासुख॥
'नित्यबद्ध'—कृष्ण हैते नित्य-बहिर्मुख।
नित्यसंसार, भुञ्जे, नरकादि-दुःख॥
सेइ दोषे माया-पिशाची दण्ड करे तारे।
आध्यात्मिकादि तापत्रय तारे जारि' मारे॥१३॥

(चै. च. म. २२/१०-१३)

विभिन्नांश जीव दो प्रकारके होते हैं—प्रथम नित्यमुक्त और द्वितीय नित्यसंसार अर्थात् नित्यबद्ध। नित्यमुक्त जीव नित्यकाल कृष्णकी सेवामें उन्मुख रहते हैं तथा सेवासुखका आस्वादन करते हैं, वे कृष्णके परिकर (पार्षद) कहलाते हैं। नित्यबद्ध जीव कृष्णसे नित्य बहिर्मुख रहकर संसारमें स्वर्ग और नरक आदि सुख-दुःखका भोग करते हैं। कृष्ण बहिर्मुखतारूप दोषके कारण पिशाची माया उनको स्थूल और लिङ्ग आवरणोंसे बद्धकर दण्ड प्रदान करती है, अर्थात् आध्यात्मिक आदि त्रितापोंसे दग्ध करती है। [यहाँ विभिन्नांशका तात्पर्य समझ लेना चाहिए—सर्वशक्ति समन्वित कृष्णके अंश स्वांश कहलाते हैं। केवलमात्र तटस्थाशक्तियुक्त भगवान्के अंश विभिन्नांश कहलाते हैं। जीव सीधा कृष्णका अंश नहीं है, बल्कि कृष्णकी तटस्थाशक्ति जीवोंके रूपमें परिणत होती है। इसलिए वे तटस्थाशक्तिके परिणाम होनेसे विभिन्नांश कहलाते हैं। स्वांश भगवत् तत्त्व हैं, जीव भगवत् तत्त्व नहीं है, शक्ति तत्त्व है]॥१३॥

जीवके स्वरूपके विषयमें श्रीमहाप्रभुका सिद्धान्त—

जीवेर 'स्वरूप' हय कृष्णेर 'नित्यदास'।
कृष्णेर 'तटस्था-शक्ति' 'भेदाभेद प्रकाश'॥
सूर्यांशु-किरण, येन अग्निज्वालाचय।
स्वाभाविक कृष्णेर तिन प्रकार 'शक्ति' हय॥१४॥

(चै. च. म. २०/१०८-१०९)

कृष्णकी स्वाभाविक शक्ति तीन प्रकारकी है। जीव कृष्णकी तटस्था शक्ति है। कृष्णके साथ जीवका भेद-अभेद प्रकाशरूपी सम्बन्ध है। जीव सूर्यरूप कृष्णका अंश अर्थात् किरण है अथवा अग्निसे निकली हुई चिनगारीके समान है॥१४॥

जीव—कृष्णका नित्य दास है—

स ब्रह्मकाः स रुद्राश्च सेन्द्रो देवा महर्षिभिः।
अर्च्चयन्ति सुरश्रेष्ठं देवं नारायणं हरिम्॥१५॥

(प्रमेयरत्नावली ५/२ धृत महाभारत-वाक्य)

बहुतसे ब्रह्मा, बहुतसे रुद्र, बहुतसे इन्द्र, बहुतसे महर्षियोंके साथ सभी देवता भगवान् श्रीनारायण हरिकी अर्चना करते हैं॥१५॥

जीव—कृष्णकी तटस्था शक्ति है—

तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवत इदञ्च परलोक स्थानञ्च सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानं तस्मिन् सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यतीदञ्च परलोकस्थानञ्च।१६॥

(वृहदा० ४/३/९)

उस पुरुषके अर्थात् जीवात्माके दो स्थान हैं—जड़-जगत् और अनुसन्धेय चित्-जगत्। जैसे जाग्रत अवस्था और सुसुप्त अवस्थाका सन्धिस्थल—स्वप्नावस्था एक तृतीय अवस्था है, वैसे ही जीव इन दोनोंके सन्धि स्थलरूप तृतीय स्वप्न-स्थानमें स्थित है। वह उस सन्धि स्थानमें स्थित होकर जड़-जगत् और चित्-जगत्—दोनों स्थानोंको देखता है॥१६॥

जीव—ईश्वरका भेदाभेद-प्रकाश है—

'मायाधीश' 'मायावश' ईश्वरे जीवे भेद।
हेन जीवे ईश्वर-सह कह त' अभेद॥
गीताशास्त्रे जीवरूप 'शक्ति' करि माने।
हेन जीवे भेद कर ईश्वरेर सने॥१७॥

(चै. च. म. ६/१६२-१६३)

ईश्वर और जीवमें भेद है। ईश्वर मायाधीश हैं, किन्तु जीव मायाके अधीन होता है अर्थात् मायावश्य है। ऐसे जीवको ईश्वर या ईश्वरके समान मानना अथवा ईश्वरसे अभिन्न मानना अपराध है। श्रीमद्भगवद्गीतामें जीवको शक्ति माना गया है। ऐसे जीवको ईश्वरसे भिन्न मान रहे हो, यह घोर अपराध है॥१७॥

भगवान्-मायाधीश, जीव-मायावशयोग्य—

भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले।
अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायाञ्च तदपाश्रयाम्॥१८॥

(श्रीमद्भागवत १/७/४)

भक्तियोगके प्रभावसे शुद्ध मनको पूर्णतया एकाग्रकर श्रीव्यासदेवजीने आत्मगत सहज समाधिमें कान्ति, अंश तथा स्वरूपशक्तिसे समन्वित श्रीकृष्णको एवं उनके पीछे गर्हित भावसे स्थित उनके आश्रित मायाको देखा॥१८॥

यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम्।
परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतं चाभिपद्यते॥१९॥

(श्रीमद्भागवत १/७/५)

इसी मायासे मोहित होकर यह जीव तीनों गुणोंसे अतीत होनेपर भी अपनेको त्रिगुणात्मक अर्थात् सृष्टि, स्थिति और लयके अन्तर्गत 'प्राकृत' कहकर अभिमान करता है और इस त्रिगुणजात अभिमानके कारण ही होनेवाले अनर्थोंको भोगता है॥१९॥

जीवके बहुत्व और भेदका नित्यत्त्व—

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥२०॥

(कठ २/२/१३)

जो समस्त नित्य वस्तुओंमें परम नित्य हैं अर्थात् श्रेष्ठ नित्य वस्तु हैं एवं समस्त चेतन वस्तुओंमें वे चैतन्यदाता मूल चेतन हैं, वे एक होकर भी सबकी कामना पूर्ण करते हैं। जो बुद्धिमान् व्यक्ति उस परमात्माको आत्मस्थ अर्थात् अपने अन्दर दर्शन करता है, वही नित्य और शाश्वती शान्तिको प्राप्त कर सकता है, दूसरे नहीं॥२०॥

एकस्मादीश्वरान्नित्याच्चेतनात्तादृशामिथः ।
भिद्यन्ते बहवो जीवास्तेन भेदः सनातनः॥२१॥

(प्रमेय रत्नावली ४/५)

(पूर्वोक्त श्रुति अर्थकी रचनाकरके कहते हैं)—एक नित्य और चेतन ईश्वरसे अनेक नित्य और चेतन जीव परस्पर भिन्न हैं। अतः ईश्वरसे जीव सनातन कालसे भिन्न है, यही सिद्धान्त है॥२१॥

शुद्धद्वैत मतसे 'जीव' और 'ईश्वर' भिन्न हैं—

यथा समुद्रे बहवस्तरङ्गास्तथा वयं ब्रह्मणि भूरि जीवाः।
भवेत् तरङ्गो न कदाचिदब्धि स्त्वं ब्रह्म कस्माद्भवितासि जीव॥२२॥

(तत्त्वमुक्तावली १०)

रे जीव! जिस प्रकार समुद्रमें असंख्य लहरें हैं उसी प्रकार मेरे भी चित्समुद्र-स्वरूप ब्रह्ममें अनन्त जीव अवस्थित हैं। जब लहरें कभी भी समुद्र नहीं कही जा सकतीं, तब भला तुम किस प्रकार स्वयंको ब्रह्म प्रमाणित करोगे?॥२२॥

जीव और ईश्वरका भेद नित्य है—

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥२३॥

(गीता १४/२)

(भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं,)—इस ज्ञानके आश्रित पुरुष मेरे समान धर्म अर्थात् निर्गुणताको प्राप्तकर सृष्टिके समय जड़ जगत्में जन्म नहीं लेते और न ही प्रलयके समय व्याकुल होते हैं॥२३॥

अभेद—श्रुतिका तात्पर्य—

प्राणैकाधीन-वृत्तित्वाद् वागादेः प्राणता यथा।
तथा ब्रह्माधीनवृत्तेर्जगतो ब्रह्मतोच्यते॥२४॥

(प्रमेयरत्नावली ४/६)

न वै वाचो न चक्षूंषि न श्रोत्राणि न मनांसीत्याचक्षते।
प्राण इत्याचक्षते, प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति॥२५॥

(छान्दोग्य ५/१/१५)

(श्रुतियोंमें जहाँ अभेद सूचक वाक्य हैं अर्थात् 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'तत्त्वमसि'—इन सभी निर्विशेष सूचक वाक्योंकी सङ्गति किस प्रकार होगी? इसके उत्तरमें कहते हैं)— जिस प्रकार प्राणके अधीन होनेके कारण वागादि इन्द्रियोंको भी प्राण शब्दसे लक्ष्य किया जाता है अर्थात् इन्द्रियाँ प्राणस्वरूप हैं, उसी प्रकार चित् तथा जड़ जगत् भी ब्रह्मके अधीन होनेके कारण ब्रह्म शब्द वाच्य हैं। किन्तु, जिस प्रकार वाक्, चक्षु, कर्ण, नासिका आदि इन्द्रियाँ मुख्य प्राण नहीं हैं, उसी प्रकार जीव तथा जगत् भी साक्षात् ब्रह्म नहीं है। छान्दोग्य उपनिषद्में वर्णन है—सभी वाक्य, दोनों नेत्र, इन्द्रियाँ और मन उस-उस नामसे नहीं कहे जाते है, वे सब ही 'प्राण' नामसे कहे जाते हैं, इसलिए प्राण ही इन सब वागादि इन्द्रियोंके नियन्ता हैं॥२४-२५॥

शङ्कराचार्य भी वस्तुतः भेदवादी हैं—

श्रीसूत्रकारेण कृतो विभेदो यत्कर्म कर्त्तुर्व्यपदेश उक्तः।
व्याख्या कृता भाष्यकृता तथैव गुहां प्रविष्टाविति भेद वा क्यैः॥२६॥

(तत्त्वमुक्तावली ५८)

'कर्मकर्त्तुर्व्यपदेशाच्च' (ब्रह्मसूत्र १/२/४) इस सूत्रमें सूत्रकार वेदव्यासजीने जीव और ब्रह्मका नित्य भेद स्वीकार किया है। भाष्यकार शङ्कराचार्य भी "ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके, गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे" (कठ १/३१)—इस वचनको लक्ष्य करके "गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्"—(ब्रह्मसूत्र १/२/११) इस सूत्रके अर्थ विचारमें पूर्वपक्ष उठाते हैं—'आत्मानौ' शब्दसे 'बुद्धि' 'जीव' अथवा जीव और परमात्मा क्या समझेंगे? सिद्धान्त नियत करते हैं कि विज्ञानात्मा और परमात्माको ही स्वीकार करना होगा। अतएव शङ्कराचार्य महाशयने वस्तुतः सूत्रकारके भेद मतको ही स्वीकार किया है॥२६॥

यदि बल शङ्करेर मत सेह नहे।
ताँर अभिप्राय दास्य ताँरि मुखे कहे॥
यद्यपिह जगते ईश्वरे भेद नाइ।
सर्वमय- परिपूर्ण आछे सर्व-ठाञि॥
तबु तोमा, हइते से हइयाछि 'आमि'।
आमा, हइते नाहि कभु हइयाछ तुमि॥

येन समुद्रेर से 'तरङ्ग' लोके बले।
तरङ्गेर समुद्र, ना हय कोन- काले।
अतएव जगत् तोमार, तुमि पिता॥
इहलोके परलोके तुमि से रक्षिता।
याहा हैते हय जन्म, जे करे पालन।
ता' रे जे ना भजे, बर्ज्य हय सेइ जन॥
एइ शङ्करेर वाक्य— एइ अभिप्राय।
इहा ना जानिया माथा कि कार्ये मुड़ाय?॥२७॥

(चै. भा. अ. ३/४७, ४९–५४)

शङ्कराचार्यने स्पष्टरूपसे ऐसा नहीं कहा है कि कृष्ण भजन करना ही नित्य-धर्म है। तथापि उन्होंने स्वयंको समुद्रका तरङ्ग माना है। तरङ्ग पूर्ण समुद्र नहीं है बल्कि समुद्रका क्षुद्र अंश है; यही उनका विचार है। जड़ जगत्का भेद अथवा मायाबद्धता दूर होनेसे ही मुक्ति हो सकती है, अर्थात् स्थूल और लिङ्ग आवरण हट जानेके बाद अपने शुद्धस्वरूपमें स्थित हो जाना ही मोक्ष या मुक्ति है। इसलिए कहीं-कहीं आचार्य शङ्करके मतमें भी भक्तिका विरोध नहीं देखा जाता। शङ्करके मतका अनुसरण करनेवाले मायावादी, आचार्य शङ्करके निगूढ़ अभिप्रायको न समझकर केवलमात्र शिखा-सूत्र त्याग और एक दण्ड धारणरूप बाह्य वेशको धारणकर अपनेको मुक्त होनेका अभिमान करते हैं। शिखा-सूत्र त्याग और एक दण्ड ग्रहणकी अपेक्षा श्रीमद्भागवतमें कहे गये त्रिदण्डि भक्तका विचार ग्रहण करनेसे कृष्णभक्ति उज्ज्वल होती है। श्रीसार्वभौम भट्टाचार्यके इन विचारोंको सुनकर श्रीगौरसुन्दर अत्यन्त आनन्दित हुए। श्रीकृष्ण ही जगत्के पालक हैं, लोक और परलोककी रक्षा करनेवाले हैं, उन्हींसे जन्म होता है तथा वे ही सबके पालक हैं। जो लोग ऐसे कृष्णकी सेवा नहीं करते, वे सब प्रकारसे वर्जनीय हैं—आचार्य शंकरकी युक्तियोंका यही गूढ़ तात्पर्य है, उनके इस गूढ़ अभिप्रायको न समझकर केवल मस्तक मुण्डन करानेसे कुछ सुफल नहीं होता॥२७॥

कृष्ण-विमुखता ही जीवकी अविद्या या क्लेशका मूल है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥२८॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो ह्यनीशया शोचतिमुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमेति वीतशोकः॥२९॥

(मुण्डक ३/१/१–२, श्वेताश्वः ४/६–७)

क्षीरोदकशायी पुरुष और जीव इस अनित्य संसाररूप पीपलके पेड़पर दो मित्रों (सखाओं) की भाँति निवास कर रहे हैं, उनमेंसे एक अर्थात् जीव अपने कर्मोंके अनुसार पीपलके फलोंका आस्वादन कर रहा है और दूसरा अर्थात् परमात्मा फलका भोग न कर साक्षीके रूपमें केवल देख रहा हैं॥२८॥

जीव और अन्तर्यामी परमात्मा—ये दोनों तत्त्व एक ही देहरूप वृक्षपर निवास करते हैं। जीव-तत्त्व माया द्वारा मोहित होकर देहात्मबुद्धिके वश होनेके कारण असमर्थ होकर शोक करता है। जब सद्गुरुकी कृपासे वह अनन्य भक्तों द्वारा सेवित अपनेसे भिन्न परमेश्वरका दर्शन करता है तथा उनकी महिमा श्रवण करता है, तब सर्वथा शोकरहित हो जाता है॥२९॥

स्थूल और लिङ्ग देहमें आत्माभिमानके कारण सांसारिक क्लेश हैं—

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
दंद्रह्यमाणाः परियन्ति मूढ़ा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥३०॥

(कठ १/२/५)

जो अविद्यामें रहकर स्वयंको धीर और पण्डित मानते हैं, वे कुटिल स्वभावविशिष्ट अविवेकीगण दुर्गम पथपर अन्धोंके द्वारा परिचालित होकर अन्धोंकी भाँति अधःपतित होते हैं॥३०॥

कृष्ण भूलि सेइ जीव—अनादि बहिर्मुख।
अतएव माया तारे देय संसार दुःख॥
कभु स्वर्गे उठाय, कभु नरके डुबाय।
दण्ड्य जने राजा जेन नदीते चुबाय॥३१॥

(चै. च. म. २०/११७-११८)

जीव कृष्णको भूलकर अनादि कालसे ही बहिर्मुख है। इसीलिए माया जीवोंको विविध प्रकारके सांसारिक दुःख प्रदान करती है। वह उसे कभी स्वर्ग ले जाती है तो कभी नरकमें डुबाती है, जिस प्रकार राजा किसी अपराधी व्यक्तिको नदीमें डुबा देता है, उसी प्रकार माया जीवोंको भव-सागरमें डुबा देती है॥३१॥

कृष्णपादपद्म प्राप्ति ही मुक्ति या आत्यन्तिक-क्लेश-निवृत्ति है—

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।
तस्याभिध्यानात् तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवलमाप्तकामः॥३२॥

(श्वेताश्वतर १/११)

परमेश्वर-तत्त्वका ज्ञान होनेपर स्थूलदेहका फन्दा और लिङ्ग देह अथवा देहिक ममताका फन्दा टूट जाता है। क्लेश समाप्त होनेपर जन्म-मृत्युरूप पुनरावृत्तिकी

सम्भावना नहीं रहती। जीव भगवत्-ध्यान अर्थात् अनुशीलनसे क्रमशः शुद्धसत्त्वमयी भागवती शरीर प्राप्तकर सर्वेश्वर्य सम्पन्न होता है अर्थात् सर्वेश्वर्यशाली भगवान्‌को प्राप्त करता है। तब वह पूर्णकाम हो जाता है॥३२॥

साधु-शास्त्र-कृपाय यदि कृष्णोन्मुख हय।
सेइ जीव निस्तारे, माया ताहारे छाड़य॥३३॥

(चै. च. म. २०/१२०)

साधु और शास्त्रकी कृपासे यदि कोई जीव कृष्णोन्मुख होता है, तो माया उसको छोड़ देती है और तब वह जीव भव-सागरको अनायास ही पार कर जाता है॥३३॥

विशिष्टाद्वैतवादी आचार्योंका सिद्धान्त—

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः॥३४॥

(वृहदारण्यक ३/७/१५)

जो समस्त प्राणियोंमें अवस्थित हैं, किन्तु जीव जिनको नहीं जानते, सभी प्राणी जिनका शरीर है, जो सभी प्राणियोंमें वास कर उनको नियमित करते हैं, वे ही आत्माके अन्तर्यामी पुरुष हैं॥३४॥

'जीव'के विषयमें द्वैताद्वैतवादी आचार्योंका सिद्धान्त—

ज्ञानस्वरूपञ्च हरेरधीनं शरीरसंयोग-वियोग-योग्यम्।
अणु हि जीवं प्रतिदेह-भिन्नं ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहुः॥३५॥

(निम्बार्क-कृत दशश्लोकी)

(निम्बार्कके मतानुसार) जीव—ज्ञानस्वरूप और ज्ञातृ-स्वरूप, संख्यामें अनन्त, अणु और हरिके अधीन हैं। अणु होनेके कारण उसका मायिक शरीरके साथ संयोग और वियोग रहता है। जीव एक नहीं है, प्रत्येक शरीरमें भिन्न-भिन्न जीव अवस्थान करता है॥३५॥

शुद्धाद्वैतवादी आचार्योंका सिद्धान्त—

ह्लादिन्या संविदाश्लिष्टः सच्चिदानन्द ईश्वरः।
स्वाविद्या-संवृतो जीवः संक्लेशनिकराकरः॥३६।

(भगवत्सन्दर्भधृत सर्वज्ञसूक्त-वाक्य वा भा. १/७/५-६
टीकामें श्रीधरस्वामी उद्धृत श्रीविष्णुस्वामिवाक्य)

ईश्वर सच्चिदानन्द एवं ह्लादिनी और सम्वित्-शक्ति द्वारा आलिङ्गित है, किन्तु जीव अपनी (आरोपित) अविद्या द्वारा ढका हुआ है, इसलिए वह क्लेशोंकी खान है॥३६॥

वस्तुनोऽंशो जीवः वस्तुनः शक्तिर्माया च वस्तुनः कार्यं जगच्च तत् सर्वं वस्त्वेव॥३७॥

(भावार्थदीपिका १/१/२)

भगवान् ही एकमात्र वास्तव वस्तु हैं, जीव उसी वस्तुका अंश है, माया वस्तुकी शक्ति है एवं जड़ जगत् वस्तुका कार्य है। इसलिए सभी वस्तुओंसे अभिन्न होनेके कारण एक अद्वय वास्तव वस्तु ही प्रतिपादित हुई॥३७॥

मुक्तगण भी अप्राकृत-सिद्ध-देहसे भगवत् सेवामें हैं—

"मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ते॥"३८॥

(श्रीमद्भा. १०/८७/२१ श्लोक श्रीधरधृत सर्वज्ञ-भाष्यकार-व्याख्या)

मुक्त पुरुषगण भी अपनी इच्छासे (अर्थात् कर्म जनित नहीं) शरीर ग्रहण करके भगवानका भजन करते हैं॥३८॥

शुद्धाद्वैत मतमें मुक्तावस्था और जीवका पार्थक्य—

"पार्षदतनूनामकर्मारब्धत्वं नित्यत्वं शुद्धत्वञ्च॥३९॥

(भावार्थ दीपिका १/६/२९)

भगवत् पार्षदोंका जन्म और मृत्युका मूल कारण प्रारब्ध कर्म नहीं हैं, वे नित्य और शुद्ध अर्थात् निर्गुण हैं॥९॥

जीव और ईश्वरमें समान बुद्धि ही 'पाषण्डता' है—

अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगता-
स्तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा।
अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत्
सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया॥४०॥

(श्रीमद्भागवत १०/८७/३०)

श्रुतियोंने कहा है—हे नित्यस्वरूप! शरीरधारी जीवोंकी संख्याका अन्त नहीं है। 'जीव अनन्त हैं'—इस वाक्यांशके द्वारा यदि कोई कहता है कि जीव ब्रह्मके समान व्यापक अर्थात् सर्वगत है, तो इस प्रकारका सिद्धान्त भ्रमात्मक है। क्योंकि शास्त्रोंमें कहा गया है कि 'जीव' इशितव्य अर्थात् शासित है एवं आप स्वयं 'ईश्वर' उसके शासक हैं। किन्तु पूर्वोक्त सिद्धान्तमें जीव सेवक और आप स्वयं सेव्य हैं—यह सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं होता है। इसलिए जीव व्यापक नहीं है,

अपितु वह व्याप्य अर्थात् अणु परिमाणस्वरूप है। 'सर्वग' इत्यादि शास्त्र वाक्योंका तात्पर्य यह है कि जीव अपने स्वरूपमें व्यापक एवं आप सर्वव्यापक है। आप अग्नि अथवा सूर्यके समान हैं, जीव स्फुलिङ्ग या सूर्य किरण-कण है, अतएव चिन्मय स्वरूप है एवं आपकी अपेक्षा न्यून है। इसमें सन्देह नहीं कि ये सबके सब जीव तथा इनकी एकता या विभिन्नता आपसे ही उत्पन्न हुई है। इसलिए आप उनमें कारणरूपसे रहते हुए भी उनके नियामक हैं। जो जीवको सभी विषयोंमें आपके समान समझते हैं, उनका मत दूषित है॥४०॥

जेई मूढ़ कहे,—'जीव' 'ईश्वर' हय सम।
सेइ त' 'पाषण्डी' हय, दण्डे तारे यम॥४१॥

(चै. च. म. १८/११५)

जो मूढ़ व्यक्ति जीवको ईश्वर मानता है अथवा जीव और ईश्वरको एक समान समझता है, ऐसे पाखण्डियोंको यमराज विविध प्रकारकी यातनाएँ प्रदान करते हैं॥४१॥

परिशिष्ट

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥१॥

(गीता ७/५)

हे महाबाहो! पूर्वश्लोकमें जिस मायाशक्तिका मैंने वर्णन किया है। वह मेरी अपरा अर्थात् निकृष्ट प्रकृति है, उससे पृथक् जीवभूता अर्थात् जीवशक्तिरूपा मेरी एक परा या उत्कृष्ट शक्ति है—ऐसा तुम जानो। जिसके द्वारा यह सारा जगत् धारण किया जा रहा है॥१॥

स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देहो स्वगुणैर्वृणोति।
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः॥२॥

(श्वे. ५/१२)

जीव अपने किये हुए कर्मोंके संस्कारसे, गुणसे, शरीरके गुणोंसे युक्त होकर "मैं और मेरा" आदि अपने गुणोंके वशीभूत होकर नानाप्रकारके स्थूल और सूक्ष्म रूपोंको स्वीकार करता है—अपने कर्मानुसार भिन्न-भिन्न योनियोमें जन्म ग्रहणकर क्रिया, गुण और आत्मगुण द्वारा पुनः दूसरे रूपसे आच्छादित होता है॥२॥

आम्नाय सूत्रमें जीवकी बद्ध दशाका क्रम इस प्रकार बतलाया गया है—

"परेश-वैमुखात्तेषामविद्याभिनिवेशः।"
"स्व-स्वरूप-भ्रमः।"

"विषमकामः कर्मबन्धः।"
"स्थूल-लिङ्गाभिमान-जनित-संसारक्लेशाश्च" ॥३॥—

(सूत्र ३५, ३६, ३७, ३८)

अर्थात्—परमेश्वरसे विमुख होनेके कारण जीवोंका अविद्यारूप द्वितीयाभिनिवेश हुआ है।

उसीसे उसका स्वरूप भ्रम हुआ है।

स्वरूप भ्रमके कारण ही वे भयङ्कर काम्य-कर्मके बन्धनमें पड़े हुए हैं।

स्थूल और सूक्ष्म शरीरमें आत्मबुद्धि ही संसार क्लेशका कारण है॥३॥

मायान्तु 'प्रकृतिं' विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥४॥

(श्वे. ४/१०)

मायाके अधीश्वर परमेश्वरने जिसने सम्पूर्ण जगत्‌को रचा है, उसीके द्वारा जीवसमूह भी प्रपञ्चमें भलीभाँति बँधा हुआ है। उस मायाको ही प्रकृति समझना चाहिए एवं मायी अर्थात् मायाधीशको महेश्वर समझना चाहिए। उसी महेश्वरके अङ्गसमूहसे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त हो रहा है॥४॥

जैवधर्मसे जीव-तत्त्व—

जीव स्वरूपतः कृष्णका नित्य दास है। कृष्णदास्य ही उसका स्वरूप-धर्म है। उस स्वरूप-धर्मसे रहित, निजसुख-पर जीवोंको दण्ड देनेके लिए भगवान्‌की मायाशक्ति उन्हें सत्त्व, रज और तमोगुणरूप जंजीरमें बाँध देती है और स्थूल तथा लिङ्ग शरीरसे जीव-स्वरूपको आच्छादितकर तथा दुःखपूर्ण कर्म-बन्धनमें डालकर स्वर्ग और नरकमें सुख और दुःख भोगनेके लिए बाध्य करती है।

गोलोक वृन्दावनमें वृन्दावनविहारी श्रीकृष्णकी सेवाके लिए श्रीबलदेव प्रभु द्वारा और परव्योम-वैकुण्ठमें वैकुण्ठाधिपति नारायणकी सेवाके लिए श्रीसङ्कर्षण द्वारा प्रकटित नित्य पार्षद अनन्त हैं। वे नित्यकाल तक उपास्यकी सेवामें रसिक होते हैं, सर्वदा स्वरूपमें स्थिर रहते हैं, उपास्यको सुखी रखनेमें सदा तत्पर रहते हैं, उपास्यके प्रति सर्वदा उन्मुख रहते हैं, चित्‌शक्तिका बल पाकर सदा बलवान होते हैं। उनका जड़-मायाके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता। वे लोग यह भी नहीं जानते हैं कि माया नामकी कोई शक्ति भी है या नहीं। क्योंकि वे चिन्मण्डलमें वास करते हैं। माया उनसे बहुत ही दूर होती है। वे सब समय उपास्यके सेवा-सुखमें निमग्न रहते हैं। वे जड़ दुःख-सुखसे अतीत तथा नित्य मुक्त होते हैं। प्रेम ही उनका जीवन होता है; शोक, मरण और भय—यह सब क्या चीज है—उन्हें तनिक भी खबर नहीं होती।

कारणाब्धशायी महाविष्णुके मायाके प्रति ईक्षण-रूप किरणगत अणुचैतन्य जीव भी अनन्त हैं। मायाके बगलमें स्थित होनेके कारण जीव मायाकी विचित्रताको देखते हैं। साधारण जीवोंके जो समस्त लक्षण पहले ही बतलाये गये हैं—वे सब इनमें तो पाये जाते हैं, तथापि इनका स्वभाव अन्त्यन्त अणु-क्षुद्र होनेके कारण वे तटस्थ भावसे कभी चित् जगत्की ओर और कभी मायिक जगत्की ओर दृष्टिपात करते हैं। तटस्था अवस्थामें जीव बहुत ही दुर्बल होता है क्योंकि उस समय तक उसे सेव्य वस्तुकी कृपासे चिद्बल प्राप्त नहीं होता है। इन अनन्त जीवोंमेंसे जो जीव मायाको भोग करना चाहते हैं, वे विषयोंमें आसक्त होकर मायाद्वारा नित्यबद्ध हो पड़ते हैं और जो सेव्य वस्तुका चिद्अनुशीलन करते हैं, वे सेव्यतत्त्वकी कृपासे चिद्शक्तिका बल प्राप्तकर चिद्धाममें गमन करते हैं। बाबा! हमारा बड़ा दुर्भाग्य है कि कृष्णकी सेवा भूलकर मायाके बन्धनमें जकड़े हुए हैं। अतएव स्वरूपार्थ रहित होनेके कारण ही हमारी यह दुर्दशा है॥५॥

सेइ विभिन्नांश जीव—दुइ त' प्रकार।
एक 'नित्यमुक्त' एक—'नित्य संसार'॥
'नित्यमुक्त'—नित्य कृष्णचरणे उन्मुख।
'कृष्ण-पारिषद' नाम, भुञ्जे सेवा-सुख॥
'नित्यबद्ध'—कृष्ण हैते नित्य बहिर्मुख।
नित्य संसार, भुञ्जे नरकादि दुःख॥
सेइ दोषे माया-पिशाची दण्ड करे तारे।
आध्यात्मिकादि तापत्रय तारे जारि मारे॥६॥

(चै. च. म. २२/१०-१३)

श्रीचैतन्यमहाप्रभु श्रीसनातन गोस्वामीको जीवतत्त्वका उपदेश कर रहे हैं—विभिन्नांश जीव दो प्रकारके होते हैं—एक नित्यमुक्त दूसरे नित्य संसारी। नित्यमुक्त जीव नित्यकाल कृष्ण सेवामें निमग्न रहते हैं, इनका नाम कृष्ण परिकर या पार्षद भी है। नित्य संसारी जीव अनादिकालसे कृष्णसे बहिर्मुख होते हैं तथा नरकके दुख और स्वर्गके सुखका भोग करते हैं। यह सुख भी दुःख ही है। माया पिशाची वैसे अपराधियोंको आध्यात्मिक आदि त्रितापोंसे दग्ध करती रहती है। इन कतिपय पयारोंमें परमात्म सन्दर्भमें उल्लिखित विचारोंको ही ग्रहण किया गया है। इसलिए परमात्म संन्दर्भकी उक्तियोंके अनुसार ही इन पयारोंका अर्थ समझना होगा। यहाँ नित्य संसार, नित्यबद्ध, नित्य बहिर्मुख, नित्य संसारी—शब्दोंका तात्पर्य अनादिकालसे है। अर्थात् ब्रह्माण्डवासी संसारी जीव अनादिकालसे ही बद्ध, बहिर्मुख एवं संसारी है। इस श्रेणीके जीवोंके लिए श्रील जीवगोस्वामीने

परमात्म सन्दर्भमें 'अनादि' शब्दका प्रयोग किया है। श्रीकविराज गोस्वामीने उक्त अनादि शब्दके अर्थमें ही 'नित्य' शब्दका व्यवहार किया है। नित्य शब्दसे इस गूढ़ रहस्यकी व्यक्तता होती है कि जो जीव इस संसारमें हैं, वे अनादिकालसे लेकर आज तक नित्य निरविच्छिन्नरूपमें ही अर्थात् लगातार बहिर्मुख, संसारी और मायाबद्ध हैं। वे प्रारम्भमें या बीचमें कभी भी कृष्णसेवामें नियुक्त नहीं थे। यह कहना सर्वथा शास्त्र एवं युक्ति विरुद्ध है कि जीव भगवत् धामसे पतित हुए हैं, क्योंकि साधनके प्रभावसे तथा कृष्णकी कृपासे भगवत् धाममें एकबार पहुँच जानेके बाद वहाँसे पुनः लौटना नहीं पड़ता। श्रीकृष्णने अर्जुनको ऐसा ही कहा है—यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परं मम। (गीता-१५/६) ॥६॥

तदेवमनन्ता एव जीवाख्य तटस्थाः शक्तयः। तत्र तासां वर्गद्वयम्। एकोवर्गः अनादित एव भगवदुन्मुखः अन्यस्तु अनादित एव भगवत्परान्मुखः स्वभावतः तदीय ज्ञानभावात् तदीय ज्ञानाभावात् च॥७॥

(प. सन्दर्भ—४४)

इस तटस्था शक्तिके दो भेद हैं। एक अनादिकालसे भगवत् उन्मुख अर्थात् भगवत्-भजन परायण हैं। दूसरे अनादि कालसे भगवान्‌से बहिर्मुख असुर स्वभाववाले हैं। ये स्वभावसिद्ध भगवत्-सम्बन्धीय ज्ञानयुक्त और भगवत्-सम्बन्धीय ज्ञानके अभावसे युक्त दो प्रकारके हैं॥७॥

तत्र प्रथमः अन्तरङ्गा-शक्तिविलानुगृहीतः नित्य भगवत् परिकररूपो गरुडादिकः॥८॥ (प. सन्दर्भ—४५)

इनमेंसे पहला अन्तरङ्ग शक्तिके विलास द्वारा अनुगृहीत गरुड आदि भगवान्‌के परिकर हैं॥८॥

अपरस्तु तत् पराङ्मुखत्वदोषेण लब्धछिद्रया मायया परिभूतः संसारी॥९॥

(प. सन्दर्भ—४५)

दूसरे ईश्वर-पराङ्मुखत्व दोषके कारण लब्धछिद्र माया द्वारा पराभूत होकर संसारी हुए हैं॥९॥

इति गौड़ीय कण्ठहारमें 'जीव-तत्त्व' वर्णन नामक दशम रत्न समाप्त।

U U U

ग्यारहवाँ रत्न

अचिन्त्यभेदाभेद-तत्त्व

अचिन्त्य भेदाभेदके विषयमें श्रुति-प्रमाण—

एकोवशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥१॥

(कठ २/२/१२)

जो एक होकर भी सबके नियन्ता हैं, जो सब प्राणियोंकी अन्तरात्मा हैं, एक होकर भी जो बहुतसे रूपोंमें प्रकाशित हैं, जो धीरपुरुष उनको आत्मस्थरूपमें दर्शन करते हैं, वे ही नित्य सुख प्राप्त करते हैं, अन्य नहीं॥१॥

अचिन्त्यभेदाभेदके विषयमें भागवत प्रमाण—

ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः॥२॥

(श्रीमद्भागवत २/९/३३)

स्वरूप तत्त्व ही यथार्थ तत्त्व है। उस तत्त्वके बाहर जो दिखाई देता है, एवं उस स्वरूप तत्त्वमें जिसकी प्रतीति नहीं है, उसको ही आत्मतत्त्वका माया वैभव समझेंगे। इसका दृष्टान्त है—स्वरूप तत्त्व सूर्यकी भाँति ज्योतिर्मय वस्तु है। सूर्यकी प्रतीति दो अन्य रूपोंमें भी होती है—आभास और तमः। आभास जीवमाया स्थानीय है और तमः गुणमाया स्थानीय है॥२॥

यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्॥३॥

(श्रीमद्भागवत २/९/३४)

जैसे प्राणियोंके पञ्चमहाभूत रचित छोटे-बड़े शरीरोंमें आकाशादि पञ्चमहाभूत उन शरीरोंके कार्यरूपसे निर्मित होनेके कारण प्रवेश करते भी हैं और कारण रूपसे विद्यमान रहनेके कारण प्रवेश नहीं भी करते; वैसे ही भूतमय जगत्के सब प्राणियोंमें मैं आत्माके रूपमें प्रवेश किये हुए हूँ और पृथक् भगवद्रूपसे नित्य विराजमान भी हूँ॥३॥

यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद् यद् यथा यदा।
स्यादिदं भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः॥४॥

(श्रीमद्भागवत १०/८५/४)

(एक दिन भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी प्रातःकालीन प्रणाम करनेके लिए वसुदेवजीके पास गये। प्रणाम कर लेनेपर वसुदेवजी दोनों भाइयोंका अभिनन्दन करके कहने लगे—हे कृष्ण! हे राम!) कार्यस्वरूप इस परिदृष्यमान सारा संसार ही भगवान् अर्थात् कारणस्वरूपसे अभिन्न है। इस संसारके निमित्त और उपादान कारण पुरुष और प्रधान हैं। तुम लोग दोनों इसके ईश्वर या नियामक एवं समस्त कारक अर्थात् कर्त्ता, कर्म, करण, उपादान, अधिकरण, सम्बन्ध और सम्प्रदानके एकमात्र आश्रयस्थल हो॥४॥

अचिन्त्य-भेदाभेदके सम्बन्धमें स्मृति प्रमाण—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥५॥

(गीता ९/४)

प्राकृत इन्द्रियोंसे अतीत मेरे अव्यक्त रूप द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। सम्पूर्ण चराचर प्राणी मुझमें स्थित हैं, पर मैं उनमें नहीं हूँ। घटादिमें मिट्टी जिस प्रकार अवस्थित रहती है मैं उस रूपमें अवस्थित नहीं हूँ अर्थात् यह जगत् मेरा परिणाम या भ्रमात्मक नहीं है। मैं चैतन्यस्वरूप हूँ। यह जगत् मेरी शक्तिसे ही उत्पन्न हुआ है। मेरी शक्ति ही कार्य करती है। मैं पूर्ण चैतन्य रूप एक पृथक् तत्त्व हूँ॥५॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥६॥

(गीता ९/५)

यह सृष्टि भी मुझमें स्थित नहीं है, इससे यह मत समझना कि भूतोंका धारक पोषण करनेवाला और भूतोंको उत्पन्न करनेवाला होनेपर भी मेरी आत्मा उनमें स्थित नहीं है। तुम बुद्धि द्वारा इसका सामञ्जस्य नहीं कर सकते, अतएव इसको मेरी अलौकिक शक्ति, मेरी कार्य शक्ति मुझे सम्पूर्ण जीवोंका भर्त्ता, प्राकृत सृष्टिमें स्थित और सम्पूर्ण सृष्टिका कारण भूतभूत्, भूतस्थ और भूतभावन जानकर यह मत सोचना कि मुझमें देह-देहीका भेद न होनेसे मैं सर्वस्थ-होकर भी नितान्त इससे भिन्न अर्थात् अतीत हूँ। यही भगवान्का अचिन्त्य वैभव है॥६॥

अचिन्त्य भेदाभेदके विषयमें गोस्वामियोंका सिद्धान्त—

एकमेव तत् परमतत्त्वं स्वाभाविकाचिन्त्यशक्त्या सर्वदैव स्वरूप-तद्रुपवैभव-जीव-प्रधान-रूपेण चतुर्द्धावतिष्ठते। सूर्यान्तर्मण्डलस्थ-तेजइव मण्डल-तद्बहिर्गतरश्मि-तत्प्रतिच्छविरूपेण दुर्घटघटकत्वं ह्यचिन्त्यत्वम्॥६॥

(श्रीभगवत्सन्दर्भ १६ संख्या)

परम तत्त्व एक है। वे स्वाभाविक अचिन्त्य शक्ति सम्पन्न हैं, उसी शक्तिके सहारे वे सर्वदा स्वरूप, तद्रुप वैभव, जीव और प्रधान—इन चारों रूपोंमें प्रकाशित हैं। इस विषयमें सूर्यमण्डलस्थ तेज, मण्डल, उस मण्डलसे निर्गत सूर्य रश्मियाँ और उनकी प्रतिच्छवि अर्थात् दूरगत प्रतिफलन ये किञ्चित् उदाहरणके स्थल हैं। तात्पर्य यह है कि ये चारों प्रकाश जिस प्रकार नित्य हैं, परमतत्त्वका एकत्व भी उसी प्रकार नित्य है। ये दोनों परस्पर नित्य विरुद्ध व्यापार एक ही साथ किस प्रकार सम्भव है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि—अचिन्त्य अर्थात् जीवकी बुद्धिसे ये असम्भव है, क्योंकि जीवकी बुद्धि ससीम है। परमेश्वरकी अचिन्त्य शक्ति द्वारा यह असम्भव नहीं है॥७॥

अपरे तु 'तर्काऽप्रतिष्ठानात्' (ब्र. सू. १/१/११) भेदेऽप्यभेदेऽपि निर्मर्याद-दोषसन्तति-दर्शनेन भिन्नतया चिन्तयितुमशक्यत्वादभेदं साधयन्तः तद्वदभिन्नतयापि चिन्तयितुमशक्यत्वाद्भेदमपि साधयन्तोऽचिन्त्यभेदाभेदवादं स्वीकुर्वन्ति। तत्र वादरपौराणिकशैवानां मते भेदाभेदौ भास्कर मते च। मायावादिनां तत्र भेदांशो व्यवहारिक एव प्रातीतिको वा। गौतम-कणाद-जैमिनि-कपिल-पतञ्जलिमते तु भेद एव। श्रीरामानुजमध्वाचार्यमते चेत्यपि सार्वत्रिकी प्रसिद्धिः। स्वमते त्वचिन्त्यभेदाभेदावेव अचिन्त्यशक्तिमयत्वादिति॥८॥

(परमात्मसन्दर्भीय सर्वसम्वादिनी)

अन्य एक सम्प्रदायके वेदान्तीगण कहते हैं, तर्ककी अप्रतिष्ठाके कारण (ब्रह्मसूत्र २/१/११) भेद एवं अभेद और समस्त प्रकारके दोष दर्शनमें भिन्न रूपसे चिन्ता करना दुष्कर है, उसी प्रकार अभिन्न रूपसे चिन्ता करके अभेद साधन करना भी दुष्कर है। इस प्रकार भेदाभेद दोनों साधन करनेसे ये लोग भेदाभेद साधनकी चिन्तामें असमर्थताकी उपलब्धि करके अचिन्त्य-भेदाभेदवाद स्वीकार करते हैं। वादर, पौराणिक और शैवोंके मतानुसार भेदाभेदवाद, मायावादियोंके मतानुसार भेदांश व्यवहारिक अथवा काल्पनिक मात्र है। गौतम, कणाद, जैमिनी, कपिल और पतञ्जलिके मतसे भेदवाद, श्रीरामानुज और

मध्वाचार्यका मत सर्वत्र ही प्रसिद्ध है अर्थात् रामानुजने विशिष्टाद्वैतवादका अवलम्बन कर भेद और अभेद एवं मध्वाचार्यने शुद्धद्वैतवादका सहारा लेकर भेदवादको ग्रहण किया है। परमतत्त्व अचिन्त्य शक्तिसम्पन्न होनेके कारण हमारे मतमें अचिन्त्य-भेदाभेदसिद्धान्त स्थित हुआ है।८॥

शक्ति परिणामवाद ब्रह्मसूत्रमें स्वीकृत है—

व्यासेर सूत्रेते कहे परिणामवाद।
व्यास भ्रान्त बलि' उठाइल विवाद॥
परिणाम-वादे ईश्वर हयेन विकारी।
एक कहि' विवर्त्तवाद स्थापना जे करि॥
वस्तुतः परिणामवाद सेइ त' प्रमाण।
'देहे आत्मबुद्धि' हय विवर्त्तेर स्थान॥
अविचिन्त्य-शक्ति-युक्त श्रीभगवान्।
इच्छाय जगत्-रूपे पाय परिणाम॥
तथापि अचिन्त्यशक्त्ये हय अविकारी।
प्राकृत चिन्तामणि ताहे दृष्टान्त धरि॥
नाना रत्नराशि हय चिन्तामणि हैते।
तथापिह मणि रहे स्वरूपे अविकृते॥
प्राकृत वस्तुते यदि अचिन्त्यशक्ति हय।
ईश्वरेर अचिन्त्य-शक्ति,—इथे कि विस्मय॥९॥

(चै. च. आ. ७/१२१-१२७)

जीव तत्त्व सर्वशक्तिमान भगवान्‌की एक शक्ति विशेष है। ऐसे जीव तत्त्वको अणुचैतन्य सिद्ध न कर ब्रह्मके रूपमें सिद्ध करनेसे अवश्य ही भ्रमपूर्ण सिद्धान्त होगा। श्रीशंकराचार्यने ईश्वरकी आज्ञासे ईश्वरतत्त्वको आच्छादित करनेके अभिप्रायसे जीव-तत्त्वके साथ परतत्त्वका ऐक्य स्थापनकर एक भ्रममय सिद्धान्तका प्रचार किया। श्रीवेदव्यासके ब्रह्मसूत्रमें वस्तुतः शक्ति परिणामवाद स्वीकृत है। परन्तु परिणामवाद ग्रहण करनेसे ईश्वरको विकारी मानना पड़ता है। ऐसा वितर्क उठाकर श्रीशंकराचार्यने विवर्तवादकी स्थापना की है। उन्होंने कुतर्क उठाया कि परिणाम ग्रहण करनेसे व्यासदेवको भ्रान्त व्यक्ति मानना पड़ेगा, किन्तु यह उनका कोरा कुतर्क था। उनकी यह युक्ति सम्पूर्ण भ्रान्त है, उन्होंने ब्रह्मसूत्रके द्वितीय अध्यायके प्रथम पादके चौदहवें सूत्र 'तदन्यत्वमारणशब्दादिम्यः' के भाष्यमें 'वाचारम्भणां विकारो नामध्येय' (छादोग्य. ६/१/४) आदि वेदवाक्योंका उदाहरण

देकर दोषयुक्त विकारवाद सिद्ध करनेका व्यर्थ प्रयास किया है। वास्तवमें ब्रह्मसूत्रमें ईश्वरकी एक अचिन्त्य शक्ति स्वीकार की गयी है। जो ईश्वरकी इच्छा मात्रसे जीव और जगत्‌रूप (कार्य) में परिणत हो जाती है। ऐसा होनेपर भी ईश्वर स्वयं निर्विकाररूपमें विद्यमान होते हैं।

परिणामवादका लक्षण है— "स-तत्त्वतोऽन्यथा बुद्धिर्विकार इत्युदाहृतः" अर्थात् एक सत्य-तत्त्वसे एक दूसरे सत्य तत्त्वके उदय होनेपर उसमें दूसरी वस्तु होनेकी बुद्धिको विकार अथवा परिणाम कहते हैं। ब्रह्म एक सत्य वस्तु है, उससे जीवरूप एक सत्य वस्तु और मायिक ब्रह्माण्डरूप एक सत्य वस्तु पृथक्-पृथक् रूपमें प्रकटित हुई है। ऐसी बुद्धिको ब्रह्मका 'विकार' या 'परिणाम' कहते हैं। 'विकार' या 'परिणाम' का उदाहरण—दूध एक सत्य पदार्थ है, वही विकृत होनेपर दधिरूप एक दूसरे सत्य पदार्थमें बदल जाता है। 'एतदात्म्यमिदं सर्वं' (छा. ६/८/७) इस प्रकार वेदोंके वचनोंसे ब्रह्म ही जगत है, इसमें किसी प्रकारके संदेहकी गुंजाइश नहीं है। ब्रह्ममें एक अचिन्त्य शक्ति है, यह बात "परास्यशक्तिर्विविध्‌ौव श्रुयते" (श्वे. ६/८) इस वेदवाक्यसे सिद्ध है। इस शक्तिके द्वारा ब्रह्मका सत्य-धर्म ही जगत्‌रूपमें परिणत होता है। इस सिद्धान्तमें किसी प्रकारका दोष नहीं हो सकता। 'एतदात्म्यमिदं सर्वं' (छा.६/८/७) इत्यादि वेद-वाक्योंके द्वारा यह प्रसिद्ध है कि ब्रह्म अपनी पराशक्तिके द्वारा इस चित्-जड़ात्मक जगत्‌के रूपमें परिणत है। ब्रह्म— 'उपादान' है, जीव और जगत् उनसे प्रकट हुआ 'उपादेय' है। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" (तै.भृ. १ अ) इस वेद-वाक्यमें ब्रह्मका उपादानत्व तथा जीव और जड़-जगत्‌का उपादेयत्व स्वीकृत हुआ।

जब तक परिणामवादका यथार्थ रहस्य समझमें नहीं आता तब तक इस जगत् और जीवको सत्य वस्तु नहीं समझा जा सकता। "सन्मूलाः सौम्येमः प्रजाः सदायमनाः" (छा. ६/८/४) इत्यादि वेद-वाक्योंके द्वारा यह सिद्ध है कि जीव और जीवोंका भोगस्थान जड़ जगत् सत्य वस्तु ही है। यहाँ ब्रह्मपरिणामवाद माननेसे ब्रह्म विकारी हो जाता है, इस निरर्थक भयके कारण रज्जुमें सर्प बुद्धि और सीपमें रजत बुद्धिकी भाँति जीव और जगत्‌को मिथ्या मानना या बतलाना—अपनेको और लोगोंको धोखा देना मात्र है। यहाँ यह बात जान लेना परम आवश्यक है कि वेदोंमें 'रज्जुमें सर्प-बुद्धि और सीपमें रजत-बुद्धि,—ये जो उदाहरण दृष्टिगोचर होते हैं, वे जगत् और जीवके सम्बन्धमें नहीं हैं। उनका एक विशेष स्थल है। इस तत्त्वको इस प्रकारसे समझना चाहिए—जीव एक शुद्ध चित्‌कण है, मानव शरीरसे युक्त जीव अपने जड़शरीरमें जो आत्मबुद्धि करता है, वह 'आत्मबुद्धि' ही विवर्तका उदाहरण है। विवर्तकी परिभाषा यह है—'अतत्वतोऽन्यथाबुद्धिर्विवर्त इत्युदाहृतः' अर्थात् जो वस्तु जो चीज नहीं है, उसमें

उसी वस्तुके रूपमें प्रतीति होनेका नाम 'विवर्त' है। जैसे जड़ शरीर जीवात्मा नहीं है, फिर भी शरीरको 'आत्मा' या 'मैं' समझना यही देहात्म-बुद्धि विर्वतका यथार्थ उदाहरण है। यह एक भीषणतम भ्रमरूप दोष है। बद्ध जीवोंमें यह विवर्त-बुद्धि सर्वत्र देखी जाती है। इस विवर्तवादको जगत् तत्त्व और जीव तत्त्वके माथे मढ़ना नितान्त भ्रम है। परब्रह्मकी अचिन्त्य शक्तिको अस्वीकार करनेसे ही ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है। भगवान् जिस प्रकार जीव जगत्के रूपमें परिणत हुए हैं, उसे एक साधारण दृष्टान्तके द्वारा समझा जा सकता है। वह दृष्टान्त चिन्तामणिका है। जैसे—चिन्तामणि स्वयं अविकृत रहकर भी नाना-प्रकारके रत्नोंको प्रकटित करती है। यदि किसी प्राकृत वस्तुमें ऐसी अचिन्त्य शक्ति सम्भव है, तो उससे अनन्त गुणा श्रेष्ठ अचिन्त्यशक्ति-विशिष्ट ईश्वरके विषयमें ऐसा होना कोई विचित्र बात नहीं है॥९॥

परिणाम और विवर्त्तका अर्थ—

सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त्त इत्युदाहृतः॥१०॥

(सदानन्द योगिकृत वेदान्तसार ५९)

जब कोई सत्य वस्तु कोई अन्य रूप धारण कर ले तो उसे विकार कहते हैं, जैसे दूधसे दही। जब कोई अन्य वस्तु नहीं है, परन्तु मूल वस्तुमें ही अन्य वस्तुके होनेका भ्रम होता है—उसे विवर्त्त कहते हैं, जैसे रज्जुमें सर्पका भ्रम॥१०॥

परिशिष्ट

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म॥१॥

(तैत्तिरीय ३/१)

जिनसे समस्त प्राणी-समुदाय उत्पन्न हुआ है—इससे ईश्वरमें अपादान-कारकत्व सिद्ध हुआ है, जिनके द्वारा सभी जीवित हैं—इससे उनमें करण-कारकत्व सिद्ध है तथा जिनमें गमन और प्रवेश करता है—इससे ईश्वरमें अधिकरण-कारकत्व सिद्ध है। इन तीन लक्षणोंसे परतत्त्व विशिष्ट हैं। ये तीन उनके विशेष हैं। अतएव भगवान् सर्वदा सविशेष हैं। ऐसे भगवान् कदापि केवल निराकार नहीं हो सकते। षडैश्वर्यपूर्ण सच्चिदानन्द-स्वरूप ही उनका नित्य अप्राकृत आकार है॥१॥

यथोल्मुकाद्विस्फुलिङ्गाद्धूमाद्वापि स्वसम्भवात्।
अप्यात्मत्वेनाभिमताद्यथाग्निः पृथगुल्मुकात्॥२॥

जीवात्माकी स्थितिका वर्णन कर रहे हैं—जीवात्माकी स्थिति इस प्रकार है। पूर्वश्लोकमें ऐसा प्रदर्शित हुआ है कि जैसे पुत्र, धन-सम्पत्तिसे मरणशील जीव पृथक् प्रतीत होता है। उसी प्रकारसे जीवरूप पुरुष देहादिसे पृथक् है। यहाँ यह भी दिखलाया जा रहा है कि ज्वलन्त काष्ठसे जो अग्निके कण निकलते हैं, वे विस्फुर्लिङ्ग या चिंगारी कहलाते हैं तथा जो धूँम निकलता है, वह तमः विशेष है ये यहाँ जीवात्मा विस्फुर्लिङ्ग स्थानीय है। वह ज्वलन्त लकड़ीसे पृथक अग्निके कण हैं। जीव चित्सूर्यरूप कृष्णकी रश्मि स्थानीय किरण कण है। वेद और पुराणोंमें इसका प्रतिपादन किया गया है। चित्कणकी दृष्टिसे उसका ईश्वरसे नित्यभेद है, तथा चित्धर्मकी दृष्टिसे उसका ईश्वरसे नित्य अभेद है। जीव ईश्वरकी एक विशेष शक्ति है। शक्ति कभी भी शक्तिमानसे पृथक नहीं हो सकती। इसलिए जीव और ईश्वरमें अचिन्त्यभेदाभेद सिद्ध है॥२॥

इति गौड़ीय-कण्ठहारमें 'अचिन्त्यभेदाभेद-तत्त्व' वर्णन नामक एकादश रत्न समाप्त।

U U U

बारहवाँ रत्न

अभिधेय–तत्त्व

श्रेयः और प्रेयः—दो मार्ग हैं—

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमान् वृणीते॥१॥

(कठ १/२/२)

श्रेयः और प्रेयः—मनुष्य इन दोनों मार्गोंका ही आश्रय करते हैं। किन्तु बुद्धिमान् व्यक्ति इन दो तत्त्वोंसे उचितरूपसे अवगत होकर पहला मुक्तिका कारण, दूसरा बन्धनका कारण है—इस प्रकार सोचते हैं। वे प्रेयः का परित्याग कर श्रेयः को ग्रहण करते हैं और विवेकहीन मन्द व्यक्ति योग अर्थात् अप्राप्त वस्तुका लाभ और उसकी सुरक्षा अर्थात् प्राप्त वस्तुका संरक्षण—इन दोनों प्रेयःकी ही प्रार्थना करते हैं॥।१॥

परम कल्याणकी चेष्टा करना जीवमात्रका कर्त्तव्य है—

लब्ध्वा सुदुर्ल्लभमिदं बहुसम्भवान्ते मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु यावत् निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥२॥

(श्रीमद्भागवत ११/९/२९)

अनेक जन्मोंके बाद यह मानव जन्म प्राप्त हुआ है, इसलिए यह अत्यन्त दुर्लभ है। यह जन्म अनित्य होनेपर भी परमार्थप्रद है। अतः बुद्धिमान् व्यक्ति मृत्यु से पूर्व ही क्षणमात्रका विलम्ब किये बिना चरम कल्याणके लिए चेष्टा करे॥२॥

शास्त्रोंमें कर्म, ज्ञान और योग—ये तीन उपाय हैं—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥३॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव! मैंने ही वेदोंमें एवं अन्यत्र भी मनुष्योंका कल्याण करनेके लिए अधिकार भेदसे जिन तीन प्रकारके योगोंका उपदेश किया है, वे हैं—ज्ञान, कर्म और भक्ति। मनुष्यके परम कल्याणके लिए इनके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है॥३॥

ज्ञान, कर्म और भक्तिके कौन अधिकारी हैं—

निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्॥४॥

भगवान् उद्धवको कहते हैं—हे उद्धव! जो लोग कर्मों तथा उनके फलोंसे विरक्त हो गये हैं, वे ज्ञानयोगके अधिकारी हैं। इसके विपरीत जिनके चित्तमें कर्मों और उनके फलोंसे वैराग्य नहीं हुआ है, वे सकामी व्यक्ति कर्मयोगके अधिकारी हैं॥४॥

यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमानः।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः॥५॥

पूर्व जन्मकी सुकृतिसे सौभाग्यवश मेरी लीलाकथा आदिमें जिनकी श्रद्धा हो गई है, शुष्क वैराग्यादिमें जिनका आग्रह नहीं है तथा कर्ममार्गमें भी आसक्ति नहीं है, उनके लिए ही भक्तियोग सिद्धिदायक है॥५॥

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवाणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥६॥

(श्रीमद्भागवत ११/२०/६-९)

कर्मके सम्बन्धमें जितने भी विधि निषेध हैं, उनके अनुसार तभी तक कर्म करना चाहिए जब तक कर्ममय जगत् और उससे प्राप्त होनेवाले स्वर्ग आदि सुखोंसे वैराग्य न हो जाय अथवा जब तक मेरी लीलाकथाओंके श्रवण कीर्त्तन आदिमें श्रद्धा न हो जाय॥६॥

अधिकार-निष्ठा ही गुण है—

स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्त्तितः।
विपर्ययस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निर्णयः॥७॥

(श्रीमद्भागवत ११/२१/२)

अपने-अपने अधिकारके अनुसार धर्ममें दृढ़ निष्ठा रखना ही गुण कहा गया है और इसके विपरीत अनधिकार चेष्टा करना ही दोष है। तात्पर्य यह है कि गुण और दोष दोनोंका निर्णय अधिकारके अनुसार किया जाता है, किसी वस्तु के अनुसार नहीं॥७॥

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥८॥

(गीता ३/३५)

स्वधर्मका पालन करते-करते उच्च धर्म प्राप्त करनेके पूर्व ही यदि मृत्यु भी हो जाय तो वह भी मङ्गलजनक है, क्योंकि परधर्म किसी भी अवस्थामें निर्भय नहीं होता है। किन्तु निर्गुण भक्तिके उपस्थित होनेपर स्वधर्मके त्यागमें कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि उस समय जीवका नित्यधर्म (आत्मधर्म) स्वधर्मके रूपमें प्रकाशित होता है, तथा औपाधिक (देह-मनोधर्म) परधर्म हो जाता है॥८॥

वेद-तात्पर्य ग्रहण करनेमें देवताओंका भी मोह—

कर्माकर्म विकर्मेति वेदवादो न लौकिकः।
वेदस्य चेश्वरात्मत्वात्तत्र मुह्यन्ति सूरयः॥९॥
परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम्।
कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा॥१०॥
नाचरेद् यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः।
विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः॥११॥
वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे।
नैष्कर्म्यं लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः॥१२॥

(श्रीमद्भागवत ११/३/४३-४६)

कर्म, अकर्म और विकर्म—ये तीनों एकमात्र वेदके द्वारा जाने जाते हैं, वेद स्वयं ईश्वर हैं। इसलिए उनके तात्पर्यका निश्चय करना बहुत कठिन है। इसीसे बड़े-बड़े विद्वान् भी उनके अभिप्रायका निर्णय करनेमें भूल कर बैठते हैं। अर्थका सङ्गोपन करनेके लिए उसको अन्य प्रकारसे वर्णन करनेका नाम परोक्षवाद है। वेद स्वयं परोक्षवाद एवं अज्ञ, अशान्त, बालस्वभावतुल्य जीवोंके लिए अनुशासनस्वरूप हैं। जैसे पिता रोगग्रस्त बालकको आरोग्यके लिए उसको मिठाई आदिका लालच देकर औषध खिलाते हैं, उसी प्रकार शास्त्र भी कर्मोंकी निवृत्ति हेतु कर्ममूढ़ जीवोंके लिए कर्मका विधान करते हैं॥९-१२॥

गुरु कभी भी कर्मोपदेष्टा नहीं हैं—

स्वयं निःश्रेयसं विद्वान् न वक्त्यज्ञाय कर्म हि।
न राति रोगिणोऽपथ्यं वाञ्छतोऽपि भिषक्तमः॥१३॥

(श्रीमद्भागवत ६/९/५०)

रोगीकी इच्छा होनेपर भी अच्छे वैद्य जिस प्रकार उसको कभी कुपथ्य नहीं बतलाते, विद्वान् व्यक्ति भी उसी प्रकार स्वयं निःश्रेयः अर्थात् चरम कल्याणसे अवगत होकर अनभिज्ञ व्यक्तिको कभी भी कर्मोंमें फँसनेका उपदेश नहीं देते॥१३॥

कर्मयोगका फल अभय नहीं है—

इष्ट्वेह देवता यज्ञैः स्वर्लोकं याति याज्ञिकः।
भुञ्जीत देववत् तत्र भोगान् दिव्यान् निजार्जितान्॥१४॥

(श्रीमद्भागवत ११/१०/२३)

भगवान्‌ने कहा—हे उद्धव! कर्मयोगमें अभय फल नहीं है। गृहमेधीय यज्ञ परायण पुरुष यज्ञोंके द्वारा देवताओंकी आराधना करके स्वर्गमें जाता है और वहाँ अपने पुण्यकर्मोंके द्वारा उपार्जित दिव्य भोगोंको देवताओंके समान भोगता है॥१४॥

तावत् प्रमोदते स्वर्गे यावत् पुण्यं समाप्यते।
क्षीणपुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन् कालचालितः॥१५॥

(श्रीमद्भागवत ११/१०/२६)

जब तक उसके पुण्य शेष रहते हैं, तब तक वह स्वर्गमें आनन्द भोग करता है, परन्तु पुण्य क्षीण होते ही इच्छा न रहने पर भी काल की गतिके कारण उसे नीचे गिरना पड़ता है॥१५॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते॥१६॥

(गीता ९/२१)

कर्मी पुरुष यज्ञ आदि पुण्य कर्मोंके फलसे उस स्वर्गीय विषय सुखको भोगकर पुण्यके क्षीण होनेपर फिर इस मृत्युलोकमें गिरते हैं। इसी प्रकार वैदिक कर्मकाण्डसे उन्हें क्षणभङ्गुर सुखकी ही प्राप्ति होती है। वे जन्म-मृत्युरूप चक्रमें पड़े रहते हैं॥१६॥

श्रीमद्भागवतमें कर्मज्ञानियोंकी निन्दा—

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्॥१७॥

(श्रीमद्भागवत १/५/१२)

निष्कर्मका भाव ही नैष्कर्म्य है। उसमें कर्मकाण्डकी विचित्रता नहीं है। इसलिए वह एकाकार स्वरूप है। वह निर्मल ज्ञान भी जो मोक्षकी प्राप्तिका साक्षात् साधन है, यदि भगवान्‌की भक्तिसे रहित हो तो उसकी उतनी शोभा नहीं होती। फिर जो साधन और सिद्धि दोनों ही दशाओंमें सदा ही अमंगलस्वरूप है, वह काम्य कर्म और जो भगवान्‌को अर्पण नहीं किया है, ऐसे निष्काम कर्म भी कैसे सुशोभित हो सकते हैं?॥१७॥

बहिर्मुख कर्मकी निन्दा—

नेह यत्कर्म धर्माय न विरागाय कल्पते।
न तीर्थपदसेवायै जीवन्नपि मृतो हि सः॥१८॥

(श्रीमद्भागवत ३/२३/५६)

इस संसारमें जिस पुरुषके कर्म, धर्म, अर्थ तथा कामरूप इन तीनोंके उद्देश्यसे अनुष्ठित नहीं होते, उनका वह कर्म निष्काम होकर कृष्णेतर विषयोंमें यदि वैराग्य उत्पन्न नहीं करता है और वह वैराग्य यदि भगवानकी सेवामें पर्यवसित नहीं होता है, तो वह पुरुष जीते जी ही मुर्देके समान है॥१८॥

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः।
नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव ही केवलम्॥१९॥

वर्णाश्रम धर्मका ठीक-ठीक अनुष्ठान करने पर भी यदि मनुष्यके हृदयमें श्रीभगवान् और भागवतकी महिमाके श्रवण-कीर्त्तनके प्रति रुचि उत्पन्न न हो तो इस प्रकारका अनुष्ठान केवल श्रम ही है॥१९॥

धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः॥२०॥

वैराग्य अथवा आत्मज्ञान तक जो नैष्कर्म्य धर्म है, उसका फल त्रैवर्गिक अर्थ नहीं है, अर्थ केवल धर्मके लिए है। भोग-विलास उसका फल नहीं माना गया है॥२०॥

कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः॥२१॥

(श्रीमद्भागवत १/२/८-१०)

भोग-विलासका फल इन्द्रियोंको तृप्त करना नहीं है, उसका प्रयोजन है केवल जीवन-निर्वाह तथा जीवनका मुख्य प्रयोजन है—भगवत् तत्त्वकी जिज्ञासा। नित्य नैमित्तिक धर्मानुष्ठानके द्वारा इस संसारमें स्वर्गादि प्राप्त करना उसका प्रयोजन नहीं है॥२१॥

वेदोंमें कर्मकी निन्दा—

प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढ़ानजरामृत्युं ते पुनरेवापि यान्ति॥२२॥

यज्ञेश्वर विष्णुके निमित्त जो अनुष्ठित नहीं होता, वैसा यज्ञरूप प्लव (छोटी नौका) भव समुद्रको पार करनेके लिए मजबूत नहीं है, क्योंकि इन सब यज्ञोंमें अठारहों पुरुषोक्त कर्म भगवान्के निमित्त अनुष्ठित नहीं होनेके कारण वे अपकृष्ट

हैं। जो अविवेकी व्यक्ति उसको ही चरम-कल्याण प्राप्तिका उपाय सोचकर उसको ग्रहण कर लेते हैं, वे पुनः पुनः जरा और मृत्युको प्राप्त होते हैं॥२२॥

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितन्मन्यमानाः।
जङ्घमानाः परियन्ति मूढ़ा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा॥२३॥

जो अविद्याके बीचमें रहकर स्वयंको विवेकी और पण्डित कहते हैं, वे सब विपथगामी अज्ञानी अन्धे व्यक्तिके द्वारा परिचालित होकर बादमें अन्धेकी भाँति ही दुःख पाते हैं॥२३॥

अविद्यायां बहुधा वर्तमानावयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः।
यत् कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात् तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते॥२४॥

(मुण्डक १/२/७-९)

अज्ञानी पुरुष बहुतसी अविद्याओंके बीच रहकर भी 'हम कृतार्थ हो गये'—इस प्रकारका अभिमान करते हैं, वे कर्मी हैं। कर्ममें अनुरक्त होनेके कारण ही वे प्रकृत तत्त्वसे अनभिज्ञ हैं। इसीलिए वे अत्यन्त व्याकुल होकर कर्मफलसे जिस स्वर्गादिको प्राप्त करते हैं, पुण्य क्षीण होते ही वहाँसे वे नीचे गिर जाते हैं॥२४॥

विष्णुके बिना देवताओंकी पूजा अवैधानिक है—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥२५॥

(गीता ९/२३)

श्रीविष्णुके अतिरिक्त अन्य देवताओंकी पूजा कर्मका ही अङ्ग विशेष है। यही स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण अपने भक्त और सखा अर्जुनको लक्ष्यकर सब जीवोंको उपदेश दे रहे हैं—हे कौन्तेय! जो सकाम भक्त स्वतन्त्रभावसे अन्य देवताओंकी उपासना करते हैं, वे अविधिपूर्वक मेरी ही उपासना करते हैं। 'अविधि' का तात्पर्य यही है कि, ऐसी उपासनाके द्वारा भगवत्प्राप्तिरूप नित्य फल नहीं मिलता, इसलिए वह अनित्य कर्मकाण्डके अन्तर्गत तुच्छ फलको देनेवाला है॥२५॥

वेदोंमें केवल ज्ञानको धिक्कारा गया है—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥२६॥

(ईशोपनिषत् ९)

जो अविद्याकी सेवा करते हैं, वे गहन अन्धकारमय स्थानमें प्रवेश करते हैं और जो निर्विशेष ज्ञानरूपी विद्यामें रत हैं—वे उससे भी अधिक अन्धकारमय स्थानमें प्रवेश करते हैं॥२६॥

स्मृतिमें केवल ज्ञानको धिक्कारा गया है—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्त चेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥२७॥

(गीता १२/५)

जिनका चित्त निर्विशेष ब्रह्मस्वरूपमें आसक्त है, उनके लिए पारमार्थिक उन्नति करनेमें विशेष कष्ट है, क्योंकि देहाभिमानियोंको यह अव्यक्त विषयक गति अत्यन्त कठिनाईसे प्राप्त होती है॥२७॥

आरोहवादी शास्त्रोंमें निन्दित हैं—

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्त्ताम्।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि-
र्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्॥२८॥

(श्रीमद्भागवत १०/१४/३)

इन्द्रियज ज्ञानकी सहायतासे इन्द्रियातीत वस्तुकी प्राप्तिका नाम आरोहवाद या अश्रौतपन्थ है। परन्तु जो ज्ञानके लिए कुछ प्रयत्न न कर कायमनोवाक्यसे साधुमुखसे निःसृत आपकी लीला-कथाओंका सत्कारकर जीवन धारण करते हैं, उनके द्वारा कोई कर्म न करनेपर भी आप अजित होकर उनके द्वारा जीत लिए जाते हैं। आप उनके प्रेमके अधीन हो जाते हैं॥२८॥

श्रेयःश्रृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवल बोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥२९॥

(श्रीमद्भागवत १०/१४/४)

हे प्रभो! परम कल्याण स्वरूप आपको पानेके लिए भक्ति ही एकमात्र श्रेष्ठ उपाय है। जिस प्रकार जलाशयसे निरन्तर जल प्रवाहित होता रहता है, उसी प्रकार भक्तिसे ही मोक्ष आदि चारों फल प्राप्त होते हैं। भक्ति होनेपर ज्ञान अपने आप आ जाता है, उसके लिए अलगसे प्रयत्न करनेकी आवश्यकता नहीं होती। जो लोग भक्तिको छोड़कर केवल ज्ञानकी प्राप्तिके लिए श्रम उठाते और दुःख भोगते हैं—उनको बस, क्लेश ही क्लेश हाथ लगता है, और कुछ नहीं जैसे थोथी भूसी कूटनेवालेका केवल श्रम ही होता है, उसे चावल नहीं मिलता॥२९॥

आरोह और अवरोह पन्थियोंकी गति—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः॥३०॥

हे कमलनयन! आपके भक्तोंके अतिरिक्त अन्य जो अपनेको विमुक्त कहकर अभिमान करते हैं, तथा आपके प्रति भक्तिभावसे रहित होनेके कारण जिनकी बुद्धि भी शुद्ध नहीं है। वे शम, दम आदि कठिन साधनाके फलसे स्वयंको जीवन्मुक्त बोध करते हैं, परन्तु आश्रयस्वरूप आपके पादपद्मोंका अनादर करनेके कारण अधःपतित हो पड़ते हैं अर्थात् पुनः हीन अवस्थाको प्राप्त होते हैं॥३०॥

तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्द्धसु प्रभो॥३१॥

(श्रीमद्भागवत १०/२/३२-३३)

हे माधव! जो आपके अपने निजजन (सुदृढ़ प्रीतियुक्त) हैं। जिन्होंने आपके चरणोंमें अपनी सच्ची प्रीति जोड़ रखी है, वे कभी भी उन ज्ञानाभिमानियोंकी भाँति अपने साधन मार्गसे गिरते नहीं। वे बड़े-बड़े विघ्नकारी सेनाके सरदारोंके सिरपर पैर रखकर निर्भय विचरते हैं, क्योंकि उनके रक्षक स्वयं आप तो हैं॥३१॥

जीवन्मुक्ता अपि पुनर्बन्धनं यान्ति कर्मभिः।
यद्यचिन्त्यमहाशक्तौ भगवत्यपराधिनः॥३२॥

(वासनाभाष्यधृत श्रीभगवत् परिशिष्टवचन)

अचिन्त्य महाशक्ति सम्पन्न श्रीभगवान्के पादपद्मोंमें अपराध होनेपर जीवन्मुक्त व्यक्ति भी अपने कर्मद्वारा पुनः बन्धनको ही प्राप्त होता है॥३२॥

जीवन्मुक्ताः प्रपद्यन्ते क्वचिद् संसार-वासनाम्।
योगिनो न विलिप्यन्ते कर्मभिर्भगवत्पराः॥३३॥

(पूर्वोक्त)

जीवन्मुक्तगण कभी-कभी संसार-वासनाको प्राप्त होते हैं, किन्तु भगवान्में एकान्त निष्ठा सम्पन्न योगिगण कभी भी कर्मवासनामें लिप्त नहीं होते॥३३॥

नानुव्रजति यो मोहाद्व्रजन्तं जगदीश्वरम्।
ज्ञानाग्निदग्धकर्मापि स भवेद् ब्रह्मराक्षसः॥३४॥

(रथयात्रा प्रसङ्गमें श्रीविष्णुभक्तिचन्द्रोदयधृत पुराणवाक्य)

मूर्खतासे प्रेरित होकर जो व्यक्ति श्रीमूर्त्ति विजय यात्राके समय उनके साथ-साथ नहीं चलता, वह व्यक्ति ज्ञानाग्नि द्वारा समस्त कर्मोंको भस्मीकृत कर लेने पर भी, ब्रह्मराक्षस कहा जाता है॥३४॥

प्राकृत पाण्डित्य, तपस्या, कर्म, ज्ञान, अष्टाङ्गयोगादि द्वारा भगवान्को देखने पर भी देखा नहीं जाता—

अद्यापि वाचस्पतयस्तपो विद्या समाधिभिः।
पश्यन्तोऽपि न पश्यन्ति पश्यन्तं परमेश्वरम्॥३५॥

(श्रीमद्भागवत ४/२९/४४)

ब्रह्मा आदि देवगण तपस्या, विद्या और समाधिके सतत अनुसन्धान करनेपर भी उस सर्वसाक्षी परमेश्वरको आजतक नहीं देख सके॥३५॥

वेदोंमें अवरोह-मार्गका उपदेश—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥३६॥

(मुण्डक ३/२/३, कठ २/२३)

(गुरु परम्परा क्रमसे जिस प्रणाली द्वारा तत्त्ववस्तु सत् सम्प्रदायको प्राप्त होती है, उसी प्रणालीका नाम अवरोह-मार्ग अथवा श्रौतपन्था है। इस मन्त्रमें श्रुति यही उपदेश करती हैं,)—यह परब्रह्म परमात्मा न तो प्रवचनसे, न बुद्धिसे और न बहुत सुननेसे ही प्राप्त होता है, बल्कि जिसको यह कृपाकर स्वीकार कर लेता है, उसके द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि यह परमात्मा उसके निकट ही अपने यथार्थ रूपको प्रकट करता है॥३६॥

अथापि ते देव पदाम्बुजद्वय-प्रसाद-लेशानुगृहीत एव हि।
जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्॥३७॥

(श्रीमद्भागवत १०/१४/२९)

हे देव! जो व्यक्ति आपके युगल चरणकमलोंका तनिक सा भी कृपाप्रसाद प्राप्त कर लेता है, उससे अनुगृहीत हो जाता है, वही आपकी सच्चिदानन्दमयी महिमाका तत्त्व जान सकता है। दूसरा कोई भी ज्ञान-वैराग्य आदि अपने साधनोंके द्वारा बहुत समय तक भी अनुसन्धान क्यों न करता रहे, वह आपकी महिमाका यथार्थ तत्त्व नहीं जान सकता॥३७॥

ईश्वरेर कृपालेश हय त' जाहारे।
सेई त' ईश्वरतत्त्व जानिबारे पारे॥३८॥

(चै. च. म. ६/८३)

जिसपर भगवान्‌की थोड़ीसी भी कृपा हो जाती है, वह भगवत् तत्त्वको जान सकता है। अपनी चेष्टा, विद्या और अध्ययनके द्वारा भगवत्-तत्त्व नहीं जाना जा सकता॥३८॥

ज्ञान और कर्मकी अपेक्षा भक्तिका श्रेष्ठत्व—

स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावो-
ऽप्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम्।
व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं
तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नतोऽस्मि॥३९॥

(श्रीमद्भागवत १२/१२/६८)

श्रील शुकदेव गोस्वामी ब्रह्म ज्ञानानन्दमें निमग्न थे। इस अखण्ड अद्वैत स्थितिसे उनकी भेद दृष्टि सर्वथा निवृत्त हो चुकी थी। किन्तु श्रीकृष्णकी भुवन मोहिनी मङ्गलमयी लीलाओंने उनकी वृत्तियोंको अपनी ओर आकर्षित कर लिया और उन्होंने जगत्के प्राणियोंपर कृपाकरके भगवत्तत्त्वको प्रकाशित करनेवाले इस महापुराणका विस्तार किया। मैं उन्हीं सर्वपापहारी व्यासनन्दन श्रीशुकदेवजीको नमस्कार करता हूँ। इससे भागवत वक्ता श्रील शुकदेव गोस्वामीकी कृष्णलीलामें आसक्ति एवं ब्रह्मानन्दकी अपेक्षा कृष्ण प्रेमानन्दकी श्रेष्ठता प्रदर्शित होती है॥३९॥

अष्टाङ्ग-योग पन्था भयप्रद है—

यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः।
मुकुन्दसेवया यद्वत् तथाद्धात्मा न शाम्यति॥४०॥

(श्रीमद्भागवत १/६/३६)

काम और लोभकी चोटसे बार-बार घायल हुआ हृदय श्रीकृष्णकी सेवासे जैसी प्रत्यक्ष शान्तिका अनुभव करता है; यम, नियम आदि अष्टाङ्ग योग मार्गोंसे वैसी शान्ति नहीं होती है॥४०॥

प्राणायामादि द्वारा मन निगृहीत नहीं होता—

युञ्जानानामभक्तानां प्राणायामादिभिर्मनः।
अक्षीणवासनं राजन् दृश्यते पुनरुत्थितम्॥४१॥

(श्रीमद्भागवत १०/५१/६१)

जो लोग मेरे भक्त नहीं होते, वे चाहे प्राणायाम आदिके द्वारा अपने मनको वशमें करनेका कितना ही प्रयत्न क्यों न करें, उनकी वासनाएँ क्षीण नहीं होतीं। हे राजन्! उनका मन फिरसे विषयोंके लिए मचल पड़ता है॥४१॥

प्रायशः पुण्डरीकाक्ष युञ्जतो योगिनो मनः।
विषीदन्त्यसमाधानान्मनोनिग्रहकर्शिताः ॥४२॥

(श्रीमद्भागवत ११/२९/२)

हे पुण्डरीकाक्ष! प्रायः देखा जाता है कि अधिकांश योगी जब अपने मनको एकाग्र करने लगते हैं, तब वे बार-बार चेष्टा करने पर भी सफल न होनेके कारण हार मान लेते हैं और उसे वशमें न कर पानेके कारण दुखी हो जाते हैं, क्योंकि उसके द्वारा उनका मन वशमें नहीं होता॥४२॥

प्राणायामादि योगाङ्ग कालक्षेपण हेतु मात्र (समय बिताना मात्र) है—

अन्तरायान् वदन्त्येतान युञ्जतो योगमुत्तमम्।
मया सम्पद्यमानस्य कालक्षपण हेतवः॥४३॥

(श्रीमद्भागवत ११/१५/३३)

जो लोग उत्तम योग अर्थात् भक्तियोगका अभ्यास कर रहे हैं, उनके लिए अन्य चेष्टा भक्तिपथमें एक विघ्न ही है। मेरे भक्त मेरे द्वारा ही समस्त साधनोंका फल पाते हैं, इसलिए उनके लिए यह सब साधन समयका दुरुपयोग मात्र है। मेरी सेवाको छोड़कर वे इस प्रकार समयका दुरुपयोग नहीं करते॥४३॥

प्रकृत योगी अथवा त्यागी कौन है?

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥४४॥

(गीता ६/१)

जो पुरुष कर्मफलमें अनासक्त रहकर अपने कर्त्तव्यका पालन करता है, वही सच्चा संन्यासी और योगी है, अग्निको त्यागनेवाला अथवा कर्मको त्यागनेवाला नहीं॥४४॥

निष्काम हइया करे जे कृष्ण-भजन।
ताहारे से बलि 'योगी' संन्यास-लक्षण॥
विष्णुक्रिया ना करिले परान्न खाइले।
किछु नहे, साक्षातेइ एइ वेदे बले॥४५॥

(चै. भा. अ. ३/४१-४२)

सब प्रकारकी कामनाओंको छोड़कर जो लोग निष्काम होकर कृष्णका भजन करते हैं, उन्हें योगी कहते हैं। यही संन्यासका लक्षण है अर्थात् निष्काम होना ही संन्यासका लक्षण है। विष्णु-क्रिया अर्थात् हरि-भजन नहीं करनेसे संन्यास ग्रहण करना परान्न भोजनके समान है अर्थात् निष्फल है। वेदोंमें स्पष्टरूपसे ऐसा कहा गया है॥४५॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्मात् योगी भवार्जुन॥४६॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥४७॥

(गीता ६/४६-४७)

योगी पुरुषको तपस्वियों, ज्ञानियों और सकाम कर्मियोंसे श्रेष्ठ माना गया है। इसलिए हे अर्जुन! तू सब प्रकारसे योगी हो जा। सब योगियोंमें भी जो योगी श्रद्धाभावसे मेरे परायण होकर मुझ वासुदेवका भजन करते हैं, वे सर्वश्रेष्ठ योगी हैं, यही मेरा मत है॥४६-४७॥

भक्तिके बिना अन्य उपायसे भगवान् सुलभ नहीं होते—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्ति-र्ममोर्जिता॥४८॥

(श्रीमद्भागवत ११/१४/२०)

भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवसे कहा—हे उद्धव! योग-साधन, ज्ञान-विज्ञान, धर्मानुष्ठान, जप-पाठ और तप-त्याग मुझे प्राप्त करानेमें उतने समर्थ नहीं हैं, जितनी दिनों-दिन बढ़ने वाली अनन्य प्रेममयी मेरी भक्ति॥४८॥

विविध उपायोंमें एकमात्र शुद्धभक्तिसे ही श्रीकृष्ण सुलभ हैं—

बापेर धन आछे जाने, धन नाहि पाय।
सर्वज्ञ कहे तारे प्राप्तिर उपाय॥
एइ स्थाने आछे धन बलि' दक्षिणे खुदिबे।
भीमरुल वरुली उठिबे, धन ना पाइबे॥
पश्चिमे खुदिबे, ताहा यक्ष एक हय।
से विघ्न करिबे, धन हाते ना पड़य॥
उत्तरे खुदिले आछे कृष्ण अजगरे।
धन नाहि पाबे, खुदिते गिलिबे सबारे॥
पूर्व दिके, ताते माटी अल्प खुदिते।
धनेर झारि पड़िबेक तोमार हातेते॥
एछे शास्त्र कहे—कर्म-ज्ञान-योग त्यजि।
भक्त्ये कृष्णवश हय, भक्त्ये ताँरे भजि॥
अतएव भक्ति—कृष्ण-प्राप्तिर उपाय।
अभिधेय बलि' तारे सर्वशास्त्रे गाय॥
धन पाइले ऐछे सुखभोग फल पाय।
सुखभोग हैते दुःख आपनि पलाय॥
तैछे भक्ति फले कृष्णे प्रेम उपजय।
प्रेमे कृष्णास्वाद हैले भवनाश पाय॥
दारिद्र्यनाश, भवक्षय—प्रेमेर फल नय।
प्रेमसुखभोग मुख्य प्रयोजन हय॥४९॥

(चै. च. म. २०/१३१-१३६, १३९-१४२)

वेद आदि शास्त्रोंमें लिखित साधन-भक्तिके द्वारा ही कृष्ण-सेवानन्दकी प्राप्ति तथा कृष्ण-माधुर्यका रसास्वादन सम्भव है, अन्यथा नहीं। इसीलिए यहाँ एक उदाहरण दिया जा रहा है—एक दरिद्र व्यक्ति धनाभावसे बहुत दुःखी रहता था।

सौभाग्यवश एक दिन एक ज्योतिषी उसके घर उपस्थित हुआ। उसने गृहीसे उसके दुःखका कारण पूछा। उसने सब कुछ जानकर कहा कि अरे! तुम इतने दुःखी क्यों हो रहे हो? तुम्हारे इस घरमें बहुतसा धन गढ़ा हुआ है। तुम्हारे पिताने तुमको बतलाया नहीं? वे कहीं बाहर गये थे, वहीं उनकी मृत्यु हो गई। ज्योतिषीकी बातको सुनकर वह दरिद्र बहुत ही आनन्दित हुआ। [ठीक इसी प्रकारसे जीव अनादि कालसे मायामुग्ध होकर कृष्णको भूल गया है। करुणासागर कृष्णने जीवोंके ऊपर कृपा करनेके लिए वेद, पुराणोंको इस धरा-धाममें प्रकटकर रखा है। जीवोंके हृदयमें श्रीकृष्ण सब समय विद्यमान रहते हैं, किन्तु जीवने कृष्णको विस्मरण कर रखा है। ऐसी स्थितिमें वेद, पुराण ही कृष्णधनसे रहित दरिद्र जीवको कृष्णका स्मरण कराते हैं।]

ज्योतिषीकी बात सुनकर दरिद्र व्यक्ति गढ़े हुए धनकी खोज करने लगा, किन्तु उसे वह धन नहीं मिला। वह ज्योतिषीसे धनके सम्बन्धमें पूछता है कि धन कहाँ है? शास्त्ररूप ज्योतिषी सर्वप्रथम उस व्यक्तिसे कृष्णका क्या सम्बन्ध है? इस सम्बन्ध ज्ञानका उपदेश करता है। पिताके द्वारा गाड़ा हुआ धन है, केवल इस ज्ञानसे धनकी प्राप्ति नहीं होती। ज्योतिषीने उसे प्राप्तिका उपाय बताया। उसने कहा जमीनको खोदो, किन्तु सावधान! दक्षिणकी ओर मत खोदना, यदि खोदा तो वहाँसे हड्डी, ततैया निकलेंगे, वे तुम्हें काट खायेंगे और धनकी प्राप्ति भी नहीं होगी। यदि पश्चिमकी ओर खोदोगे तो वहाँसे एक भयंकर यक्ष निकलकर तुम्हें बहुत कष्ट देगा। तुम्हें वहाँ भी धन नहीं मिलेगा वह सबको निगल जायेगा। वहाँ तुम्हें धनकी प्राप्ति नहीं होगी। देखो, पूर्व दिशामें वह गाढ़ा हुआ धन है। थोड़ीसी मिट्टी खोदो वहाँ सहज ही तुम्हें उस धनकी प्राप्ति हो जायेगी। इस प्रकार ज्योतिषीके निर्देशानुसार खोदनेपर उस निर्धन व्यक्तिको गाढ़ा हुआ पितृ-धन निश्चितरूपमें मिल जाता है। इसी प्रकार शास्त्र भी कृष्णप्रेम-धनको प्राप्त करनेका साधन निर्देश करते हैं। वे कहते हैं कि कर्म, ज्ञान, योग साधनोंको छोड़कर केवल साधन भक्तिका अनुष्ठान करनेसे ही कृष्ण-प्रेमरूप सम्पत्ति निश्चितरूपमें प्राप्त होती है।

इसलिए कृष्णकी सेवा पानेके लिए भक्ति ही एकमात्र साधन है। इसीलिए श्रीमद्भागवत आदि समस्त शास्त्रोंमें भक्तिको अभिधेय (साधन) कहा गया है। जैसे धनकी प्राप्ति होनेपर उसीसे सुखरूपी फल प्राप्त होता है। सुख भोगसे दुःख अपने आप दूर हो जाता है, वैसे ही साधन-भक्तिसे कृष्णके चरणोंमें प्रेमकी प्राप्ति होती है तथा कृष्ण-प्रेमका आस्वादन होनेसे अपने आप संसारका ताप दूर हो जाता है। दरिद्रताका नाश करना अथवा जन्म-मरणको दूर करना प्रेमका

(मुख्य) फल नहीं है। उसका मुख्य फल कृष्णकी प्रेममयी सेवा-सुखका भोग करना है। यहाँ उपमेय हैं—पूर्व दिशामें कृष्ण-भक्ति, दक्षिण दिशामें कर्मकाण्ड, पश्चिममें सिद्धिकाण्ड (मतान्तरसे ज्ञान काण्ड), उत्तरमें ज्ञान काण्ड (मतान्तरसे योग काण्ड) यहाँ उपमान हैं—पूर्व दिशामें गढ़ा हुआ पितृ-धन, दक्षिणमें ततैया, पश्चिममें यक्ष, उत्तरमें काला अजगर॥४९॥

भक्तकी गति और कर्मी-ज्ञानियोंकी गति एकसी नहीं है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥५०॥

(गीता १०/१०)

उन निरन्तर भक्तिके परायण, प्रेमसहित मुझे भजनेवाले भक्तोंको मैं शुद्धज्ञान जनित वही विमल प्रेमयोग दान करता हूँ, जिसके द्वारा वे मेरे परम धामको प्राप्त होते हैं॥५०॥

योगस्य तपसश्चैव न्यासस्य गतयोऽमलाः।
महर्जनस्तपः सत्यं भक्तियोगस्य मद्गतिः॥५१॥

(श्रीमद्भागवत ११/२४/१४)

योग, तप और संन्यास—इनकी गति कर्मगतिकी अपेक्षा निर्मल है। इन सब मार्गोंमें योगीगण महर्लोक, तपलोक और सत्यलोक प्राप्त करते हैं, किन्तु प्रेमभक्तियोगसे भक्तगण मेरे चिद्धाम वैकुण्ठको ही जाते हैं॥५१॥

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥५२॥

(गीता ९/२५)

देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं, पितरोंको पूजनेवाले पितरोंको प्राप्त होते हैं तथा भूतोंको पूजनेवाले भूतोंको प्राप्त होते हैं, किन्तु मेरे सच्चिदानन्द स्वरूपके उपासक मुझको ही प्राप्त होते हैं॥५२॥

भुक्ति मुक्ति वाञ्छे जेइ काँहा दुहार गति।
स्थावरदेह देवदेह जैछे अवस्थिति॥५३॥

(चै. च. म. ८/२५६)

जो लोग मुक्ति चाहते हैं उनकी गति कहाँ होती है? तथा जो लोग मुक्ति अथवा भोग चाहते हैं उनकी गति कहाँ होती है? रायरामानन्द इसका उत्तर दे रहे हैं—जड़-भोगकी इच्छासे रहित मुक्तिवादी सिद्ध होनेपर चित्-क्रियाशून्य अर्थात् सुप्त चेतन स्थावर देह जैसी गतिको प्राप्त होते हैं। क्योंकि निर्विशेष ब्रह्ममें मिलने पर उनकी चेतन-क्रिया स्तब्ध हो जाती है। जड़-भोगकी लालसावाले भोगवादी अपने सत्कर्मोंके फलसे भोगोपयोगी देव-शरीर प्राप्तकर भोगोंको भोगते हैं॥५३॥

भक्तोंका चरित्र कैसा है?

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥५४॥

(गीता १०/९)

अनन्य भक्तोंका चरित्र ऐसा है—उनके प्राण मेरी सेवामें ही अर्पित रहते हैं, परस्पर एक दूसरेको मेरी महिमाका बोध कराने और मेरी वार्त्ता करनेमें उन्हें निरन्तर सन्तोष और आनन्दकी प्राप्ति होती है—वे उसीमें रमण किया करते हैं॥५४॥

परिशिष्ट

तत एवाभेदशास्त्राण्युभयोश्चिद्रूपत्वेन जीवसमूहस्य तदेकत्वेऽपि दुर्घटघटनापटीयस्या स्वाभाविकतदचिन्त्यशक्त्या स्वभावत एव तद्रश्मि-परमाणुगणस्थानीयत्वात्तद्व्यतिरेकेणाव्यतिरेकेण च विरोधं परिहृत्याग्रे मुहुरपि तदेतद्व्याससमाधिलब्धसिद्धान्तयोजनाय योजनीयानि॥१॥

(तत्त्वसन्दर्भ— अ. ४३)

ईश्वर और जीव दोनों ही चिद्रूप होनेसे श्रीभगवान्‌की अघटन-घटन-पटीयसी स्वाभाविकी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे जीव स्वभावतः भगवान्‌की रश्मि तथा परमाणु स्थानीय है। इसलिए व्यतिरेक और अव्यतिरेक दोनों भावोंके विरोधको परित्यागकर अब आगे फिर भेद और अभेदके सम्बन्धमें श्रीव्यासदेवके समाधिमें अनुभव किये हुए सिद्धान्तके साथ सामञ्जस्यकी रक्षाके लिए अभेद परक शास्त्र वचनोंकी विवेचना करनी होगी॥१॥

पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम्।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम्॥२॥

(श्रीमद्भागवत २/२/३७)

हे राजन्! जो लोग भक्तोंकी आत्माके प्रकाशक भगवान् श्रीहरिका कथामृत कानरूपी दोनोंमें भर-भरकर पान करते हैं, उनके हृदयसे विषयोंका विषैला प्रभाव जाता रहता है, वह शुद्ध हो जाता है और वे भगवान् श्रीकृष्णके चरण-कमलोंका सान्निध्य प्राप्तकर लेते हैं॥२॥

अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥३॥

(श्रीमद्भागवत ६/११/२६)

जैसे पक्षियोंके पंखहीन बच्चे अपनी माँकी बाट जोहते रहते हैं, जैसे भूखे बछड़े अपनी माँका दूध पीनेके लिए आतुर रहते हैं और जैसे वियोगिनी प्रेयसी अपने प्रवासी प्रियतमसे मिलनेके लिए उत्कण्ठित रहती है, वैसे ही हे कमलनयन! मेरा मन आपके दर्शनके लिए छटपटा रहा है॥३॥

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः।
भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः॥४॥

(श्रीमद्भागवत ६/३/२२)

नाम संकीर्त्तनादि द्वारा श्रीभगवान् वासुदेवमें जो भक्तियोग है—यह इस जगत्में जीवोंके लिए परम धर्म है॥४॥

मदीशानाथत्वे ब्रजविपिनचन्द्रं ब्रजवने-
श्वरीं तां नाथत्वे तदतुल-सखीत्वे तु ललिताम्।
विशाखां शिक्षाली-वितरण-गुरुत्वे प्रियसरो-
गिरीन्द्रौ तत्प्रेक्षा-ललितरतिदत्वे स्मर मनः॥५॥

(मनःशिक्षा—९)

अब मधुर रसके रागानुगीय भजनमें परस्पर कैसा सम्बन्ध होना चाहिए—इस विषयमें उपदेश कर रहे हैं—हे मन! तुम वृन्दावनचन्द्र श्रीकृष्णको मेरी स्वामिनी श्रीराधिकाके प्राणनाथरूपमें, वृन्दावनेश्वरी श्रीमती राधिकाको मेरी स्वामिनीरूपमें, ललिताजीको स्वामिनी श्रीराधिकाजीकी अतुलनीय सखीरूपमें, विशाखाको श्रीयुगल- सेवा परिपाटीकी शिक्षा देनेवाली गुरु रूपमें तथा श्रीराधाकुण्ड और गिरिराज गोवर्द्धन-इन दोनोंको श्रीराधाकृष्णका दर्शन करानेवाले तथा उनके श्रीचरणकमलोंमें मनोहर रति प्रदाताके रूपमें सदैव स्मरण करो॥५॥

तन्नामरूपचरितादि-सुकीर्त्तनानु-
स्मृत्योः क्रमेण रसनामनसी नियोज्य।
तिष्ठन् व्रजे तदनुरागिजनानुगामी
कालं नयेदखिलमित्युपदेशसारम्॥६॥

(उपदेशामृत—८)

भक्तमात्रको चाहिए कि वह अपनी रसना और मनको अन्यान्य कृष्णेतर विषयोंसे हटाकर श्रीकृष्णके नाम, रूप, गुण और लीला-कथाके कीर्त्तन और स्मरणमें क्रमशः लगाकर श्रीव्रजमण्डलमें ही निवास कर, श्रीकृष्णके अनुरागीजनोंका अनुगामी बनकर अपने सम्पूर्ण समयको व्यतीत करता रहे; यही सारे उपदेशोंका सार है॥६॥

सेवा साधकरूपेण सिद्धरूपेण चात्र हि।
तद्भावलिप्सुना कार्या व्रजलोकानुसारतः॥

(भ. र. सि. १/२/२९५)

कृष्णं स्मरन् जनञ्चास्य प्रेष्ठं निजसमीहितम्।
तत्तत्कथारतश्चासौ कुर्याद्वासं ब्रजे सदा॥७॥

(भ. र. सि. १/२/२९४)

रागानुगा भक्तिका अनुष्ठान दो प्रकारसे किया जाता है—साधकरूपसे अर्थात् यथावस्थित देह (बाह्यदेह) द्वारा और सिद्धरूपसे अर्थात् अपने अभिलषित प्रेमसेवाके उपयोगी अन्तश्चिन्तित देहके द्वारा ब्रजस्थित अपने अभीष्ट श्रीकृष्णके एवं श्रीकृष्णके प्रियकरोंके भाव या श्रीकृष्ण-विषयक रति प्राप्त करनेके लिए लुब्ध होकर उन ब्रजलोकके परिकरों, श्रीकृष्णके अत्यन्त प्रियजनों, श्रीराधिका-ललिता-विशाखा-श्रीरूपमञ्जरी आदि एवं उनके अनुगत श्रीरूपगोस्वामी, सनातन गोस्वामी आदिके अनुसार करना होता है। सिद्धरूपसे मानसी-सेवा श्रीराधा-ललिता-विशाखा-श्रीरूपमञ्जरी आदि ब्रजवासियोंके अनुसार करनी होगी तथा साधकरूपसे कायिकी सेवा श्रीरूप-सनातनादि ब्रजवासी महानुभावोंके अनुसार करनी होगी॥७॥

श्रवणोत्कीर्त्तनादीनि वैधभक्त्युदितानि तु।
यान्यङ्गानि च तान्यत्र विज्ञेयानि मनिषिभिः॥८॥

(भ. र. सि. १/२/२९६)

वैधी भक्तिमें श्रवण, कीर्त्तन आदि जो अङ्ग हैं, रागानुगा भक्तिमें भी उन-उन अङ्गोंकी उपयोगिता एवं अपेक्षा है। मनीषिगण अपने-अपने स्वभावके अनुसार भक्ति अङ्गोंका आचरण करेंगे, उसके विरुद्ध होने पर आचरण नहीं करेंगे॥८॥

श्रीमद्भागवतार्थानामास्वादो रसिकैः सह।
सजातीयाशये स्निग्धे साधौ सङ्गः स्वतो वरे॥९॥

अपनेसे उत्तम सजातीय अर्थात् जिस भावमें साधकका लोभ है उन्हें उसी भावके ही प्रेमी साधुओंके साथ सत्सङ्ग तथा रसिकोंके साथ श्रीमद्भागवतके अर्थोंका आस्वादन करना चाहिए। इधर रसिक शब्दसे ब्रजरसके रसिकको समझना होगा॥९॥

इति 'गौड़ीय-कण्ठहार'में 'अभिधेयतत्त्व' वर्णन नामक बारहवाँ रत्न समाप्त।

U U U

तेरहवाँ रत्न

साधनभक्ति–तत्त्व

ज्ञान–मिश्रा–भक्ति—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥१॥

(गीता १८/५४)

ब्रह्ममें अवस्थित अर्थात् देहाभिमानशून्य प्रसन्नचित्त व्यक्ति अनित्य वस्तुके लिए शोक और अप्राप्त वस्तुके लिए इच्छा नहीं करते हैं। वे ही सब प्राणियोंमें समभाव रखते हुए मुझ (भगवान्) में शुद्ध भक्ति प्राप्त करते हैं॥१॥

कर्म–मिश्रा–भक्ति—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददाति यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्वमदर्पणम्॥२॥

(गीता ९/२७)

श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा,—हे अर्जुन! तुम्हारा एकमात्र कर्त्तव्य है कि तू जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ भोग करता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान करता है और जो तपस्या करता है, वह सब मुझे अर्पण कर अर्थात् मेरी प्रीतिविधानके लिए तदनुकूल समस्त अनुष्ठान कर॥२॥

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
विष्णुराराध्यते पन्थानान्यत्तत्तोष कारणम्॥२॥

(विष्णुपुराण ३/८/९)

विशुद्ध वर्णाश्रम–आचारनिष्ठ व्यक्तिके द्वारा ही पुरुषोत्तम श्रीविष्णु आराधित होते हैं। उसकी यह आराधना ही उसके सन्तोष विधानके लिए एकमात्र पथ है, दूसरा नहीं॥३॥

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥४॥

(गीता ३/९)

श्रीहरिकी प्रसन्नताके लिए किये गये निष्काम कर्मको यज्ञ कहते हैं। अतः यज्ञके उद्देश्यसे अनुष्ठित कर्मके अतिरिक्त अन्य समस्त कर्मोंको इस प्राकृत जगत्में बन्धनका हेतु जानो। इसलिए हे अर्जुन! कर्मफलकी आकांक्षासे रहित होकर श्रीहरिकी प्रसन्नताके लिए कर्मोंका आचरण करो॥४॥

भक्तिकी संज्ञा—

सा परानुरक्तिरीश्वरे ॥५॥ (शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र १/२)

ईश्वरमें परानुरक्ति ही भक्ति है॥५॥

अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञान-कर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥६॥

(भ. र. सि. पूर्वविभाग १/९)

श्रीकृष्णको सुखी करनेकी स्पृहाके अतिरिक्त समस्त प्रकारकी अभिलाषाओंसे रहित, ज्ञानकर्मादिके द्वारा अनावृत्त, एकमात्र श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिए ही कायिक, मानसिक और वाचिक समस्त चेष्टाओं और भावके द्वारा तैल-धारावत् अविच्छिन्न गतिसे जो कृष्णका अनुशीलन अर्थात् श्रीकृष्णकी सेवा की जाती है, उसे (उन समस्त चेष्टाओंको) उत्तमा भक्ति कहते हैं॥१॥

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषिकेण हृषीकेश-सेवनं भक्तिरुच्यते ॥७॥

(भ. र. सि. पूर्वविभाग १/१० नारद पञ्चरात्र)

(अप्राकृत) इन्द्रियों द्वारा (अप्राकृत) इन्द्रियाधिपति श्रीकृष्णकी सेवा ही भक्ति है। ऐसी भक्ति औपाधिक अर्थात् देह और मनोधर्मके व्यवधानसे रहित कृष्णकी प्रीतिके लिए अखिल चेष्टायुक्त एवं निर्मल अर्थात् ज्ञान-कर्मरूप लताओंसे आच्छादित नहीं है॥७॥

श्रुतियोंमें भक्तिका माहात्म्य—

भक्तिरेवैनं नयति भक्तिरेवैनं दर्शयति भक्तिवशः पुरुषो भक्तिरेव भूयसी ॥८॥

(३/३/५३ सूत्रका माध्वभाष्यधृत माठर-श्रुति-वचन)

भक्ति ही जीवको भगवान्‌के निकट ले जाती है, भक्ति ही जीवको भगवद्दर्शन कराती है। वे परम पुरुष भगवान् एकमात्र भक्तिके ही अधीन हैं। भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है॥८॥

ॐ अमृतरूपा च ॥९॥

भक्ति अमृत स्वरूपिणी है॥९॥

ॐ यॅल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धोभवत्यमृतीभवति तृप्तो भवति ॥१०॥

उस भक्तिको प्राप्तकर जीव सिद्ध होते हैं, अमृतत्व अर्थात् मोक्ष प्राप्त करते हैं एवं आत्मतृप्त होते हैं॥१०॥

ॐ यत् प्राप्य न किञ्चित् वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति॥११॥

(नारदसूत्र १/४-५)

भक्ति प्राप्तकर लेने पर विषय-वासना, शोक द्वेष एवं भगवद्विमुख कर्म—इनमें जीवका उत्साह नहीं रहता॥११॥

वैधी और रागानुगा भेदसे 'साधनभक्ति' दो प्रकारकी है—

(१) वैधीभक्ति—

शास्त्रोक्तया प्रबलया तत्तन्मर्यादयान्विता।
वैधी भक्तिरियं कैश्चिन्मर्यादामार्ग उच्यते॥१२॥

शास्त्रोक्त प्रबल मर्यादायुक्त इस वैधी भक्तिको कोई-कोई मर्यादा मार्ग कहकर उल्लेख करते हैं॥१२॥

(२) रागात्मिका भक्ति—

इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत्।
तन्मयी या भवेद्भक्तिः सात्र रागात्मिकोदिता॥१३॥

(भ. र. सि. पू. वि. २/३१)

इष्ट वस्तुमें जो स्वाभाविकी परम आविष्टता (अनुरक्ति) होती है, उसे राग कहते हैं। कृष्णभक्ति जब इस रागमयी अवस्थाको प्राप्त हो जाती है, तब उस भक्तिको 'रागात्मिका भक्ति' कहते हैं॥१३॥

वैधी भक्तिका उदाहरण—

सुरर्षे विहिता शास्त्रे हरिमुद्दिश्य या क्रिया।
सैव भक्तिरिति प्रोक्ता तया भक्तिः परा भवेद्॥१४॥

(भ. र. सि. पू. वि. २/८ पञ्चरात्रवाक्य)

हे देवर्षे! श्रीहरिके उद्देश्यसे जो सब क्रियायें शास्त्रोंमें विहित हैं, उनको ही साधनभक्ति, वैधीभक्ति या उपायभक्ति कहते हैं, इसका पालन करते-करते पराभक्ति या साध्यभक्ति या उपेयभक्ति प्राप्त होती है अर्थात् प्रेमभक्ति प्राप्त होती है॥१४॥

रागानुगा भक्तिका उदाहरण—

लोकधर्म, वेदधर्म, देहधर्म-कर्म।
लज्जा, धैर्य, देहसुख, आत्मसुख-मर्म॥
दुस्त्याज्य आर्यपथ, निज परिजन।
स्वजने करये जत ताड़न-भर्त्सन॥

सर्वत्याग करि' करे कृष्णेर भजन।
कृष्णसुख हेतु करे प्रेम-सेवन॥
इहाके कहिये कृष्ण दृढ़ अनुराग।
स्वच्छ धौतवस्त्रे यैछे नाहि कोन दाग॥
अतएव काम-प्रेमे बहुत अन्तर।
काम—अन्धतमः, प्रेम—निर्मल भास्कर॥
अतएव गोपीगणेर नाहि कामगन्ध।
कृष्णसुख लागि' मात्र, कृष्णसे सम्बन्ध।
आत्म-सुख-दुःखे गोपीर नाहिक विचार।
कृष्णसुखहेतु करे सब व्यवहार॥
कृष्ण लागि' आर सब करि' परित्याग।
कृष्णसुखहेतु करे शुद्ध अनुराग॥१५॥

(चै. च. आ. ४/१६७-१७२, १७४-१७५)

लोकधर्म, वेदधर्म, देहधर्म, विविध प्रकारके कर्म, लज्जा, धैर्य, अपनी इन्द्रियोंका सुख, दुस्त्यज्य आर्यपथ, परिजनोंके प्रति प्रीति तथा स्वजन-बान्धवोंका भय—ये सर्वस्व परित्यागकर गोपियाँ एकमात्र कृष्णका सुख विधान करनेके लिए प्रेमपूर्वक उनकी सेवा करती हैं। जिस प्रकार धुले हुए वस्त्रमें किसी प्रकारका दाग नहीं होता, उसी प्रकार उनके प्रेममें किसी प्रकारकी कपटता (निजेन्द्रियसुख) रूपी दाग नहीं होता है। ऐसा निर्मल प्रेम ही कृष्णमें अनुराग कहलाता है।

अतएव काम और प्रेममें बहुत अन्तर है। काम घने अन्धकारके समान है तथा प्रेम मेघरहित निर्मल आकाशमें चमकते हुए सूर्यके समान है। अतः गोपियोंमें लेशमात्र भी कामकी गन्ध नहीं है। एकमात्र श्रीकृष्णका सुख ही उनकी काम्य वस्तु है। अपने सुख-दुःखके विषयमें गोपियोंको लेशमात्र भी चिन्ता नहीं होती। उनकी सारी क्रियाएँ श्रीकृष्णको सुख प्रदान करनेके लिए होती हैं। कृष्णके लिए अपना सर्वस्व परित्यागकर कृष्णकी प्रसन्नताके लिए शुद्ध अनुराग करती हैं॥१५॥

नवधा भक्ति—

श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥१६॥
इति पुंसार्पिता विष्णो भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥१७॥

(श्रीमद्भागवत ७/५/२३-२४)

जो स्वयं भगवान् श्रीविष्णुके प्रति आत्मसमर्पणपूर्वक ज्ञान, कर्म, योग आदि व्यवधानोंसे रहित होकर तद्विषयक श्रवण, उन्हींका कीर्त्तन, उनके नामरूप आदिका स्मरण, उनके चरणोंकी सेवा, पूजा-अर्चा, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—ये नौ प्रकारकी भक्ति करते हैं, उन्होंने ही उत्तमरूपसे शास्त्र अध्ययन किया है—ऐसा कहा जाता है। अर्थात् उनका ही शास्त्रानुशीलन सार्थक हुआ है॥१६-१७॥

श्रीविष्णोः श्रवणे परीक्षिदभवद्वैयासकिः कीर्त्तने
प्रह्लादः स्मरणे तदङ्घ्रिभजने लक्ष्मीः पृथुः पूजने।
अक्रूरस्त्वभिवन्दने कपिपतिर्दास्येऽथ सख्येऽर्जुनः
सर्वस्वात्मनिवेदने बलिरभूत् कृष्णाप्तिरेषां परम्॥१८॥

(भ. र. सि. पू. वि. २/१२९)

राजा परीक्षित श्रीविष्णुकी कथा श्रवणसे, शुकदेव उनके कीर्त्तनसे, प्रह्लाद उनके स्मरणसे, लक्ष्मी पादसेवनसे, पृथु महाराज उनके पूजनसे, अक्रूर वन्दनासे, कपिपति हनुमान दास्यसे, अर्जुन उनके साथ सखा भावसे एवं बलिने उनके चरणोंमें सर्वस्व दान और आत्मनिवेदन द्वारा भगवान्‌को प्राप्त किया है॥१८॥

नवधा भक्तिमें श्रवण, कीर्त्तन और स्मरणकी श्रेष्ठता—

तस्मात् सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्त्तव्यो भगवान् नृणाम्॥१९॥

(श्रीमद्भागवत २/२/३६)

श्रील शुकदेव गोस्वामी परीक्षित महाराजको भगवत्प्रेम प्राप्तिका उपाय बताते हुए कहते हैं—हे राजन्! मनुष्योंका कर्त्तव्य है कि सब समय और सभी स्थितियोंमें अपनी सम्पूर्ण शक्तिसे भगवान् श्रीहरिका ही श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण करे॥१९॥

श्रवण—

तव कथामृतं तप्त जीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः॥२०॥

(श्रीमद्भागवत १०/३१/९)

हे कृष्ण! संसारमें जो आपकी उन लीलाकथाओंका गान करते हैं, जो कि ताप-क्लिष्ट व्यक्तियोंके लिए जीवनस्वरूप, ब्रह्मा-नारदादि द्वारा आराधित, सर्वपापनाशक, श्रवण मात्रसे परममङ्गलप्रद, सर्वशक्तिसमन्वित और सर्वव्यापक हैं, वे ही सर्वश्रेष्ठ वदान्य हैं॥२०॥

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात् ।
क उत्तमःश्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्॥२१॥

(श्रीमद्भागवत १०/१/४)

जिनकी सांसारिक तृष्णा सर्वदाके लिए बुझ चुकी है, वे जीवन्मुक्त महापुरुष भी पूर्ण प्रेमसे अतृप्त रहकर श्रीकृष्णकी गुणावलीका कीर्त्तन किया करते हैं। मुमुक्षुजनोंके लिए जो भवरोगकी रामबाण औषध है तथा विषयी लोगोंके लिए भी उनके कान और मनको परम आह्लाद देनेवाली है, भगवान् श्रीकृष्णके ऐसे सुन्दर, सुखद, रसीले गुणानुवादसे पशुघाती अथवा आत्मघाती मनुष्यके अतिरिक्त और ऐसा कौन है जो विमुख हो जाय, उससे प्रीति न करे॥२१॥

क्रम प्राप्त श्रवण—

तच्च नामरूपगुणलीलामयशब्दानां श्रोत्रस्पर्शः। प्रथमं नाम्नः श्रवणमन्तःकरणशुद्ध्यर्थमपेक्ष्यम्। शुद्धे चान्तःकरणे रूपश्रवणेन तदुदययोग्यता भवति। सम्यगुदिते च रूपे गुणानां स्फुरणं सम्पद्येत, सम्पन्ने च गुणानां स्फुरणे परिकरवैशिष्ट्यैन तद्वैशिष्ट्यं सम्पद्यते। ततस्तेषु नामरूपगुणपरिकरेषु सम्यक् स्फुरितेषु लीलानां स्फुरणं सुष्ठु भवति। तत्रापि श्रवणे श्रीभागवत श्रवणस्तु परमश्रेष्ठम्॥२२॥

(श्रीमद्भा. ७/५/१८ श्लोककी क्रमसन्दर्भटीका)

(श्रीभगवान् और भक्तके) नाम-रूप-गुण-लीलामय शब्दसमूहके कानोंद्वारा सुनने पर उसको सुनना या श्रवण कहते हैं। साधनके प्रारम्भमें अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए भगवन्नाम-श्रवणकी अपेक्षा रहती है। अन्तःकरणके शुद्ध अर्थात् विषयमल-मुक्त होनेपर भगवान्‌की रूप सम्बन्धी कथा श्रवण एवं इस कथाके फलसे हृदयमें रूपके उदय होनेकी योग्यता प्राप्त होती है। रूपकी कथा सुननेसे रूपका पूर्णतः उदय होनेपर गुणोंकी स्फूर्ति होती रहती है। गुणोंकी पूर्ण स्फूर्ति होनेपर परिकरोंका सेवा वैचित्र्य एवं उनके साथ उनका लीला वैशिष्ट्य भी स्फुरित होता है। इस प्रकार उसके नाम रूपादिके स्फुरणमें उनकी लीला सर्वाङ्ग सम्पन्न होकर सुन्दर भावसे स्फुरित होती है॥२२॥

श्रवण माहात्म्य—

पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम्।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम्॥२३॥

(श्रीमद्भागवत २/२/३७)

जो अपने उपास्य–स्वरूप स्वयं भगवान् श्रीहरिकी और उनके भक्तोंका कथामृत अपने कानके दोनोंमें भर–भरकर उसका पान करते हैं, उनके हृदयसे विषयोंका विषैला प्रभाव जाता रहता है–वह शुद्ध हो जाता है और वे भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंका सान्निध्य प्राप्तकर लेते हैं॥२३॥

श्रृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्त्तनः।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत् सताम्॥२४॥

(श्रीमद्भागवत १/२/१७)

भगवान् श्रीकृष्णके यशका श्रवण और कीर्त्तन दोनों पवित्र करनेवाले हैं। वे अपनी कथा सुननेवालों के हृदयमें आकर स्थित हो जाते हैं और उनकी अशुभ कामादि वासनाओंको नष्ट कर देते हैं, क्योंकि वे सन्तोंके नित्य सुहृद हैं॥२४॥

श्रृण्वतः श्रद्धया नित्यं गृणतश्च स्वचेष्टितम्।
कालेन नातिदीर्घेण भगवान् विशते हृदि॥२५॥

(श्रीमद्भागवत २/८/४)

जो श्रीहरिकी सुमङ्गल कथाओंका श्रद्धापूर्वक नित्य श्रवण अथवा स्वयं कीर्त्तन करते हैं, भगवान् उनके हृदयमें थोड़े ही समयमें प्रकट हो जाते हैं। उस विषयमें श्रवण–कीर्त्तनकारी भक्तका कृत्रिमभावसे लीलास्मरण आदिका प्रयोजन नहीं होता। इसके द्वारा ज्ञात होता है कि स्मरण श्रवण–कीर्त्तनके ही अधीन है—"श्रवण–कीर्त्तनाधीनमेव स्मरणमिति ज्ञापितम्"—श्रीचक्रवर्ती ठाकुर॥२५॥

'कीर्त्तन' शब्दका अर्थ—

नाम–लीला–गुणादीनामुच्चैर्भाषा तु कीर्त्तनम्॥२६॥

(भ. र. सि. पू. वि. २/६३)

नाम, गुण और लीलादिके उच्च स्वरसे कथनको ही कीर्त्तन कहते हैं॥२६॥

कृष्ण विषयक श्रवणकीर्त्तनादि प्राकृत श्रोत्रवागादि इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है—

निजेन्द्रियमनः कायचेष्टारूपां न विद्धि ताम्।
नित्यसत्यघनानन्दरूपा सा हि गुणातिगा॥२७॥

(बृहद्भागवतामृत पू. वि. २/३/१३३)

श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, वन्दन आदि भक्ति श्रोत्र, वाक्, मन और देहका व्यापार नहीं है। इस भक्तिको नित्या, सत्या, घनानन्दरूपा, गुणातीता एवं प्राकृत इन्द्रियोंके द्वारा अगोचर समझो॥२७॥

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः।
सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः॥२८॥

(भ. र. सि. पू. वि. २/१०९)

इसलिए श्रीकृष्ण नामादि प्राकृत इन्द्रियोंकी ग्राह्य वस्तु नहीं हो सकती। सेवोन्मुख अवस्थामें उसके नाम-रूप-गुण-लीलादि भक्तकी अप्राकृत जिह्वा, चक्षु आदि इन्द्रियोंमें स्वयं प्रकाशित होती हैं॥२८॥

कीर्त्तन—

कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्त्तनात्॥२९॥

(श्रीमद्भागवत १२/३/५२)

सत्ययुगमें भगवान्‌का ध्यान करनेसे, त्रेतामें बड़े-बड़े यज्ञोंके द्वारा उनकी आराधना करनेसे और द्वापरमें विधिपूर्वक उनका अर्चन करनेसे जो फल मिलता है, वह कलियुगमें केवल भगवन्नामका कीर्त्तन करनेसे ही प्राप्त हो जाता है॥२९॥

नाम महिमा—

सकृदुच्चारितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम्।
बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति॥३०॥

(पद्मपुराण उ. ख. ४६ अध्याय)

जो निरपराध पूर्वक 'हरि' ये दो अक्षर एकबार भी उच्चारण करते हैं, उनकी कभी भी बुरी गति नहीं होती, वे मुक्तिके पथानुसरणमें ही दृढ़ होते हैं॥३०॥

ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ सङ्कीर्त्य केशवम्॥३१॥

(पद्मपुराण उ. ख. ४२ अध्याय)

ध्यान और जपके द्वारा सत्ययुगमें, यज्ञद्वारा त्रेतायुगमें एवं अर्चन द्वारा द्वापरयुगमें जो फल मिलता है, वह कलियुगमें केवल भगवन्नाम कीर्त्तन करनेसे ही प्राप्त हो जाता है॥३१॥

गुण कीर्त्तन—

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा स्विष्टस्यसूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो यदुत्तमःश्लोक गुणानुवर्णनम्॥३२॥

(श्रीमद्भागवत १/५/२२)

नारदजीने कहा—हे व्यास! उत्तम श्लोकोंमें श्रीकृष्णका जो गुणानुवर्णन है, उसको ही पण्डितजनोंने तपस्या, वेदाध्ययन, यज्ञ, मन्त्रपाठ, ज्ञान एवं दान—इन समस्त कर्मोंका ही नित्यफल कहकर वर्णन किया है॥३२॥

श्रुतस्य पुंसां सुचिरश्रमस्य नन्वञ्जसा सूरिभिरीडितोऽर्थः।
यत्तद्गुणानुश्रवणं मुकुन्दपादारविन्दं हृदयेषु येषाम्॥३३॥

(श्रीमद्भागवत ३/१३/४)

हे मुने! जिनके हृदयमें श्रीमुकुन्दके चरणारविन्द विराजमान हैं, उन भक्तजनोंके गुणोंको श्रवण करना ही मनुष्योंके बहुत दिनों तक किये हुये शास्त्राभ्यासके श्रमका मुख्य फल है, ऐसा विद्वानोंका मत है॥३३॥

भगवान्की गुण महिमा—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥३४॥

(श्रीमद्भागवत १/७/१०)

ब्रह्मानन्दमें मग्न एवं ब्रह्मचिन्तारत मुनिगण क्रोधाहङ्कारसे मुक्त होकर भी भगवान्की हेतुरहित भक्ति किया करते हैं, क्योंकि भगवान्के गुण ऐसे ही मधुर हैं, जो सबको अपनी ओर खींच लेते हैं॥३४॥

नाम कीर्त्तन ही श्रेष्ठ है—

परं श्रीमत्पदाम्भोजसदासङ्गत्यपेक्षया।
नामसङ्कीर्त्तनप्रायां विशुद्धां भक्तिमाचर॥३५॥

(वृहद्भागवतामृत २/३/१४४)

(हे मन!) तुम यदि (भृङ्गकी भाँति) भगवद्पादपद्मोंके सङ्गकी अपेक्षा करते हो, तो उनके नामसङ्कीर्त्तनयुक्त विशुद्ध भक्तिका आचरण करो॥३५॥

हरिनामके बिना जीवकी गति नहीं है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥३६॥

(चै. च. आ. १७/२१ संख्याधृत वृहन्नारदीय-वचन)

हरेर्नाम श्लोकको व्याख्या—

कलिकाले नामरूपे कृष्ण-अवतार।
नाम हइते हय सर्व जगत्-निस्तार॥
दार्ढ्य लागि' 'हरेर्नाम' उक्ति तिनबार।
जड़लोक बुझाइते पुनः 'एव' कार॥
'केवल'-शब्दे पुनरपि निश्चयकरण।
ज्ञान-योग-तप-आदि कर्म-निवारण॥

अन्यथा जे माने, तार नाहिक निस्तार।
नाहि, नाहि, नाहि,—तिन उक्त 'एव' कार॥३७॥

(चै. च. आ. १७/२२-२५)

कलियुगमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही नामरूपमें अवतरित हुए हैं। हरिनामके द्वारा ही सारे जगत्का उद्धार होता है। जड़-बुद्धिवाले लोगोंकी हरिनाममें दृढ़ताके लिए 'हरेर्नाम' पदको तीन-बार तथा 'एव' पदका प्रयोग किया गया है। पुनः ज्ञान, योग, तप आदि कर्मोंके परित्यागको निश्चित करनेके लिए 'केवल' शब्द कहा गया है। जो व्यक्ति शास्त्रके इस आदेशकी अवज्ञा करता है, उसका उद्धार कदापि सम्भव नहीं है। इसी बातको स्पष्ट करनेके लिए अन्तमें 'नास्त्येव' पदका भी तीन बार प्रयोग किया गया है॥३७॥

स्मरण—

एतावान् सांख्ययोगाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया।
जन्मलाभः परः पुंसामन्ते नारायण-स्मृतिः॥३८॥

(श्रीमद्भागवत २/१/६)

मनुष्य जन्मका यही लाभ है कि चाहे जैसे हो—ज्ञानसे, भक्तिसे अथवा अपने धर्मकी निष्ठासे जीवनको ऐसा बना लिया जाय कि मृत्युके समय भगवान्की स्मृति अवश्य बनी रहे॥३८॥

भगवद् स्मृति और विषय स्मृति एवं उसका फल—

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्यैव प्रविलीयते॥३९॥

(श्रीमद्भागवत ११/१४/२७)

सदा-विषय चिन्तारत व्यक्तिका चित्त जिसप्रकार विषयोंमें ही निमग्न रहता है, उसी प्रकार मेरा निरन्तर स्मरण करनेवालेका चित्त भी मुझमें लीन अर्थात् तन्मय हो जाता है॥३९॥

भगवत्स्मृतिका फल—

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः क्षिणोत्यभद्राणि च शं तनोति।
सत्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं ज्ञानञ्च विज्ञान-विराग-युक्तम्॥४०॥

(श्रीमद्भागवत. १२/१२/५५)

श्रीकृष्णके युगल पादपद्मोंकी अनुक्षण स्मृति जीवके जितने अभद्र अर्थात् अमङ्गल हैं, उनको नष्ट करके अशेष कल्याणका विस्तार करती है। उनके

श्रीचरणके स्मरणसे अन्तःकरणकी शुद्धि एवं ज्ञान, विज्ञान और विरागयुक्ता प्रेमलक्षणा भक्ति प्राप्त होती है॥४०॥

श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण में कीर्त्तनकी श्रेष्ठता—

यद्यप्यन्या भक्तिः कलौ कर्त्तव्या तदा कीर्त्तनाख्या भक्तिसंयोगेनैव इत्युक्तम्। यज्ञैः सङ्कीर्त्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधस इति। तत्र च स्वतन्त्रमेव नामकीर्त्तनमत्यन्त प्रशस्तम्॥४१॥

(श्रीमद्भा. ७/५/२३-२४ की क्रमसन्दर्भ टीका)

यद्यपि कलियुगमें उपरोक्त आठ प्रकारके भक्तिके अङ्गोंका पालन करना कर्त्तव्य है, फिर भी उन सबका कीर्त्तनरूपी भक्तिके संयोगसे ही साधन करना होगा। श्रीमद्भागवतमें उल्लेख है—"बुद्धिमान लोग सङ्कीर्त्तन-प्रधान यज्ञके द्वारा भगवान्‌की पूजा करते हैं।" इस प्रकार स्वतन्त्र भावसे नामसङ्कीर्त्तनकी श्रेष्ठता भी वर्णित हुई है॥४१॥

पादसेवन—

यत्पाद-सेवाभिरुचिस्तपस्विनामशेषजन्मोपचितं मलं धियः।
सद्यः क्षिणोत्यन्वमेधती सती यथा पदाङ्गुष्ठविनिःसृता सरित्॥४२॥

(श्रीमद्भागवत ४/२१/३१)

जिनके चरणकमलोंकी सेवाके लिए निरन्तर बढ़नेवाली अभिलाषा उन्हींके चरण नखसे निकली हुई गङ्गाजीके समान संसारतापसे संतप्त जीवोंके समस्त जन्मोंके सञ्चित कामादि वासनामय चित्तके मालिन्यको तत्काल नष्ट कर देती है॥४२॥

धौतात्मा पुरुषः कृष्णपादमूलं न मुञ्चति।
मुक्त-सर्व-परि-क्लेशः पान्थः स्व-शरणं यथा॥४३॥

(श्रीमद्भागवत २/८/६)

कृष्णसे अभिन्न कृष्ण कथाका श्रवण करनेसे जिसका हृदय शुद्ध हो जाता है, वह श्रीकृष्णके चरण कमलोंको एक क्षणके लिए भी नहीं छोड़ता। जैसे मार्गके समस्त क्लेशोंसे छूटकर घर आया हुआ पथिक अपने घरको नहीं छोड़ता। वह घरकी शान्तिको छोड़कर अन्यत्र जाना पसन्द नहीं करता है॥४३॥

पादसेवायां पादशब्दो भक्त्यैव निर्दिष्टः। ततः सेवायाः सादरत्वं विधीयते। अस्य श्रीमूर्तिदर्शनस्पर्शन परिक्रमानुब्रजन भगवन्मन्दिरगङ्गा-पुरुषोत्तमद्वारकामथुरादि तदीयतीर्थस्थानगमनादयोऽप्यन्तर्भाव्याः॥४४॥

(श्रीमद्भा. ७/५/२३-२४ श्लोककी क्रमसन्दर्भ टीका)

पादसेवनसे पादशब्दमें भक्ति ही निरूपित हुई है। इससे सेवाकी प्रतिष्ठा होती है। श्रीमूर्तिका दर्शन, स्पर्शन, परिक्रमा और अनुगमन एवं भगवन्मन्दिर तथा गङ्गा, पुरुषोत्तम, द्वारका, मथुरा आदि उनसे सम्बन्धित एवं पादाङ्कित तीर्थादिमें गमन भी पादसेवनके अन्तर्गत ही है॥४४॥

पादसेवनका फल—

एतां समास्थाय परात्मनिष्ठा-मध्यासितां पूर्वतमैर्महर्षिभिः।
अहं तरिष्यामि दुरन्तपारं तमो मुकुन्दाङ्घ्रिनिषेवयैव॥४५॥

(श्रीमद्भागवत ११/२३/५८)

अवन्ती देशके भिक्षुक ब्राह्मणने कहा—मैं प्राचीन महर्षियों द्वारा उपासित इस परमात्मनिष्ठारूप भिक्षाश्रमका आश्रयकर श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी सेवाके द्वारा इस दुरन्त अज्ञान सागरको अनायास ही पार कर लूँगा॥४५॥

प्रभु कहे साधु एइ भिक्षुक वचन।
मुकुन्द सेवनव्रत कैल निर्द्धारण॥
परात्मनिष्ठामात्र वेष-धारण।
मुकुन्दसेवाय हय संसार तारण॥
सेइ वेष कैल एबे वृन्दावन गिया।
कृष्णनिषेवण करि निभृते बसिया॥४६॥

(चै. च. म. ३/७-९)

संन्यास ग्रहण करनेके उपरान्त श्रीमन्महाप्रभुने विचार किया कि अवन्तिदेशीय भिक्षुकका वचन यथार्थ है। मैंने जो यह वेष-धारण अर्थात् संन्यास ग्रहण किया है, वह तो केवल प्राचीन महर्षियोंके द्वारा आचरित परात्मनिष्ठाकी दृढ़ताके लिए किया है। संन्यासके बाह्य वेष ग्रहणसे संसार बन्धनकी निवृत्ति नहीं हो सकती। संसार-निवृत्ति तो केवल श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी सेवा द्वारा ही हो सकती है। अतः इस वेषको धारणकर मैं वृन्दावनमें एकान्तमें रहकर श्रीकृष्णकी सेवा करूँगा॥४६॥

अर्चन—

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या॥४७॥

(श्रीमद्भागवत ४/३१/१४)

जिस प्रकार वृक्षकी जड़ सींचनेसे उसके तना, शाखा, उपशाखा आदि सभीका पोषण हो जाता है, भोजन द्वारा प्राणोंको तृप्त करनेसे समस्त इन्द्रियाँ पुष्ट हो

जाती हैं, उसी प्रकार एकमात्र श्रीकृष्णकी पूजा द्वारा ही निखिल देव पितृआदिकी पूजा हो जाती है॥४७॥

विधिना देवदेवेशः शंखचक्रधरो हरिः।
फलं ददाति सुलभं सलिलेनापि पूजितः॥४८॥

(मध्वमुनिरचित कृष्णामृतमहार्णव)

किसी प्रकारके विशेष आयोजनकी सामर्थ्य न होनेपर केवल जल द्वारा भी (सज्जनों द्वारा) अनुमोदित विधानानुसार पूजा करने पर, शंख, चक्रधारी देव–देवेश श्रीहरि सहज ही फल दे देते हैं॥४८॥

ये तु सम्पत्तिमन्तो गृहस्थास्तेषां त्वर्च्चनमार्ग एव मुख्यः। तदकृत्वा हि निष्किञ्चनवत् केवलस्मरणादि–निष्ठत्वे वित्तशाठ्यप्रतिपत्तिः स्यात्। परद्वारा सम्पादनं व्यवहारनिष्ठत्वस्यालसत्वस्य वा प्रतिपादकम्। ततोऽश्रद्धामयत्वाद्धीनमेव तत्। तथा गार्हस्थ्यधर्मस्य देवतायागरूपस्य शाखापल्लवादिसेकस्थानीयस्य मूलसेकरूपं तदर्च्चनमित्यपि तदकरणे महान् दोषः। दीक्षितानां च सर्वेषां तदकरणे नरकपातः श्रूयते। ननु भगवन्नामात्मका एव मन्त्राः तत्र विशेषेण नमः शब्दाद्यलंकृताः। श्रीभगवता श्रीमदृषिभिश्चाहित–शक्तिविशेषाः श्रीभगवता सममात्मसम्बन्धविशेषप्रतिपादकाश्च। तत्र केवलानि भगवन्नामान्यपि निरपेक्षाण्येव परमपुरुषार्थफलपर्यन्तदानसमर्थानि। ततो मन्त्रेषु नामतोऽप्यधिकसामर्थ्ये लब्धे कथं दीक्षाद्यपेक्षा उच्यते। यद्यपि स्वरूपतो नास्ति तथापि प्रायः स्वभावतो देहादिसम्बन्धेन कदर्यशीलानां विक्षिप्तचित्तानां जनानां तत् सङ्कोचीकरणाय श्रीमहर्षिप्रभृतिभिरत्रार्च्चनमार्गे क्वचित् क्वचित् काचिन्मर्यादा स्थापितास्ति॥४९॥

(श्रीमद्भा. ५/७/२३ श्लोककी क्रमसन्दर्भ टीका)

जो सम्पत्तिवान् गृहस्थ हैं, उनका अर्चन मार्ग ही प्रशंसाके योग्य है। ऐसा न करके अकिञ्चनोंकी तरह केवल स्मरणादिमें निष्ठावान् होनेपर वित्तशाठ्य अथवा कन्जूसी प्रमाणित होती है। दूसरोंके द्वारा सम्पादित अर्चनादि कार्य व्यावहारिक निष्ठा अथवा आलस्यका परिचायक है। इसलिए श्रद्धारहित होनेके कारण ऐसे व्यक्तिको कार्यहीन कहा जाता है। यहाँपर देवयज्ञरूप जो गृहस्थ धर्म है, वह वृक्षकी जड़को त्यागकर उसके तना, शाखा, उपशाखाको सींचनेकी तरह है, और भगवत्पूजा वृक्षकी जड़को सींचनेकी भाँति है। इसलिए भगवान्की पूजा न करनेपर महान् दोष होता है। दीक्षा प्राप्त व्यक्तियोंद्वारा भगवत्पूजा न करनेपर वे नरकगामी होते हैं, शास्त्रोंमें ऐसा सुना जाता है। यहाँ पर पूर्वपक्ष

हो सकता है कि, सभी मन्त्र निश्चय ही भगवन्नामात्मक हैं। नामसे मन्त्रकी विशेषता यही है कि मन्त्र 'नमः' शब्दादि द्वारा अलङ्कृत भगवन्नाम है। ये सब मन्त्र श्रीभगवान् और महर्षियों द्वारा कर्त्तृक किसी विशेष शक्तिसे स्थापित एवं भगवान्‌के साथ जीवात्माके सम्बन्धविशेषका प्रतिपादक है। इसलिए निरपेक्षभावसे केवल भगवन्नाम ही जब परम पुरुषार्थ तक प्रदान करनेमें समर्थ है, तो इस प्रकार विशेष शक्तिसे युक्त भगवन्नामात्मक मन्त्र जो केवल नामसे श्रेष्ठ है अर्थात् अधिक शक्ति सम्पन्न है ऐसा प्रतिपादित हुआ है। इसलिए शास्त्रोंमें दीक्षादिकी अपेक्षा किसलिए बताई गई है? इसके उत्तरमें कहते हैं—यद्यपि स्वरूपतः दीक्षादिकी अपेक्षा नहीं है, तथापि प्रायः देहमें आत्मबुद्धिके कारण वे असदाचारमें रत रहते हैं, विक्षिप्त चित्त व्यक्तियोंकी वैसी वृत्तियोंका दमन करनेके लिए ऋषियोंने इस प्रकार कहीं कहीं अर्चनकी मर्यादा स्थापित की है॥४९॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयातात्मनः॥५०॥

(श्रीमद्भागवत १०/८१/४, गीता ९/२६)

विशुद्ध चित्त भक्तगण मुझको भक्तिपूर्वक पत्र, पुष्प, फल, जल जो देते हैं, उसको मैं अत्यन्त स्नेहपूर्वक स्वीकार करता हूँ॥५०॥

अयं स्वस्त्यनः पन्था द्विजातेर्गृहमेधिनः।
यच्छ्रद्धयाऽऽप्तवित्तेन शुक्लेनेज्येत पुरुषः॥५१॥

(श्रीमद्भागवत १०/८४/३७)

अपने न्यायोचित धनसे श्रद्धापूर्वक श्रीभगवान्‌की आराधना करना ही द्विजाति, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य गृहस्थके लिए परम कल्याणका मार्ग है॥५१॥

वन्दन—

तत्पादपद्मप्रवणैः कायमानसभाषितैः।
प्रणामो वासुदेवस्य वन्दनं कथ्यते बुधैः॥५२॥

(हरिभक्तिकल्पलतिका ९/१)

काय, मन और वाक्य द्वारा वासुदेवके पादपद्मोंमें अनुरक्त व्यक्तियोंका उसके लिए जो प्रणाम है उसको ही पण्डितोंने 'वन्दन' नामसे अभिहित किया है॥५२॥

किं विद्यया परमयोगपथैश्च किन्तै-
रभ्यासतोऽपि शतशो जनिभिर्दुरूहैः।
वन्दे मुकुन्दमिह यन्नतिमात्रकेण
कर्माण्यपोह्य परमं पदमेति लोकः॥५३॥

(हरिभक्तिकल्पलतिका ९/२)

ऐसे शास्त्र ज्ञान अथवा प्रसिद्ध योगमार्गका कोई प्रयोजन नहीं है, जिनके शत-शतबार अभ्यासके परिणामस्वरूप दुष्कर जन्मसे निवृत्ति नहीं होती है। मैं

उन्हीं मुकुन्दकी वन्दना करता हूँ, संसारमें जिनके पादपद्मोंमें शरणागति होते ही जीव कर्म सम्बन्ध रहित होकर परमपद पा सकता है॥५३॥

वन्दन-माहात्म्य—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्ष्यमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥५४॥

(श्रीमद्भागवत १०/१४/८)

जो पुरुष अपने किये कर्मोंके फलको भगवान्‌की ही कृपा मानता है और प्रारब्धके अनुसार जो कुछ सुख या दुःख प्राप्त होता है उसे निर्विकार मनसे भोग करते हुए काय, वाक्य और मनके द्वारा स्वयंको आपके (श्रीभगवानके) चरणोंमें समर्पित करता हुआ जीवन धारण करता है, वे ही मुक्तिके आश्रयस्वरूप इन पादपद्मोंके अधिकारी हैं॥५४॥

नाहं वन्दे तव चरणयोर्द्वन्द्वमद्वन्द्वहेतोः
कुम्भीपाकं गुरुमपि हरे नारकं नापनेतुम्।
रम्या रामा-मृदुतनुलता नन्दने नाभिरन्तुं
भावे भावे हृदयभवने भावयेयं भवन्तम्॥५५॥

(मुकुन्दमालास्तोत्र ४)

हे हरे! मैं विषय सुखके लिए अथवा कुम्भीपाक तथा अन्य नरकोंसे छुटकारा पानेके लिए आपके पादपद्मोंकी वन्दना नहीं करता हूँ अथवा नन्दनवनमें सुन्दरी सुर-कामिनियोंके सुकोमल तनुलताके बीच विहार करनेके लिए भी आपके चरणोंकी वन्दना नहीं करता हूँ, किन्तु केवल भक्तिकी प्रत्येक सतहपर विलास करनेके लिए ही हृदयमन्दिरमें आपके पादपद्मोंका ध्यान करता हूँ॥५५॥

भगवद्दास्य—

देहधीन्द्रियवाक्चेतोधर्मकामार्थकर्मणाम्।
भगवत्यर्पणं प्रीत्या दास्यमित्यभिधीयते॥५६॥

प्रीतिके साथ देह, बुद्धि, इन्द्रिय, वाक्, चित्त, धर्म, काम, अर्थ और समस्त कर्म श्रीभगवान्‌को अर्पित होनेपर ही वह दास्य कहलाता है॥५६॥

दास्ये खलु निमज्जन्ति सर्वा एव हि भक्तयः।
वासुदेवे जगन्तीव नभसीव दिशो दश॥५७॥

दशों दिशाएँ जिस प्रकार आकाशमें लीन हो जाती हैं, वासुदेवमें जगत् जिस प्रकार लीन हो जाता है, उसी प्रकार समस्त भक्त भी दास्यमें समा जाते हैं॥५७॥

श्रवणं कीर्त्तनं ध्यान-पादसेवनमर्चनम्।
वन्दनं स्वार्पणं सख्यं सर्वं दास्ये प्रतिष्ठितम्॥५८॥

(श्रीहरिभक्तिकल्पलतिका १०/१-३)

श्रवण, कीर्त्तन, ध्यान, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, आत्मसमर्पण एवं सख्य सभी दास्य भावमें प्रतिष्ठित हैं॥५८॥

भगवद्दास्यके अङ्ग—

आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम्।
मद्भक्तपूज्याभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः॥५९॥
मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम्।
मय्यर्पणञ्च मनतः सर्वकामविसर्जनम्॥६०॥

(श्रीमद्भागवत ११/१९/२१-२२)

मेरी सेवा पूजामें प्रेम रखे और सामने साष्टाङ्ग लेटकर प्रणाम करे, मेरे भक्तोंकी पूजा मेरी पूजासे बढ़कर करे और समस्त प्राणियोंमें मुझे ही देखे। अपने एक-एक अङ्गकी चेष्टा मेरे लिए ही करे, वाणीसे मेरे ही गुणोंका गान करे और अपना मन भी मुझे ही अर्पित कर दे तथा सारी कामनाएँ छोड़ दे—ये सभी मेरे दास्यके अङ्ग है॥५९-६०॥

भगवद्दास्यकी प्रार्थना—

कामादीनां कति न कतिधा पालिता दुर्न्निदेशा
जाता तेषां मयि न करुणा न त्रपा नोपशान्तिः।
उत्सृज्यैतानथ यदुपते साम्प्रतं लब्धबुद्धि-
स्त्वामायातः शरणमभयं मां नियुंक्ष्वात्मदास्ये॥६१॥

(भ. र. सि. पश्चिम विभाग ३/२/२५)

हे भगवन्! मैंने कामादि रिपुओंके अनेक प्रकारके दुष्ट आदेशोंका पालन किया है, फिर भी मुझ पर उनकी करुणा नहीं हुई, लज्जा और उपशान्तिका भी उदय नहीं हुआ, किन्तु हे यदुपते! अब मैं विवेक पाकर उनका परित्यागकर आपके अभय पादपद्मोंमें शरणागत हुआ हूँ, आप मुझे अपने दासोंमें नियुक्त करें॥६१॥

'सख्य' भक्तिकी संज्ञा—

अतिविश्वस्तचित्तस्य वासुदेवे सुखाम्बुधौ।
सौहार्देन परा प्रीतिः सख्यमित्यभिधीयते॥६२॥

(हरिभक्तिकल्पलतिका ११/१)

सभी सुखोंके भण्डार श्रीवासुदेवमें जिनका एकान्त दृढ़ विश्वास उत्पन्न हो गया है, वे बड़ी प्रीति (सौहार्द) के साथ उन्हीं वासुदेवसे परम प्रीति करते हैं वे ही 'सख्य' नामसे अभिहित होते हैं॥६२॥

विश्वास और मित्रवृत्ति भेदसे सख्य दो प्रकारका है—

विश्वासो मित्रवृत्तिश्च सख्यं द्विविधमीरितम्॥६३॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु-पूर्वविभाग २/८४)

शास्त्रोंमें सख्यको विश्वास और मित्रवृत्ति भेदसे दो प्रकार बताये गये हैं॥६३॥

एवं मनः कर्मवशं प्रयुङ्क्तेअविद्यात्मन्युपधीयमाने।
प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे न मुच्यते देहयोगेन तावत्॥६४॥

(श्रीमद्भागवत ५/५/६)

श्रीऋषभदेवजीने कहा—अविद्याके द्वारा जीवके परमात्म विषयक ज्ञानके ढँक जानेसे कर्मवासनाओंके वशीभूत हुआ चित्त जीवको फिर कर्मोंमें ही प्रवृत्त करता है। अतः जब तक मुझ वासुदेवमें उसकी प्रीति नहीं होती, तब तक वह देह बन्धनसे छूट नहीं सकता॥६४॥

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्मसनातनम्॥६५॥

(श्रीमद्भागवत १०/१४/३२)

अहो, नन्द, यशोदा आदि व्रजवासी गोपोंके धन्य भाग्य हैं। वास्तवमें उनका अहो भाग्य है, क्योंकि परमानन्दस्वरूप सनातन परिपूर्ण ब्रह्म आप उनके अपने सगे सम्बन्धी और सुहृद हैं॥६५॥

'आत्मनिवेदन'—

कृष्णायार्पितदेहस्य निर्ममस्यापहङ्कृतेः।
मनसस्तत् स्वरूपत्वं स्मृतमात्मनिवेदनम्॥६६॥

(श्रीहरिभक्तिकल्पलतिका १२/१)

श्रीकृष्णकी सेवामें उनकी ही इन्द्रिय प्रीतिवाञ्छासे जिन्होंने अपने देहको अर्पित कर दिया है, जो कृष्णेतर विषयोंमें ममताशून्य एवं निरहङ्कार हैं, उन कृष्णगत चित्त जीवोंके मनमें जो भगवत्स्वरूप (अर्थात् भगवत् सुखसे आत्मसुखकी चेष्टासे रहित) हैं, उसको ही शास्त्रोंमें 'आत्मनिवेदन' कहा गया है॥६६॥

वपुरादिषुयोऽपि कोऽपि वा गुणतोऽसानि यथातथाविधः।
तदयं तव पादपद्मयोरहमद्यैव मया समर्पितः॥६७॥

(स्तोत्ररत्न ५२)

देहादि विषयमें मेरा कोई भी नाम क्यों न हो, अथवा गुण विचारसे मेरा कोई भी परिचय क्यों न हो, हे भगवन्! मैं आज ही अपनी इस अहं बुद्धिको आपके श्रीपादपद्मोंमें समर्पण करता हूँ, अर्थात् आजसे ही मैं आपका हो गया हूँ॥६७॥

शरणागति—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्त्तम्॥६८॥

(श्रीमद्भागवत ११/५/४१)

हे राजन्! जो सब प्रकारसे सांसारिक कर्त्तव्यका परित्यागकर शरणागतवत्सल भगवान् मुकुन्दकी शरणमें आ गया है, वह देवताओं, पितरों, प्राणियों, कुटुम्बियों और अतिथियोंके ऋणसे उऋण हो जाता है, वह किसीके अधीन या किसीका सेवक नहीं रहता॥६८॥

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥६९॥

(गीता १८/६६)

(श्रीकृष्ण अर्जुनको गुह्यतम ज्ञानका उपदेश करते हैं—) हे अर्जुन! तुम लोकधर्म, वेदधर्म आदि समस्त नैमित्तिक धर्मोंका परित्यागकर एकमात्र मेरी (भगवान् कृष्णकी) शरणमें आ जा। मैं तुम्हें धर्म-त्यागसे उत्पन्न सारे पापोंसे मुक्त कर दूंगा, शोक मत करो॥६९॥

भक्तिका अनुकूल धर्म—

सर्वतो मनसोऽसङ्गमादौसङ्गञ्च साधुषु।
दयां मैत्रीं प्रश्रयञ्च भूतेष्वद्धा यथोचितम्॥७०॥
शौचं तपस्तितिक्षाञ्च मौनं स्वाध्यायमार्ज्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसाञ्च समत्वं-द्वन्द्वसंज्ञयोः॥७१॥
सर्वत्रात्मेश्वरान्वीक्षां कैवल्यमनिकेतताम्।
विविक्तचीरवसनं सन्तोषं येन केनचित्॥७२॥

श्रद्धां भागवते शास्त्रेऽनिन्दामन्यत्र चापि हि।
मनोवाक्कर्मदण्डं च सत्यं शमदमावपि॥७३॥
श्रवणं कीर्त्तनं ध्यानं हरेरद्भुतकर्मणः।
जन्मकर्म गुणानाञ्च तदर्थेऽखिलचेष्टितम्॥७४॥
इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम्।
दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत्परस्मै निवेदनम्॥७५॥

(श्रीमद्भागवत ११/३/२३-२८)

पहले समस्त विषयोंसे मनको अनासक्त करके साधुसङ्ग करे। इसके पश्चात् प्राणियोंके प्रति यथायोग्य दया, मैत्री और विनयकी निष्कपट भावसे शिक्षा ग्रहण करे। मिट्टी, जल आदिसे बाह्यशरीरकी पवित्रता, छल कपट आदिके त्यागसे भीतरकी पवित्रता, अपने धर्मका अनुष्ठान, सहनशक्ति, मौन, स्वाध्याय, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा तथा शीत, उष्ण, मान-अपमान आदि द्वन्द्वोंमें समता सीखे। सर्वत्र अर्थात् समस्त देश, काल और वस्तुओंमें चेतनरूपसे आत्मा और नियन्तारूपसे ईश्वरको देखना, एकान्त सेवन, 'यही मेरा घर है'—ऐसा भाव न रखना, गृहस्थ हो तो पवित्र वस्त्र पहनना और त्यागी हो तो फटे-पुराने पवित्र चिथड़े, जो प्रारब्धके अनुसार मिल जाय, उसीमें सन्तोष करना सीखे। श्रीमद्भागवतमें दृढविश्वास, अन्य शास्त्रोंकी अनिन्दा, प्राणायामके द्वारा मनका, मौनके द्वारा वाणीका और वासना हीनताके अभ्याससे कर्मोंका संयम करना, सत्य बोलना, इन्द्रियोंको अपने अपने गोलकोंमें स्थिर रखना और मनको कहीं बाहर न जाने देना सीखे। भगवान्‌की लीलाएँ अद्भुत हैं। उनके जन्म-कर्म और गुण दिव्य हैं। उन्हींका श्रवण, कीर्त्तन और ध्यान करना तथा शरीरसे जितनी भी चेष्टाएं हों, सब भगवान्‌के लिए करना सीखे। यज्ञ, दान, तप अथवा जप, सदाचारका पालन और स्त्री, पुत्र, घर, अपना जीवन, प्राण तथा जो कुछ अपनेको प्रिय लगता हो—सबका सब भगवान्‌के चरणोंमें निवेदन करना, उन्हें सौंप देना सीखे अन्यथा ये वस्तुएँ भक्तिमें बाधक हो जाती हैं॥७०-७५॥

उत्साहान्निश्चयाद्धैर्यात् तत्तत्कर्म प्रवर्त्तनात्।
सङ्गत्यागात् सतो वृत्तेः षड्‌भिर्भक्तिः प्रसिध्यति॥७६॥

(उपदेशामृत ३ श्लोक)

उत्साह, दृढ़ता, धैर्य, भक्तिपोषक कार्यानुष्ठान, (श्रवण, कीर्त्तन आदि भक्तिके अङ्गोंका पालन), सङ्गत्याग (भक्तिविरोधी अवैध स्त्री सङ्ग, मायावादी,

निरीश्वरवादियोंका सङ्ग छोड़ना) और भक्तजनोंका सदाचार और उनकी जैसी वृत्ति ग्रहण करना—इन छह प्रकारके साधनोंसे भक्तिकी सिद्धि होती है॥७६॥

अनासक्तभावसे विषय-ग्रहण भक्तिके अनुकूल है—

जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु।
वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः॥७७॥
ततो भजते मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढ़निश्चयः।
जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदर्कांश्च गर्हयन्॥७८॥
प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो माऽसकृन्मुनेः।
कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते॥७९॥

(श्रीमद्भागवत ११/२०/२७-२९)

श्रीभगवान् उद्धवसे कहते हैं,—जिस साधककी मेरी कथाओंमें श्रद्धा उत्पन्न हो गयी है, यदि वह सभी भोग और भोग-वासनाओंको दुःखरूप जानकर भी उनको परित्याग करनेमें समर्थ न हो, तो उसे चाहिए कि उन भोगोंको सच्चे हृदयसे दुःखजनक समझते हुए और मन ही मन उनकी निन्दा करते हुए भोगता रहे, किन्तु साथ ही साथ श्रद्धा, दृढ़ निश्चय और प्रीतिपूर्वक मेरा भजन भी करता रहे। इस प्रकार मेरे बतलाये हुए भक्तियोगसे निरन्तर मेरा भजन करनेसे मैं उस साधकके हृदयमें आकर बैठ जाता हूँ और मेरे विराजमान होते ही उसके हृदयकी सारी वासनाएँ अपने संस्कारोंके साथ नष्ट हो जाती हैं॥७७-७९॥

युक्त वैराग्य—

अनासक्तस्य विषयान् यथार्हमुपयुञ्जतः।
निर्बन्धः कृष्णसम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते॥८०॥

(भ. र. सि. पू. वि. २/१२५)

कृष्णेतर विषयोंमें आसक्तिरहित होकर और कृष्णके साथ सम्बन्ध स्थापितकर, उनके सेवानुकूल विषयमात्र ग्रहण करनेको ही युक्त वैराग्य कहते हैं॥८०॥

विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते॥८१॥

(गीता २/५९)

इन्द्रियतृप्तिका संयम करनेसे बद्धजीवके विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु भोगोंमें आसक्ति बनी रहती है। उत्तम रसके अनुभवसे उसकी भी निवृत्ति हो जाती है अर्थात् परमात्माके दर्शनसे उसका विषयानुराग स्वतः निवृत्त हो जाता है॥८१॥

गृहस्थ वैष्णवोंके भक्ति-अनुकूल आचरण—

लौकिकी वैदिकी वापि या क्रिया क्रियते मुने।
हरिसेवानुकूलैव सा कार्या भक्तिमिच्छता॥८२॥

(भ. र. सि. पू. वि. २/९३)

हे मुने! मनुष्य लौकिक और वैदिक जिन समस्त कर्मोंको करते हैं, भक्त्याभिलाषी व्यक्ति वे सब कर्म जो हरि सेवाके अनुकूल हैं उन्हींको करेंगे॥८२॥

एकादशी उपवास भक्तिके अनुकूल है—

तुलस्यश्वत्थधात्र्यादि-पूजनं धामनिष्ठता।
अरुणोदय-विद्धस्तु संत्यज्यो हरिवासरः॥
जन्माष्टम्यादिकं सूर्योदयविद्धं परित्यजेत्॥८३॥

(प्रमेय-रत्नावली ८/९)

श्रीतुलसी, अश्वत्थ और धात्री (आँवला) पूजन, श्रीमथुरा आदि स्थानोंमें वास (इस शरीरद्वारा अथवा सामर्थ्यके अभावमें सिद्ध देहसे उन-उन धामोंमें वास समझें), 'अरुणोदयविद्ध' परित्याग कर हरिवासर (शुद्ध एकादशी व्रत्त) एवं 'सूर्योदयविद्ध' का परित्याग कर जन्माष्टमी आदि व्रतोंका पालन करें॥८३॥

बहुवाक्यविरोधेन सन्देहो जायते सदा।
उपोष्या द्वादशी तत्र त्रयोदश्यान्तु पारणम्॥८४॥

(हरिभक्तिविलास १२/१०९ श्लोकधृत नारदीय वचन)

जहाँ पर (एकादशीके उपवास-दिनके निर्धारणके विषयमें) अनेक प्रकारके मतोंके कारण सन्देह हो तो, द्वादशी में उपवास करके त्रयोदशीमें पारण करना ही कर्त्तव्य है॥८४॥

भक्तिमें बाधक क्या है?—

अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमाग्रहः।
जनसङ्गश्च लौल्यञ्च षड्भिर्भक्तिर्विनश्यति॥८५॥

(उपदेशामृत २ श्लोक)

अधिक आहार या सञ्चय, भक्तिप्रतिकूल चेष्टा और विषयोंको अधिकरूपमें ग्रहण करना, वृथा आलाप (ग्राम्य वार्त्ता), नियमाग्रह अर्थात् भगवत्सेवा प्राप्तिके लिए चेष्टा न कर भक्तिपोषक नियमोंके प्रति उदासीन रहना, जनसङ्ग अर्थात् विशुद्ध भक्तोंके सङ्गको छोड़कर अन्य जनोंका सङ्ग करना एवं अनेक मतवादियोंके सङ्गसे अपने मनमें अस्थिर सिद्धान्त अर्थात् चाञ्चल्य—बुरे मतोंको ग्रहण करनेके लिए चित्तकी चञ्चलता—इन छह प्रकारके दोषोंसे भक्ति विनष्ट हो जाती है॥८५॥

भक्तपदधूलि, भक्तपदजल और भक्त-उच्छिष्टसे कृष्ण प्रेम प्राप्त होता है—

कृष्णेर उच्छिष्ट हय महाप्रसाद नाम।
भक्तशेष हैले महा-महाप्रसादाख्यान॥
भक्तपदधूलि आर भक्तपदजल।
भक्तभुक्त-शेष एइ तिन साधनेर बल॥
एइ तिन सेवा इइते कृष्णे प्रेमा हय।
पुनः पुनः सर्व शास्त्रे फुकारिया कय॥
ताते बारबार कहि, शुन भक्तगण।
विश्वास करिया कर ए तिन सेवन॥८६॥

(चै. च. अ. १६/५९-६२)

श्रीकृष्णका उच्छिष्ट (अधरामृत) महाप्रसाद कहलाता है तथा उसी महाप्रसादको जब भक्त लोग सेवन करते हैं, तो वह महा-महाप्रसाद हो जाता है। भक्तोंकी चरणधूलि, उनका चरणामृत तथा उनका उच्छिष्ट—ये तीनों वस्तुएँ भक्ति-साधनमें विशेषरूपसे बल प्रदान करती हैं। सभी शास्त्र पुनः पुनः घोषणा करते हैं कि इन तीनोंकी सेवाके द्वारा ही कृष्णके चरणकमलोंमें प्रेमा-भक्ति होती है। इसलिए हे भक्तजन! शास्त्रकी बातोंपर पूर्ण विश्वास करते हुए इन तीनोंकी सेवा श्रद्धापूर्वक करें॥८६॥

महाप्रसादका माहात्म्य—

नैवेद्यं जगदीशस्य अन्नपानादिकञ्च यत्।
भक्ष्याभक्ष्य विचारश्च नास्ति तद्भक्षणे द्विजाः॥८७॥

हे विप्रगण! श्रीहरिका नैवेद्य और अन्नपान आदि द्रव्य सेवन करते समय किसी प्रकारके खाद्य-अखाद्यका विचार न करें॥८७॥

ब्रह्मवन्निर्विकारं हि यथा विष्णुस्तथैव तत्।
विकारं ये प्रकुर्वन्ति भक्षणे तद्द्विजातयः॥८८॥
कुष्ठव्याधिसमायुक्ताः पुत्रदारविवर्जिताः।
निरयं यान्ति ते विप्रा तस्मान्नावर्त्तते पुनः॥८९॥

(श्रीहरिभक्तिविलास ९/१३४ श्लोकधृत विष्णुपुराणवचन)

हे द्विजगण! श्रीहरिका नैवेद्य ब्रह्मकी भाँति निर्विकार और विष्णुके सदृश है। विष्णुका नैवेद्य आदि ग्रहण करनेमें जिनके चित्तमें संशय आदि विकार उत्पन्न होते हैं, उनको कुष्ठ रोग और पुत्र कलत्रादि हीन होकर नरकगामी होना पड़ता है। वहाँसे उसका पुनरागमन नहीं होता॥८८-८९॥

कुक्कुरस्य मुखाद्भ्रष्टं तदन्नं पतते यदि।
ब्राह्मणेनापि भोक्तव्यं सर्वपापापनोदनम्॥९०॥

महाप्रसाद सेवनसे समस्त पाप नष्ट होते हैं। वह यदि कुत्तेके मुखसे पृथ्वीपर गिर पड़े, तब भी वह ब्राह्मणोंके भोजनके योग्य है॥९०॥

अशुचिर्वाप्यनाचारो मनसा पापमाचरन्।
प्राप्तिमात्रेण भोक्तव्यं नात्र कार्या विचारणा॥९१॥

(स्कन्धपुराण ३८/१९–२०)

क्या अशुचि, क्या अनाचारी और मन–मनमें पापाचारी सभीको वह प्राप्त होनेपर भोजन करना कर्त्तव्य है। इस सम्बन्धमें किसी प्रकारका विचार करना उचित नहीं है॥९१॥

बहिर्मुखकी गृहासक्ति भक्तिके प्रतिकूल है—

मतिर्न कृष्णे परतः स्वतो वा मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम्।
अदान्तगोभिर्विशतां तमिस्रं पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम्॥९२॥
न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुं दुराशया ये बहिरर्थमानिनः।
अन्धा यथान्धैरूपनीयमानास्तेऽपीशतन्त्र्यामुरुदाम्नि बद्धाः॥९३॥

(श्रीमद्भागवत ७/५/३०–३१)

महाभागवत प्रह्लादने पिता हिरण्यकशिपुसे कहा—हे पिताजी! संसारके लोग तो पिसे हुएको पीस रहे हैं, चबाये हुएको चबा रहे हैं। उनकी इन्द्रियाँ वशमें न होनेके कारण वे भोगे हुए विषयोंको ही बारम्बार भोगनेके लिए संसाररूपी घोर नरककी ओर जा रहे हैं। ऐसे गृहासक्त पुरुषोंकी बुद्धि अपने–आप किसीके सिखानेसे अथवा अपने ही जैसे लोगोंके सङ्गसे भगवान् श्रीकृष्णमें नहीं लगती। जो इन्द्रियोंसे दीखनेवाले बाह्य विषयोंको परम इष्ट समझकर मूर्खतावश अन्धोंके पीछे अन्धोंकी तरह गड्ढेमें गिरनेके लिए चले जा रहे हैं और वेद वाणीरूप रस्सीके काम्यकर्मोंके दीर्घ बन्धनमें बँधे हुए हैं, उनको यह बात मालूम नहीं कि हमारे स्वार्थ और परमार्थ भगवान् विष्णु ही हैं, उन्हींकी प्राप्तिसे हमें सब पुरुषार्थोंकी प्राप्ति हो सकती है॥९२–९३॥

वैष्णवोंमें जाति बुद्धि, गुरुदेवमें मर्त्यजीव बुद्धि और विष्णुके प्रति अन्य देवताओंके साथ साम्य बुद्धि भक्तिके प्रतिकूल है—

अर्च्ये विष्णौ शिलाधी–र्गुरुषु नरमतिर्वैष्णवे जातिबुद्धि–
र्विष्णोर्वा वैष्णवानां कलिमलमथने पादतीर्थेऽम्बुबुद्धिः।

श्रीविष्णोर्नाम्नि मन्त्रे सकलकलुषहे शब्दसामान्यबुद्धि-
र्विष्णो-सर्वेश्वरेशे तदितरसमधीर्यस्य वा नारकी सः॥९४॥

(पद्मपुराण)

जो व्यक्ति श्रीमूर्तिमें शिला बुद्धि, वैष्णव और गुरुदेवमें मरणशील मानव बुद्धि, वैष्णवोंमें जाति बुद्धि, विष्णु और वैष्णवोंके चरण धौतजलमें जल बुद्धि तथा सर्वपाप नाशक विष्णुनाम, मन्त्रमें सामान्य शब्द बुद्धि एवं सर्वेश्वर विष्णुको अन्य देवताओंके साथ समान बुद्धि रखता है, वह नारकीय है॥९४॥

असत्सङ्ग भक्तिके प्रतिकूल है—

ततो दुःसङ्गमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान्।
सन्त एवास्य छिन्दन्ति मनोव्यासङ्गमुक्तिभिः॥९५॥

(श्रीमद्भागवत ११/२६/२६)

इसलिए बुद्धिमान् पुरुषको चाहिए कि दुःसङ्ग छोड़कर सत्पुरुषोंका सङ्ग करे। सन्त पुरुष अपने सदुपदेशोंसे उसके मनकी आसक्ति नष्टकर देंगे॥९५॥

साधुसङ्ग-कृपा किवा कृष्णेर कृपाय।
कामादि दुःसङ्ग छाड़ि' शुद्धभक्ति पाय॥९६॥
दुःसङ्ग कहि कैतव आत्मवञ्चना।
कृष्ण, कृष्णे भक्ति विना अन्य कामना॥९७॥

(चै. च. म. २४/९३, ९५)

साधु-सङ्गकी कृपा या कृष्णकी कृपासे ही काम आदि दुसङ्ग सहज ही दूर हो जाते हैं। तभी शुद्धा-भक्तिकी प्राप्ति होती है। श्रीकृष्णकी सेवा अथवा श्रीकृष्ण भक्तिकी अभिलाषाके अतिरिक्त अन्यान्य सभी प्रकारकी कामनाएँ कपटता एवं आत्मवञ्चना हैं। ये कृष्णेतर अभिलाषारूप कपटता एवं आत्मवञ्चना ही यथार्थ दुःसङ्ग है। इसका परित्याग किये बिना शुद्धा भक्तिकी प्राप्तिकी कोई सम्भावना नहीं है॥९६-९७॥

निष्किञ्चनस्य भगवद्भजनोन्मुखस्य
पारं परं जिगमिषोर्भवसागरस्य।
सन्दर्शनं विषयिणामथ योषिताञ्च
हा हन्त हन्त विषभक्षणतोऽप्यसाधु॥९८॥

(श्रीचैतन्यचन्द्रोदय नाटक ८/२४)

(श्रीचैतन्यदेवने दुःखके साथ कहा— हाय!) जिसकी भवसागरसे पार होनेकी सम्पूर्णरूपसे इच्छा है, ऐसे भगवद्भजनोन्मुख निष्किञ्चन व्यक्तियोंके लिए विषयी दर्शन और स्त्री दर्शन विष खानेकी अपेक्षा भी बुरा है॥९८॥

असत्सङ्ग त्याग एइ वैष्णव आचार।
स्त्रीसङ्गी एक असाधु, कृष्णाभक्त आर॥९९॥

(चै. च. म. २२/८४)

असत्सङ्गका परित्याग वैष्णवोंका प्रधान आचरण है। स्त्रीसङ्गी तथा श्रीकृष्णके चरणकमलोंसे विमुख व्यक्ति ही असाधु हैं। उनका सङ्ग ही असत्सङ्ग है॥९९॥

निषिद्धाचार भक्तिके प्रतिकूल है—

(१) सङ्ग त्याग—

वरं हुतवहज्वाला पञ्जरान्तर्व्यवस्थितिः।
न शौरिचिन्ताविमुखजनसंवास वैशसम्॥१००॥

(भ. र. सि. पू. वि. २/५१ श्लोकधृत कात्यायनसंहिता-वाक्य)

अग्निज्वालासे युक्त पिञ्जरेमें रहना अधिक अच्छा है, परन्तु कृष्ण चिन्ता विमुखोंका सहवासरूपी विपद उपस्थित न हो॥१००॥

(२) शिष्योंके द्वारा अनुबन्ध—

न शिष्याननुबध्नीत ग्रन्थान् नैवाभ्यसेद्बहून्।
न व्याख्यामुपयुञ्जीत नारम्भारभेत् क्वचित्॥१०१॥

(श्रीमद्भागवत ७/१३/८)

प्रलोभन देकर किसी को भी शिष्य नहीं करना चाहिए, बहुतसे ग्रन्थोंका अभ्यास न करे, शास्त्रोंकी व्याख्याके द्वारा जीवन निर्वाह और बड़े-बड़े कामोंको त्याग दें॥१०१॥

(३) व्यवहारमें अकार्पण्य—

अलब्धे वा विनष्टे वा भक्ष्याच्छादन साधने।
अविक्लवमतिर्भूत्वा हरिमेव धिया स्मरेत्॥१०२॥

(भ. र. सि. पू. वि. २/५२ पद्मपुराणवचन)

हरिभक्तिपरायण व्यक्तिको भोजन और आस्वादन-संग्रहके लिए चेष्टा करने पर भी यदि वह प्राप्त न हो अथवा उपलब्ध सामग्री नष्ट हो जाय, तो भी व्याकुल चित्त न होकर मनमें हरिका ही स्मरण करना चाहिए॥१०२॥

(४) शोकादिके वशवर्त्तिता—

शोकामर्षादिभिर्भावैराक्रान्तं यस्य मानसम्।
कथं तत्र मुकुन्दस्य स्फूर्त्ति-सम्भावना भवेत्॥१०३॥

(भ. र. सि. पू. वि. २/५३ श्लोकधृत पद्मपुराण-वचन)

जिसका हृदय शोक और क्रोधादिसे परिपूर्ण है, उस व्यक्तिके हृदयमें मुकुन्दकी स्फूर्ति कैसे होगी?॥१०३॥

(५) अन्य देवताके प्रति अवज्ञाशून्यता—

हरिरेव सदाराध्यः सर्वदेवेश्वरेश्वरः।
इतरे ब्रह्मरुद्राद्या नावज्ञेयाः कदाचन।१०४॥

(भ. र. सि. पू. वि. २/५३ श्लोकधृत पद्मपुराण-वचन)

भगवान् श्रीहरि समस्त देवताओंके भी अधीश्वर हैं, इसलिए वे ही सर्वदा आराध्य हैं, किन्तु ब्रह्मरुद्रादि अन्यान्य देवतागण कभी भी अवज्ञाके पात्र नहीं हैं॥१०४॥

(६) प्राणीमात्रको उद्वेग नहीं देना—

पितेव पुत्रं करुणो नोद्वेजयति यो जनम्।
विशुद्धस्य हृषीकेशस्तूर्णं तस्य प्रसीदति॥१०५॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु-पूर्व विभाग २/५३ श्लोकधृत महाभारत-वचन)

जो प्राणियोंको दुःख न पहुँचाकर करुण पिताकी भाँति पुत्रवत् देखते हैं, उसी विशुद्ध चित्त व्यक्तिके प्रति श्रीभगवान् हृषिकेश अति शीघ्र सन्तुष्ट होते हैं॥१०५॥

फल्गुवैराग्य-भक्तिका शत्रु है—

प्रापञ्चिकतया बुद्ध्या हरिसम्बन्धिवस्तुनः।
मुमुक्षुभिः परित्यागो वैराग्यं फल्गु कथ्यते॥१०६॥

(भ. र. सि. पू. वि. २/१२६)

मुमुक्षुगण शास्त्र, श्रीमूर्त्ति, नाम, महाप्रसाद, गुरु आदि हरि सम्बन्धी वस्तुको भी प्राकृत समझकर उनका परित्याग कर देते हैं, इसीको फल्गु वैराग्य कहते हैं॥१०६॥

भक्तिप्रतिकूल स्थान-पञ्चक—

अभ्यर्थितस्तदा तस्मै स्थानानि कलये ददो।
द्यूतं पानं स्त्रियं सूना यत्राधर्मश्चशतुर्विधः॥१०७॥
पुनश्च याचमानाय जातरूपमदात् प्रभुः।
ततोऽनृतं मदं कामं रजो वैरञ्च पञ्चमम्॥१०८॥

अमूनि पञ्च स्थानानि ह्यधर्मप्रभवः कलिः।
औत्तरेयेण दत्तानि न्यवसत्तन्निदेशकृत्॥१०९॥
अथैतानि न सेवेत बुभूषुः पुरुषः क्वचित्।
विशेषतो धर्मशीलो राजा लोकपतिर्गुरुः॥११०॥

(श्रीमद्भागवत १/१७/३८-४१)

सूतजी कहते हैं—कलियुगकी प्रार्थना स्वीकार करके राजा परीक्षितने उसे चार स्थान दिये—द्यूत (अर्थात् अवैध क्रिया), मद्यपान, स्त्री सङ्ग (या अत्यन्त स्त्री आसक्ति) और जीवहिंसा। इन स्थानोंमें क्रमशः असत्य, मद, आसक्ति और निर्दयता—ये चार प्रकारके अधर्म निवास करते हैं। उसने और भी स्थान माँगे। तब समर्थ परीक्षितने उसे रहनेके लिए एक और स्थान—'सुवर्ण' (धन) दिया। इस प्रकार कलियुगके पाँच स्थान हो गये—झूठ, मद, काम, वैर और रजोगुण। अधर्मका उत्पादक कलि उत्तरानन्दन परीक्षितकी आज्ञा शिरोधार्य करके उनके द्वारा प्रदत्त इन पाँच स्थानोंमें वास करने लगा। इसलिए आत्मकल्याणकामी पुरुषको इन पाँचों स्थानोंका सेवन कभी नहीं करना चाहिए। विशेषरूपसे धार्मिक व्यक्ति, राजा, लोकनेता ओर धर्मोपदेष्टा गुरुओंको तो बड़ी सावधानीसे इनका त्याग करना चाहिए॥१०७-११०॥

शुद्धभक्ति प्रतिकूल असत्सङ्ग—

आउल, बाउल, कर्त्ताभजा, नेड़ा, दरवेश, साँई।
सहजिया, सखीभेकी, स्मार्त्त, जात-गोसाञि॥
अतिवाड़ी, चूड़ाधारी, गौराङ्ग-नागरी।
तोता कहे, ए तेरर सङ्ग नाहि करि॥१११॥

प्रसिद्ध तोतारामजीका कहना है कि भक्तिके प्रतिकूल असत्सङ्ग—आउल, बाउल, कर्त्ताभजा, नेड़ा, दरवेश, साँइ, सहजिया, सखीभेकी, स्मार्त्त, जातगोसाञि, अतिबाड़ी, चूड़ाधारी, गौराङ्गनागरी—इन तेरह प्रकारके भक्तिविरोधी लोगोंका सङ्ग नहीं करना चाहिए। ऐसे लोगोंका सङ्ग ही असत्सङ्ग या दुःसङ्ग कहलाता है॥१११॥

योषित्सङ्ग—भक्तिप्रतिकूल—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नाविविक्तासनोवसेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥११२॥

(श्रीमद्भागवत ९/१९/१७)

अपनी माँ, बहिन और कन्याके साथ भी अकेले एक आसन पर सटकर नहीं बैठना चाहिए। इन्द्रियाँ इतनी बलवान् हैं कि वे बड़े-बड़े विद्वानोंको भी विचलित कर देती हैं॥११२॥

योषित्-स्मरण भी निन्दनीय है—

यदवधि मम चेतः कृष्णपादारविन्दे
नवनवरसधामन्युद्यतं रन्तुमासीत्।
तदवधि वत नारीसङ्गमे स्मर्यमाणे
भवति मुख विकारः सुष्ठु निष्ठीवनञ्च॥११३॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु-दक्षिण विभाग ५/३९)

जबसे मेरा मन नये-नये रसका आश्रयस्वरूप श्रीकृष्णपादपद्मोंमें विचरण करनेको उद्यत हुआ है, उस दिनसे ही नारीसङ्गमका स्मरणकर मेरे मुखमें विकार एवं थूकनेकी क्रिया आरम्भ हो गई है॥११३॥

दारु प्रकृति दर्शन तक निन्दनीय है—

दुर्वार इन्द्रिय करे विषय-ग्रहण।
दारु-प्रकृति हरे मुनेरपिमन॥११४॥

(चै. च. अ. २/११८)

बलवान इन्द्रियाँ विषयोंकी ओर ही आकर्षित होती हैं। स्त्रीकी काष्ठनिर्मित प्रतिमा मुनियोंका भी मन हर लेती है॥११४॥

स्त्री सङ्गियोंका सङ्ग भी परित्याज्य है—

सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिर्ह्रीः श्रीर्यशः क्षमा।
शमो दमो भगश्चेति यत्सङ्गात् याति संक्षयम्॥११५॥
तेष्वशान्तेषु मूढ़ेषु खण्डितात्मस्वसाधुषु।
सङ्गं न कुर्याच्छोच्येषु योषित्क्रीड़ामृगेषु च॥११६॥

(श्रीमद्भागवत ३/३२/३३-३४)

जिनके सङ्गसे इसके सत्य, शौच (बाहर-भीतरकी पवित्रता), दया, वाणी, संयम, बुद्धि, धन सम्पत्ति, लज्जा, यश, क्षमा और इन्द्रियोंका संयम तथा ऐश्वर्य आदि सभी सद्गुण नष्ट हो जाते हैं, इन अत्यन्त शोचनीय स्त्रियोंके क्रीड़ामृग (खिलौने), अशान्त, मूढ और देहात्मदर्शी असत् पुरुषोंका सङ्ग कभी नहीं करना चाहिए॥११५-११६॥

गृहमेधी धर्मकी निन्दा—

यन्मैथुनादि-गृहमेधिसुखं हि तुच्छं
कण्डूयनेन करयोरिव दुःख-दुःखम्।
तृप्यन्ति नेह कृपणा बहुदुःखभाजः
कण्डूतिवन्मनसिजं विषहेत धीरः॥११७॥

(श्रीमद्भागवत ७/९/४५)

घरमें फँसे हुए लोगोंको जो मैथुन आदिका सुख मिलता है, वह अत्यन्त तुच्छ एवं दुःखरूप ही है—जैसे कोई दोनों हाथोंसे खुजला रहा हो तो उस खुजलीमें पहले उसे कुछ थोडा-सा सुख मालूम पड़ता है, परन्तु बादमें दुःख ही दुःख होता है। किन्तु ये भूले हुए अज्ञानी मनुष्य बहुत दुःख भोगने पर भी इन विषयोंसे अघाते नहीं। इसके विपरीत धीर पुरुष जैसे खुजलाहटको सह लेते हैं वैसे ही कामादि वेगोंको भी सह लेते हैं। सहनेसे ही उनका नाश होता है॥११७॥

राजस-तामसादि आहार भक्ति विरुद्ध है—

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरुक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥११८॥

(गीता १७/९)

अत्यन्त कडुवे, खट्टे, नमकीन, अति गरम, तीखे, रूखे और दाहकारी भोज्य पदार्थ, जो दुःख, शोक और रोगको जन्म देते हैं, राजसी मनुष्यको प्रिय होते हैं॥११८॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितञ्च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामस प्रियम्॥११९॥

(गीता १७/१०)

बासी (खानेसे एक प्रहर पहले बनाये), नीरस, दुर्गन्धयुक्त और अपवित्र आहार, गुरुजनके अतिरिक्त अन्यका उच्छिष्ट और मद्यमांसादि तामसी मनुष्यको प्रिय होते हैं॥११९॥

मांसादि अमेध्य भोजन भक्तिप्रतिकूल है—

ये त्वनेवं विदोऽसन्तः स्तब्धाः सद्भिमानिनः।
पशून् द्रुह्यन्ति विस्रब्धाः प्रेत्य खादन्ति ते च तान्॥१२०॥

(श्रीमद्भागवत ११/५/१४)

जो इस विशुद्ध धर्मको नहीं जानते, वे घमण्डी वास्तवमें तो दुष्ट हैं, परन्तु समझते हैं अपने को श्रेष्ठ। वे धोखेमें पड़े हुए लोग पशुओंकी हिंसा करते हैं और मरनेके बाद वे पशु ही उन मारनेवालोंको खाते हैं॥१२०॥

मत्स्यादि अमेध्य द्रव्य भोजन भक्तिमें बाधक है—

यो यस्य मांसमश्नाति स तन्मांसाद उच्यते।
मत्स्यादः सर्वमांस्यादस्तस्मान्मत्स्यान् विवर्ज्जयेत्॥१२१॥

(मनुसंहिता ५/१५)

जो जिसका मांस भक्षण करता है, वह व्यक्ति उसका मांस खानेवाला कहा जाता है, किन्तु मछली खानेवाला, सब प्रकारके मांस खानेवाला है। (क्योंकि मछली, गाय-शूकर आदि सभी प्राणियोंके मांसका भोजन करती है, इसलिए एक मछलीके भोजनमें सभीका मांस खाया जाता है।) अतएव मत्स्य भोजन सब प्रकारसे त्यागने योग्य है॥१२१॥

विषयोन्मुखी इन्द्रिय—

जिह्वैकतोऽच्युत विकर्षतिमावितृप्ता
शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित्।
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्ति-
र्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति॥१२२॥

(श्रीमद्भागवत ७/९/४०)

हे अच्युत! यह कभी न अघानेवाली जीभ मुझे स्वादिष्ट रसोंकी ओर खींचती रहती है। जननेन्द्रिय सुन्दर स्त्रीकी ओर, नासिका भीनी-भीनी सुगन्धकी ओर, और ये चपल नेत्र सौन्दर्यकी ओर मुझे खींचते रहते हैं। इनके अतिरिक्त कर्मेन्द्रियाँ भी अपने-अपने विषयोंकी ओर ले जानेको जोर लगाती ही रहती हैं। मेरी तो वह दशा हो रही है, जैसे किसी पुरुषकी बहुतसी पत्नियाँ उसे अपने-अपने शयनगृहमें ले जानेके लिए चारों ओरसे घसीट रही हों॥१२२॥

जिह्वावेग सर्वापेक्षा प्रबल और भक्तिप्रतिबन्धक है—

तावज्जितेन्द्रियो न स्याद्विजितान्येन्द्रिय पुमान्।
न जयेद्रसं _ यावज्जितं सर्वं जिते रसे॥१२३॥

(श्रीमद्भागवत ११/८/२१)

मनुष्य और सब इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर लेनेपर भी तबतक जितेन्द्रिय नहीं हो सकता, जब तक कि वह रसनेन्द्रिय (जिह्वा) को अपने वशमें नहीं कर लेता और यदि रसनेन्द्रियको वशमें कर लिया, तब तो मानो सभी इन्द्रियाँ वशमें हो गयीं॥१२३॥

जिह्वार लालसे जेइ इति-उति धाय।
शिश्नोदर-परायण कृष्ण नाहि पाय॥१२४॥

(चै. च. अ. ६/२२७)

जो लोग जिह्वाके रसास्वादनकी लालसासे इधर-उधर भटकते फिरते हैं, वे काम और उदरपरायण व्यक्ति श्रीकृष्णको कदापि प्राप्त नहीं कर सकते॥१२४॥

भक्तिसाधनमें कुछ प्रधान बाधाएँ—

यदि वैष्णव अपराध उठे हाति माता।
उपाड़े वा छिण्डे तार शुकि' जाय पाता॥
ता'ते मालि यत्न करि' करे आवरण।
अपराध-हस्ती जैछे ना हय उद्गम॥
किन्तु यदि लतार सङ्गे उठे उपशाखा।
भुक्ति-मुक्ति-वाञ्छा जत असंख्य तार लेखा॥
निषिद्धाचार, कूटीनाटी, जीवहिंसन।
लाभ-पूजा-प्रतिष्ठादि जत उपशाखागण॥
सेकजल पाइया उपशाखा बाड़ि' जाय।
स्तब्ध हइया मूलशाखा बाड़िते ना पाय॥१२५॥

(चै. च. म. १९/१५६-१६०)

यदि साधकके हृदयमें उन्मत्त हस्तीस्वरूप वैष्णव-अपराध उत्पन्न हो जाय, तो वह भक्ति-लताको जड़से उखाड़ देता है, जिससे लता सूख जाती है। इसीलिए साधकरूपी माली लताके चारों ओर बाड़ लगा देता है, जिससे कि वैष्णव अपराध न हो जाय। परन्तु यदि भक्तिलताके साथ भुक्ति, मुक्तिकी कामनाएँ, दुराचार, कूटिनाटी, जीव हिंसा, लाभ, पूजा, प्रतिष्ठा आदि असंख्य उपशाखाएँ पैदा हो जायँ तो श्रवण-कीर्त्तनरूपी जल पाकर ये उपशाखाएँ ही बढ़कर मूल भक्तिलताको आच्छादित कर देती हैं, जिससे मूल भक्तिलता सूख जाती है॥१२५॥

वैष्णवमें जाति बुद्धि या प्राकृत बुद्धि प्राकृत सहजियाका धर्म है,
अतएव भक्तिके प्रतिकूल है—

जे ते कुले वैष्णवेर जन्म केने नय।
तथापिओ सर्वोत्तम सर्वशास्त्रे कय॥
जे पापिष्ठ वैष्णवेर जातिबुद्धि करे।
जन्म जन्म अधम-योनिते डूबि मरे॥१२६।

(चै. च. म. १०/१००-१०२)

शास्त्र कहते हैं कि जिस किसी भी कुलमें वैष्णवोंका आविर्भाव क्यों न हो, वे श्रेष्ठ हैं और वे उस कुलको भी धन्य कर देते हैं। जो पापी व्यक्ति वैष्णवोंमें जाति-बुद्धि करता है, वह जन्म-जन्मान्तरों तक नीच योनियोंमें घूमता रहता है॥१२६।

मनोधर्म भक्तिके प्रतिकूल है—

द्वैते भद्राभद्र-ज्ञान सब मनोधर्म।
एइ भाल, एइ मन्द, एइ सब भ्रम॥१२७॥

(चै. च. अ. ४/१७६)

बद्ध अवस्थामें जीवका अच्छा अथवा बुरेका ज्ञान मनोधर्म है। यह अच्छा है, यह बुरा है—यह सब मनका भ्रम है॥१२७॥

बहिर्मुख जगत्का व्यवहार—

जेवा भट्टाचार्य, चक्रवर्ती, मिश्र सब।
ताहाराओ ना जानये ग्रन्थ-अनुभव॥
शास्त्र पड़ाइया सबे एइ कर्म करे।
श्रोतार सहित यम-पाशे डुबि' मरे॥
गीता-भागवत जे जे जने वा पड़ाय।
भक्तिर व्याख्यान नाहि ताहार जिह्वाय॥
एइ मत विष्णु-माया-मोहित संसार।
देखि' भक्त सब दुःख भावेन अपार।
केमते ए सब जीव पाइबे उद्धार।
विषयसुखेते सब मजिल संसार॥
बलिलेओ केह नाहि लय 'कृष्णनाम'।
निरवधि विद्याकुल करेन व्याख्यान॥१२८॥

(चै. च. आ. २/६७-६८, ७२-७५)

भक्तिरहित भट्टाचार्य, चक्रवर्ती, मिश्र आदि केवल उपाधिधारी व्यक्तियोंको शास्त्रोंका यथार्थ अनुभव नहीं होता। वे सभी शास्त्र अध्यापनका कार्य करते हैं तथा श्रोताओंके साथ स्वयं भी नरकगामी होते हैं। जो लोग गीता एवं भागवत आदिका अध्यापन करते हैं, उनके हृदयमें भी भक्ति सम्बन्धी व्याख्या उदित नहीं होती। इस प्रकार संसारको भगवान्की मायासे मोहित देखकर भक्तजन अत्यन्त दुःखी हुए। वे विचार करने लगे कि किस प्रकार इन सब जीवोंका उद्धार होगा? सारा संसार तो विषय-सुखमें निमग्न है। समझाने पर भी कोई कृष्णनामका उच्चारण नहीं करता। निरन्तर जड़-विद्या तथा कुलके अहङ्कारमें मदमत्त होकर शास्त्रोंकी विपरीत व्याख्या करते हैं॥१२८॥

ढोंगी भागवत या भागवत-व्यवसायी—

वेदैर्विहीनाश्च पठन्ति शास्त्रं शास्त्रेण हीनाश्च पुराणपाठाः।
पुराणहीनाः कृषिणो भवन्ति भ्रष्टास्ततो भागवता भवन्ति॥१२९॥

(अत्रि संहिता ३७५ श्लोक)

वेद शास्त्रमें परिश्रम करके फल उत्पन्न करनेमें असमर्थ होने पर ब्राह्मण धर्मशास्त्रका पाठ आरम्भ करते हैं। धर्मशास्त्रमें विशेष कृतित्व लाभका अभाव होनेपर वे पुराणवक्ता होते हैं एवं पुराणवाक्योंका तात्पर्य ग्रहण करनेमें असमर्थ होने पर किसान हो जाते हैं, उसमें भी यदि उनके भोगमें बाधा पड़ती है, तो उसको छोड़कर भागवत पाठक या पाखण्डी भागवत हो जाते हैं॥१२९॥

मौन, तपस्या, शास्त्र व्याख्यादि मोक्षप्रापक उपाय ही अजितेन्द्रिय पुरुषोंकी जीविका है, जो भक्ति प्रतिकूल है—

मौन-व्रत-श्रुत-तपोऽध्ययनं स्वधर्म-
व्याख्यारहोजप-समाधय आपवर्ग्याः।
प्रायः परं पुरुष ते त्वजितेन्द्रियाणां
वार्त्ता भवन्त्युत न वात्र तु दाम्भिकानाम्॥१३०॥

(श्रीमद्भागवत ७/९/४६)

हे अन्तर्यामी! मोक्षके दस साधन प्रसिद्ध हैं—मौन, ब्रह्मचर्य, शास्त्र श्रवण, तपस्या, स्वाध्याय, स्वधर्म पालन, युक्तियोंसे शास्त्रोंकी व्याख्या, एकान्तसेवन, जप और समाधि। परन्तु जिनकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, उनके लिए ये सब जीविकाके साधन-व्यापार मात्र रह जाते हैं और दाम्भिकोंके लिए तो जब तक उनकी पोल खुलती नहीं तभी तक ये जीवन निर्वाहके साधन रहते हैं और भण्डाफोड़ हो जानेपर वह भी नहीं॥१३०॥

भुक्ति-मुक्ति-वासनासे भक्ति लुप्त होती है—

अज्ञानतमेर नाम कहिये कैतव।
धर्म-अर्थ-काम-वाञ्छा, आदि एइ सब॥
तार मध्ये 'मोक्षवाञ्छा', कैतव-प्रधान।
जाहा हैते 'कृष्णभक्ति' हय अन्तर्धान॥
कृष्णभक्तिर बाधक जत शुभाशुभ कर्म।
सेह एकजीवेर अज्ञानतमो धर्म॥१३१॥

(चै. च. आ. १/९०, ९२, ९४)

धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षकी वासनाका नाम ही अज्ञान है। यह अज्ञान ही कैतव (छल) है। इनमें मुक्तिकी वाञ्छा एक प्रधान कैतव है अर्थात् यह

सबसे बड़ी आत्मवञ्चना है। जिसके द्वारा कृष्ण भक्ति अन्तर्धान हो जाती है। संसारमें जितने प्रकारके शुभ अथवा अशुभ कार्य हैं, वे सभी कृष्ण भक्तिमें बाधकस्वरूप हैं, वे कर्म जीवके अज्ञानरूप अन्धकारके फल हैं॥१३१॥

बहिर्मुख इन्द्रियोंकी असारता—

तरवः किं न जीवन्ति भस्त्राः किं न श्वसन्त्युत।
न खादन्ति न मेहन्ति किं ग्रामपशवोऽपरे॥१३२॥

(श्रीमद्भागवत २/३/१८)

क्या वृक्ष नहीं जीते? क्या लुहारकी धौंकनी साँस नहीं लेती? गाँवके अन्य पालतू पशु क्या मनुष्य पशुकी ही तरह खाते-पीते या मैथुन नहीं करते?॥१३२॥

श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः।
न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः॥१३३॥

(श्रीमद्भागवत २/३/१९)

जिसके कानमें भगवान् श्रीकृष्णकी लीला-कथा कभी नहीं पड़ी, वह नर-पशु कुत्ते, शूकर, ऊँट और गधेसे भी गया बीता है॥१३३॥

बिले बतोरुक्रमविक्रमान् ये न श्रृण्वतः कर्णपुटे नरस्य।
जिह्वा सती दार्दुरिकेव सूत न चोपगायत्युरुगाय-गाथाः॥१३४॥

(श्रीमद्भागवत २/३/२०)

शौनकादि ऋषिगण सूतगोस्वामीसे कहते हैं—हे सूतजी! जो मनुष्य भगवान् श्रीकृष्णकी कथा कभी नहीं सुनता, उसके कान बिलके समान व्यर्थ हैं। जो जिह्वा भगवान्‌की लीलाओंका गान नहीं करती, वह मेंढ़ककी जीभके समान टर्र-टर्र करनेवाली है, उसका तो न रहना ही अच्छा है॥१३४॥

भारः परं पट्टकिरीटजुष्टमप्युत्तमाङ्ग न नमेन्मुकुन्दम्।
शावौ करौ नो कुरुतः सपर्यां हरेर्लसत्काञ्चन कङ्कणो वा॥१३५॥

(श्रीमद्भागवत २/३/२१)

जो सिर कभी भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें झुकता नहीं, वह रेशमी वस्त्रसे सुसज्जित और मुकुटसे युक्त होनेपर भी बोझमात्र ही है। जो हाथ भगवान्‌की सेवा पूजा नहीं करते, वे सोनेके कङ्गनसे भूषित होनेपर भी मुर्देके हाथोंके समान हैं॥१३५॥

बर्हायिते ते नयने नराणां लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये।
पादौ नृणां तौ द्रुमजन्मभाजौ क्षेत्राणि नानुव्रजतो हरेर्यौ॥१३६॥

(श्रीमद्भागवत २/३/२२)

जिन मनुष्योंकी आँखें भगवान्‌की श्रीमूर्ति, तीर्थ, पवित्र नदी आदिका दर्शन नहीं करतीं, वे मोरोंके पँखोंमें बने हुए आँखोंके चिह्नके समान निरर्थक हैं। मनुष्योंके

वे पैर चलनेकी शक्ति रहने पर भी न चलनेवाले पेड़ों जैसे ही हैं, जो भगवान्‌की लीला-स्थलियोंकी यात्रा नहीं करते॥१३६॥

जीवञ्छवो भागवताङ्घ्रिरेणुं न जातु मर्त्योऽभिलभेत यस्तु।
श्रीविष्णुपद्या मनुजस्तुलस्याः श्वसञ्छवो यस्तु न वेद गन्धम्॥१३७॥

(श्रीमद्भागवत २/३/२३)

जिसने भगवत्प्रेमी संतोंकी चरण धूलिको कभी भी अपने शरीरपर धारण नहीं किया, वह जीता हुआ भी मुर्दा है। जिसने भगवान्‌के चरणोंमें चढ़ी हुई तुलसीकी सुगन्ध लेकर उसकी सराहना नहीं की, वह श्वास लेता हुआ भी श्वासरहित शवतुल्य है॥१३७॥

चैतन्य कृपा ही भक्तिपथके कण्टकोंको दूर करनेमें समर्थ है—

कालः कलिर्बलिन इन्द्रियवैरिवर्गाः
श्रीभक्तिमार्ग इह कण्टककोटि-रुद्धः।
हा हा क्व यामि विकलः किमहं करोमि
चैतन्यचन्द्र यदि नाद्य कृपां करोषि॥१३८॥

(श्रीचैतन्यचन्द्रामृत ४९)

वर्तमान काल कलि अर्थात् विवादका युग है। इस युगमें इन्द्रियरूपी शत्रुवर्ग अत्यन्त प्रबल हैं। इसलिए परम उज्ज्वल भक्तिमार्ग, कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड, फल्गु (निरर्थक) वैराग्य, कुतर्कादि वाक्-वितण्डा जैसे कोटि-कोटि कण्टकोंसे अवरुद्ध हैं। हे चैतन्यचन्द्र! आप यदि आज कृपा न करें तो हाय! मैं इस सबके द्वारा दुःखी होकर कहाँ जाऊँगा और क्या करूँगा?॥१३८॥

षड्विधा शरणागति—

आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्यविवर्ज्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥१३९॥

(चै. च. म. २२/९७ श्लोकधृत वैष्णव-तन्त्रवाक्य)

कृष्णभक्तिके अनुकूल विषयोंको ग्रहण करूँगा तथा प्रतिकूलका वर्जन करूँगा, भगवान् मेरी रक्षा करते हैं—ऐसा विश्वास, वे हमारा पालन पोषण करते हैं—ऐसी निर्भरता, आत्मसमर्पण और दैन्य—ये छह प्रकारकी शरणागति है॥१३९॥

शरणागतिके बिना कभी भी चरमकल्याण सम्भव नहीं है—

तावद्भयं द्रविणदेहसुहृन्निमित्तं शोकः स्पृहापरिभवो विपुलश्च लोभः।
तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्त्तिमूलं यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः॥१४०॥

(श्रीमद्भागवत ३/९/६)

जब तक पुरुष आपके अभयपद चरणारविन्दोंका आश्रय नहीं लेता तभी तक उसे धन, घर और बन्धुजनोंके कारण प्राप्त होनेवाले भय, शोक, लालसा, दीनता और अत्यन्त लोभ आदि सताते हैं और तभी तक उसे 'मैं' और 'मेरे'पनका दुराग्रह रहता है, जो दुःखका एकमात्र कारण है॥१४०॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥१४१॥

(गीता २/७)

अर्जुनने श्रीकृष्णसे कहा—(हे कृष्ण!) कृपणताके कारण मैं स्वधर्मके सम्बन्धमें सम्मोहित हो गया हूँ और सब धैर्य भी खो बैठा हूँ। इसलिए आपसे पूछता हूँ, मेरे लिए जो निश्चय किया हुआ श्रेयस्कर साधन हो, वह कहिए। मैं आपका शरणागत शिष्य हूँ। अतएव कृपया मुझको शिक्षा दीजिए॥१४१॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥१४२॥

(गीता ७/१४)

सत्त्वादि गुण विकारात्मिका मेरी एक अलौकिकी माया है अर्थात् यह त्रिगुणमयी माया बड़ी दुस्तर है। परन्तु जो शरणागत हो जाते हैं, वे सुगमतापूर्वक इससे तर जाते हैं॥१४२॥

येषां स एष भगवान् दययेदनन्तः
सर्वात्मनाश्रितपदो यदि निर्व्यलीकम्।
ते दुस्तरामतितरन्ति च देवमायां
नैषां ममाहमितिधीः श्व श‍ृगालभक्ष्ये॥१४३॥

(श्रीमद्भागवत २/७/४२)

जो निष्कपट भावसे अपना सर्वस्व और अपने आपको भी उनके चरण-कमलोंमें न्यौछावर कर देते हैं उन पर वे अनन्त भगवान् स्वयं ही अपनी ओरसे दया करते हैं और उनकी दयाके पात्र ही उनकी दुस्तर मायाका स्वरूप जानते हैं और उसके पार जा पाते हैं। वास्तवमें ऐसे पुरुष ही कुत्ते और सियारोंके कलेवारूप अपने और पुत्रादिके शरीरमें 'यह मैं हूँ' और 'यह मेरा है' ऐसा भाव नहीं करते॥१४३॥

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥१४४॥

(गीता९/२२)

जो अनन्य मनसे मेरे दिव्य स्वरूपका चिन्तन करते हुए भक्तिभाव सहित

मेरा भजन करते हैं, उन समस्त एकनिष्ठ भक्तोंके भरण-पोषण और संरक्षणका भार मैं स्वयं वहन करता हूँ॥१४४॥

शरणागत भक्तोंका शरीर प्राकृत नहीं है—

कृष्णभक्ति सुधापानाद्देहदैहिक विस्मृतेः।
तेषां भौतिकदेहेऽपि सच्चिदानन्दरूपता॥१४५॥

(बृहद्भागवतामृत २/३/४५)

कृष्ण भक्ति-रस-सुधाका पान करके देहधारी प्राणियोंका स्थूल लिंगदेह और देह-सम्बन्धी वस्तुएँ विस्मृत हो जाती हैं। उनका शरीर प्राकृत नहीं है, उनका पञ्चभौतिक शरीर भी सच्चिदानन्द रूपको प्राप्त होता है॥१४५॥

शरण्य वस्तुकी भाँति शरणागतकी देह अप्राकृत है—

शरण लइया करे कृष्णे आत्मसमर्पण।
कृष्णे तारे करे तत्काले आत्मसम॥१४६॥

(चै. च. म. २२/१००)

यदि शिष्य गुरुपदाश्रय कर कृष्णके चरणोंमें आत्मसमर्पण करता है, तो उसी क्षण कृष्ण उसे अङ्गीकार कर लेते हैं॥१४६॥

प्रभु कहे,—वैष्णव देह प्राकृत कभु नय।
अप्राकृत देह भक्तेर चिदानन्दमय॥
दीक्षाकाले भक्त करे आत्मसमर्पण।
सेइ काले कृष्ण तारे करे आत्मसम॥
सेइ देह करे तार चिदानन्दमय।
अप्राकृत देहे ताँर चरण भजय॥१४७॥

(चै. च. अ. ४/१९१-१९३)

प्रभुने कहा—वैष्णवोंका शरीर कभी भी प्राकृत नहीं होता, भक्तका शरीर अप्राकृत और चिदानन्दमय होता है। दीक्षाके समय शिष्य श्रीगुरुदेवके चरणोंमें जब आत्मसमर्पण करता है, उसी समय कृष्ण उसे अङ्गीकार कर लेते हैं। उसे चिदानन्दमय देह प्रदान करते हैं, जिससे वह भगवानके चरणकमलोंकी प्रेममयी सेवा करता है॥१४७॥

दन्ते निधाय तृणकं पदयोर्निपत्य कृत्वा च काकुशतमेतदहं ब्रवीमि।
हे साधवः सकलमेव विहाय दूराद्गौराङ्गचन्द्रचरणे कुरुतानुरागम्॥१४८॥

(चैतन्यचन्द्रामृत ९०)

हे सज्जनो! तृणकी अपेक्षा भी सुनीच और विनीत होकर युगल पादपद्मोंमें

समर्पित एवं अभिमान शून्य होकर प्रार्थना करता हूँ कि आप समस्त धर्मोंको परित्याग कर गौराङ्गचन्द्रके चरणोंमें आसक्त हों॥१४८॥

दैन्य—

न प्रेमगन्धोऽस्ति दरापि मे हरौ क्रन्दामि सौभाग्यभरं प्रकाशितुम्।
वंशीविलास्याननलोकनं विना विभर्मि यत् प्राणपतङ्गकान् वृथा॥१४९॥

(चै. च. म. २/४५ श्लोकधृत महाप्रभुपादोक्त-श्लोक)

हे सखी! कृष्णमें मेरी सामान्य प्रेमगन्ध भी नहीं है। तब मैं जो रोता हूँ, वह तो केवल स्वयंका सौभाग्य बतानेमात्रके लिए है। वंशीवदन कृष्ण दर्शनके बिना मैं जो प्राण-पतङ्ग धारण करती हूँ, वह वृथा है॥१४९॥

आत्यन्तिक मङ्गल लाभका उपाय—

अत आत्यन्तिकं क्षेमं पृच्छामो भवतोऽनघाः।
संसारेऽस्मिन् क्षणार्धोऽपि सत्सङ्गः शेवधिर्नृणाम्॥१५०॥

(श्रीमद्भागवत ११/२/३०)

निमिराज नवयोगेन्द्रसे पूछने लगे—हे निष्पाप महात्मागण! आपके समान भगवद्भक्तोंके दर्शन अत्यन्त दुर्लभ हैं, इसलिए हम आप लोगोंसे जिज्ञासा करते हैं कि परम कल्याण क्या है? इस संसारमें आधे क्षणका सत्सङ्ग भी मनुष्यके लिए परम निधि है॥१५०॥

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥१५१॥

(श्रीमद्भागवत १/१८/१३)

भगवत्प्रेमी भक्तोंके लवमात्रके सत्सङ्गसे स्वर्ग एवं मोक्षकी भी तुलना नहीं की जा सकती, फिर मरणशील मनुष्योंके तुच्छ राज्यादि भोगोंकी तो बात ही क्या है?॥१५१॥

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।
तन्माययातो बुध आभजेत् तं भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा॥१५२॥

(श्रीमद्भागवत ११/२/३७)

भगवद्विमुख जीवको उनकी मायावशतः अपने स्वरूपकी विस्मृति हो जाती है और इस विस्मृतिसे ही देहाभिमान हो जाता है अर्थात् मैं देवता हूँ, मैं मनुष्य हूँ, इस प्रकारका भ्रम-विपर्यय हो जाता है। इस देह आदि अन्य वस्तुओंमें अभिनिवेश (तन्मयता) होनेके कारण ही बुढ़ापा, मृत्यु, रोग आदि अनेक भय

होते हैं। इसलिए तत्त्वज्ञ व्यक्ति अपने गुरुको ही ईश्वर अर्थात् भगवानसे अभिन्न प्रभु एवं परम–प्रेष्ठ मानकर अनन्य भक्तिके द्वारा उस ईश्वरका (गुरुका) ऐकान्तिक भजन करें॥१५२॥

श्रुतियोंमें भक्तपूजा और साधुसङ्गकी एकान्त कर्त्तव्यता—

तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः॥१५३॥

(मुण्डक ३/१/१०)

मुक्तिकी कामना चाहनेवाले व्यक्ति आत्मज्ञ अर्थात् भगवद्भक्तकी पूजा करें॥१५३॥

साधुसङ्गके बिना उपाय नहीं है—

रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वापणाद् गृहाद्वा।
नच्छन्दसा नैव जलाग्नि सूर्यै विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥१५४॥

(श्रीमद्भागवत ५/१२/१२)

हे रहूगण! महापुरुषोंके चरणोंकी धूलसे अपनेको नहलाये बिना केवल तप, यज्ञादि वैदिक कर्म, अन्नादिके दान, ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ, संन्यास अथवा जल, अग्नि और सूर्य आदि देवताओंकी उपासना–द्वारा यह परमात्म ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता॥१५४॥

अल्प सुकृतिवालोंको महान् व्यक्तियोंकी सेवा पाना सम्भव नहीं है—

दुरापा ह्यल्पतपसः सेवा वैकुण्ठवर्त्मसु।
यत्रोपगीयते नित्यं देव देवो जनार्दनः॥१५५॥

(श्रीमद्भागवत ३/६/२०)

कुण्ठाधर्मरहित भगवान् विष्णुकी (अथवा विष्णुलोक वैकुण्ठकी) प्राप्तिका पथ महद्व्यक्तियोंकी सेवा है, जो अल्प सुकृतिमान् व्यक्तियोंके लिए दुर्लभ है। इन्हीं भक्तोंके समाजमें भूतभावन भगवान् नित्य कीर्त्तित होते हैं॥१५५॥

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत्॥१५६॥

(श्रीमद्भागवत ७/५/३२)

जब तक जीव अकिञ्चन, भगवत्प्रेमी, महात्मा, भगवद्भक्तोंके चरणोंकी धूलमें स्नान नहीं कर लेता, तब तक समस्त अनर्थोंका नाश करनेवाले भगवत्चरणोंमें उसकी मति नहीं लगती॥१५६॥

भक्तमें ही समस्त गुणोंका समावेश है, अभक्तमें कोई भी गुण नहीं होता—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः॥१५७॥

(श्रीमद्भागवत ५/१८/१२)

जिस पुरुषकी भगवानमें निष्काम भक्ति है, उसके हृदयमें समस्त देवता धर्म-ज्ञानादि सम्पूर्ण सद्गुणोंके साथ सदा निवास करते हैं। किन्तु जो भगवान्‌का भक्त नहीं है, उसमें महापुरुषोंके वे गुण आ ही कहाँसे सकते हैं? वह तो तुच्छ बाहरी विषयोंकी ओर ही दौड़ता रहता है॥१५७॥

साधुसङ्गसे ही श्रद्धा, रति और प्रेमभक्तिका उदय होता है—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसम्विदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्ग वर्त्मनि श्रद्धा-रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥१५८॥

(श्रीमद्भागवत ३/२५/२५)

सत्पुरुषोंके समागमसे मेरे पराक्रमका यथार्थ ज्ञान करानेवाली तथा हृदय और कानोंको प्रिय लगनेवाली वीर्यवती कथाएँ होती हैं। उनका सेवन करनेसे शीघ्र ही अविद्या निवृत्तिके पथस्वरूप मुझमें सबसे पहले श्रद्धा, पीछे रति और अन्तमें प्रेमभक्तिका उदय होता है॥१५८॥

विज्ञप्ति-सम्प्रार्थनात्मिका,—

दैन्यमयी, लीलामयी, मनः शिक्षामयी भेदसे अनेक प्रकारकी है।

सम्प्रार्थनात्मिका—

न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि॥१५९॥

(श्रीशिक्षाष्टकम् ४)

हे जगदीश! न मैं धन चाहता हूँ, न जन चाहता हूँ, न सुन्दरी कविता ही चाहता हूँ। हे प्राणेश्वर! एकमात्र कामना है कि आपके श्रीचरणकमलोंमें मेरी जन्मजन्मान्तरमें अहैतुकी भक्ति हो॥१५९॥

परिशिष्ट

कृतिसाध्या भवेत् साध्यभावा सा साधनाभिधा।
नित्यसिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं हृदि साध्यता॥१॥

(भ. र. सि. १/२/२)

साध्य भावभक्ति इन्द्रियोंके द्वारा अनुष्ठित होने पर उसे साधनभक्ति कहा गया है। भक्ति ही जीवका नित्यसिद्ध भाव है। तात्पर्य यह है कि—चित्कण जीवमें स्वाभाविकरूपमें चित्सूर्य श्रीकृष्णका जो आनन्द कण है, जीव मायाबद्ध होनेसे वह वर्तमान समयमें लुप्तप्राय है, वह नित्यसिद्ध भाव ही हृदयमें प्रकटके योग्य है। इस अवस्थामें ही नित्यसिद्ध वस्तुकी साध्य अवस्था प्रतिपन्न हुई। वही साध्यभावरूप भक्ति जब बद्धजीवोंके इन्द्रियोंसे साधित होती है, तब उसको ही साधन भक्ति कहा गया है। (उसका नाम साधनभक्ति है)॥१॥

सुरर्षे विहिता शास्त्रे हरिमुद्दिश्य या क्रिया।
सैव भक्तिरिति प्रोक्ता तया भक्तिः परा भवेत्॥२॥

(भ. र. सि. १/२/१३ पञ्चरात्र वाक्य)

हे देवर्षि नारद! (इस समय परम फलकी प्राप्तिके विषयमें भी कह रहे हैं)—भगवानकी आराधनाके उद्देश्यसे शास्त्रमें जो क्रिया बतलाई गई है उसीको साधनभक्ति कहते हैं। भक्तिके अनुष्ठान क्रमसे ही परमा भक्तिका उदय होता है॥२॥

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्ष लघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षणी च सा॥३॥

(भ. र. सि. १/१/१७)

पूर्वोक्त साधनभक्ति साधनावस्थामें क्लेशोंका नाश करनेवाली, कल्याणोंको प्रदान करनेवाली, भावावस्थामें मोक्षको भी तुच्छ बना देनेवाली, अत्यन्त कठिनतासे प्राप्त होनेवाली, प्रेमावस्थामें अपरिमेय आनन्दविशेषसे परिपूर्ण और भगवान्को आकृष्ट करनेवाली होती है॥३॥

यावत् स्यात् स्वनिर्वाहः स्वीकुर्यात्तावदर्थवित्।
आधिकष्ये न्यूनतायाञ्च च्यवते परमार्थतः॥४॥

(भ. र. सि. १/२/१०८)

जितने अर्थसे अपना जीवन निर्वाह हो जाय, अर्थको समझनेवाले भक्तको

उतना ही ग्रहण करना चाहिए, अधिक या कम ग्रहण करनेसे परमार्थसे च्युत हो जाता है॥४॥

स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद् धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः॥५॥

(श्रीमद्भागवत ११/५/४२)

जो प्रेमीभक्त अपने प्रियतम भगवान्‌के चरणकमलोंका अनन्यभावसे (दूसरी भावनाओं आस्थाओं, वृत्तियों एवं प्रवृत्तियोंको छोड़कर) भजन करता है, उससे पहली बात तो यह है कि पापकर्म होते ही नहीं, परन्तु यदि कभी किसी प्रकार हो भी जाय तो परम पुरुष भगवान् श्रीहरि उसके हृदयमें बैठकर वह सब धो बहा देते हैं और उसके हृदयको शुद्ध कर देते हैं॥५॥

अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमास्थितः।
भजते तादृशीः क्रीड़ा याः श्रुत्वातत्परो भवेत्॥६॥

(श्रीमद्भागवत १०/३३/३६)

भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिए भगवान् नरोचित् शरीर प्रकटपूर्वक ऐसी लीलाएँ करते हैं, जिन्हें सुनकर लोग भगवत्परायण हो जाते हैं॥६॥

गोप्यः कामाद् भयात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।
सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद् युयं भक्त्या वयं विभो॥७॥

(श्रीमद्भागवत ७/१/३०)

देवर्षि नारदने युधिष्ठरको कहा—हे राजन्! गोपियोंने भगवान्‌से मिलनेके लिए तीव्र काम अर्थात् प्रेमसे, कंसने भयसे, शिशुपाल दन्तवक्र आदि राजाओंने द्वेषसे, यदुवंशियोंने परिवारके सम्बन्धसे, तुमलोगोंने स्नेहसे और हमलोगोंने भक्तिसे अपने मनको भगवान्‌में लगाया है॥७॥

मर्त्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो मयाऽऽत्मभूयाय च कल्पते वै॥८॥

(श्रीमद्भागवत ११/२९/३४)

मरणशील जीव जब समस्त कर्मोंको परित्यागकर (भोगमोक्षसे विरत होकर) अपनेको मेरे प्रति सम्पूर्ण रूपमें आत्मनिवेदन करके मेरी इच्छासे क्रिया करते हैं तब अमृतत्व लाभ करके मेरे साथ चिद्‌स्वरूपरस भोगमें योग्य होते हैं॥८॥

सा भक्तिस्त्रिविधा;—आरोपसिद्धा, सङ्गसिद्धा, स्वरूपसिद्धा च। तत्रारोपसिद्धा स्वतो भक्तित्वाभावेऽपि भगवदर्पणादिना भक्तित्वं प्राप्ता कर्मादिरूपा। सङ्गसिद्धा स्वतो भक्तित्वाभावेऽपि तत्परिकरतया संस्थापनेन (भा. ११/३/२२)—'तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद्गुर्वात्मदैवतः' इत्यादि प्रकरणेषु, (भा. ११/३/२२)—'सर्वतो मनसोऽसङ्गम्' इत्यादिना लब्ध-तदन्तःपाता ज्ञान-कर्मतदङ्गरूपा। स्वरूपसिद्धा चाज्ञानादिनापि तत् प्रादुर्भावे भक्तित्वाव्यभिचारिणी साक्षात् तदनुगत्यातमा तदीयश्रवणकीर्त्तनादिरूपा। (भा. ७/५/२३) 'श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः इत्यादौ विष्णोः श्रवणं विष्णोः कीर्त्तनमिति विशिष्टस्यैव विवक्षितत्वात् तेषामपि नारोपसिद्धत्वम्। प्रत्युतय मूढ़प्रोन्मत्तादिषु तदनुकर्त्तृष्वपि कथञ्चित् सम्बन्धेन फलप्राप्तकृत्त्वात् स्वरूपसिद्धत्वम्। यथा—श्रीप्रह्लादस्य पूर्वजन्मनि श्रीनृसिंहचतुर्दश्युपवासः। यथा कुक्कुरमुखगतस्य श्येनस्य भगवन्मन्दिरपरिक्रमः॥९॥

(भक्तिसन्दर्भ अ. २१७)

पूर्वोक्त भक्ति तीन प्रकारकी है—१. आरोपसिद्धा, २. सङ्गसिद्धा और ३. स्वरूपसिद्धा। इनमें जो स्वरूपतः भी नहीं है अर्थात् जिसमें अनुकूलतापूर्वक श्रीकृष्णानुशीलन नहीं है, परन्तु अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिए भगवान्‌में अर्पणादि द्वारा भक्ति-रूपताको प्राप्त होती है, उसका नाम आरोपसिद्धा-भक्ति है। वह कर्मादिरूपा है। स्वभावतः भक्तित्व युक्त न होने पर भी भक्तिके परिकररूपमें या सहकारीरूपमें जो संस्थापित होती है उसे सङ्गसिद्धा-भक्ति कहते हैं। जैसे श्रीभागवत (११/३/२२) में -गुरुके पास रहकर गुरुको ही निज पूज्य देवतारूपमें मानकर निष्कपट भावसे उनकी सेवा करते हुए भागवत-धर्मोंकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये (श्लोक संख्या ६१८ द्रष्टव्य) इत्यादि प्रकरणमें जो कहा गया है कि (भा. ११/३/२३) सर्वप्रथम सभी विषयोंसे मन की आसक्ति हटानेका अभ्यास करें, फिर साधुसङ्ग और उसके बाद दीनोंपर दया, समान व्यक्तियोंसे मित्रता और अपनेसे उत्तम व्यक्तियोंसे विनयपूर्वक शिक्षा ग्रहण करें इत्यादि ये सब ज्ञान-कर्मादिके अङ्गसमूह हैं जो भक्तिके अन्तःपाती या अन्तर्भुक्त होते हैं; अतः ऐसे ज्ञान-कर्मादिको 'सङ्गसिद्धा-भक्ति' कहा जाता है। और ज्ञानादिका अभाव होते हुए भी भगवदाविर्भाव या भगवत्स्वरूपमें साक्षात् उनके आनुगत्य रूपमें भक्तित्वके अव्यभिचारी जो समस्त श्रवण, कीर्त्तनादि हैं, वही 'स्वरूपसिद्धा-भक्ति' है। जैसा कि श्रीभागवत (७/५/२३) 'श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः' इत्यादि श्लोक (सं. ४७५) में विष्णुका श्रवण, विष्णुका कीर्त्तन—इत्यादि विशेषताका उल्लेख है अर्थात्

विष्णुसे साक्षात् सम्बन्ध होनेसे पृथकता नहीं रह जाती। अतः श्रवण कीर्त्तनादि नवविधा भक्तिका यदि कोई मूढ़, उन्मत्त व्यक्ति भी अनुकरण करते हुए किसी प्रकार इस भक्तिका सम्बन्ध प्राप्त करता है, तो उसे भी फलकी प्राप्ति करा देती है। जैसे—श्रीप्रह्लादका पूर्वजन्ममें किया हुआ श्रीनृसिंहचतुर्दशीके दिन उपवास तथा कुत्तेके मुखमें पड़े हुए बाज-पक्षीकी परिक्रमा उसको फल प्रदान करनेवाली सिद्ध हुई। इसी प्रकार अन्य भावादिसे भी मूर्ख लोग यदि वन्दना करते हैं तो उनको भी फलकी प्राप्ति हो जाती है॥१०॥

श्रुति स्मृति पुराणादिपञ्चरात्रविधिं विना।
ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते॥१०॥

(भ. सं. २८४)

श्रुति-स्मृति पुराणादि एवं पञ्चरात्रकी विधिका परित्याग करके ऐकान्तिकी हरिभक्ति भी विघ्न ही उत्पादन किया करती है॥१०॥

इति गौड़ीय-कण्ठहारमें 'साधनभक्ति-तत्त्व' वर्णन नामक तेरहवाँ रत्न समाप्त।

U U U

चौ

वर्णधर्म-तत्त्व

वर्णाश्रम दो प्रकारका है—दैव और आसुर—

द्वौभूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैवआसुर एव च।
विष्णुभक्तः स्मृतो दैव आसुरस्तद्विपर्ययः॥१॥

(पद्मपुराण)

इस संसारमें दैव और आसुरके भेदसे जीवोंकी सृष्टि दो प्रकारकी है। विष्णु भक्तजन दैव एवं जो विष्णु विरोधी हैं, वे ठीक इसके विपरीत अर्थात् आसुर स्वभाववाले हैं॥१॥

दैव-वर्णाश्रम—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत् तत्तोषकारणम्॥२॥

(वि. पु. ३/८/९ और पद्मपुराण पातालखण्ड ५३ अ.)

परमेश्वर विष्णु वर्णधर्म और आश्रमधर्म आचारयुक्त पुरुषों द्वारा आराधित होते हैं। वर्णाश्रमाचारके अतिरिक्त उनको प्रसन्न करनेका दूसरा कोई उपाय नहीं है॥२॥

आसुर वर्णाश्रमीका चरित्र—

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहेतुकम्॥३॥

(गीता १६/८)

आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य कहते हैं कि जगत आश्रय रहित और सर्वथा झूठा एवं बिना ईश्वरके अपने आप स्त्री-पुरुषके संयोगसे उत्पन्न हुआ है, इसलिए केवल भोगोंको भोगनेके लिए ही है। इसके अतिरिक्त और क्या है?॥३॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥४॥

(गीता १६/१४)

वह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया और दूसरे शत्रुओंको भी मैं मारूँगा तथा मैं ईश्वर और ऐश्वर्यको भोगनेवाला हूँ और मैं सब सिद्धियोंसे युक्त एवं बलवान् और सुखी हूँ॥४॥

आसुर-वर्णाश्रमीका परिणाम—

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥५॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तय! ततो यान्त्यधमां गतिम्॥६॥

(गीता १६/१९-२०)

उन विद्वेषी क्रूर नराधमोंको मैं इस संसारमें बारम्बार आसुरी योनियोंमें गिराता हूँ अर्थात् उनके स्वभावके अनुसार शूकर-कूकर आदि नीच योनियोंमें ही उत्पन्न करता हूँ। वे मूढ़ पुरुष जन्म-जन्ममें मुझे प्राप्त न होकर, उससे भी नीच गतिको ही प्राप्त होते हैं अर्थात् घोर नरकमें पड़ते हैं॥५-६॥

आसुर-वर्णाश्रमियोंका त्रिविध जन्म, कुल और विद्या निरर्थक है—

धिग् जन्म नस्त्रिवृद्विद्यां धिग् व्रतं धिग् बहुज्ञताम्।
धिक्कुलं धिक्क्रियादाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोक्षजे॥७॥

(श्रीमद्भागवत १०/२३/३९)

हम भगवान् श्रीकृष्णसे विमुख हैं। बड़े ऊँचे कुलमें हमारा जन्म हुआ, गायत्री ग्रहण करके हम द्विजाति हुए, वेदाध्ययन करके हमने बड़े-बड़े यज्ञ किये, परन्तु वे सब किस कामके हैं? धिक्कार है, धिक्कार है! हमारी विद्या व्यर्थ गयी, हमारे व्रत निष्फल सिद्ध हुए। हमारी इस बहुज्ञताको धिक्कार है। ऊँचे वंशमें जन्म लेना और कर्मकाण्डमें निपुण होना किसी काम न आया। (ऐसा कहकर बहिर्मुख यज्ञमें दीक्षित माथुर ब्राह्मणगण स्वयंको धिक्कारने लगे)॥७॥

जीवका स्वभाव चार प्रकारका है— (१) ब्रह्म स्वभाव, (२) क्षत्रिय स्वभाव, (३) वैश्य स्वभाव और (४) शूद्र स्वभाव।

स्वभावानुसार वर्ण निर्णय ही विज्ञान सम्मत और आर्य ऋषि सम्मत है—

शमो दमस्तपः शौचं सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम्।
ज्ञानं दयाच्युतात्मत्वं सत्यं च ब्रह्मलक्षणम्॥८॥
शौर्यं वीर्यं धृतिस्तेजस्त्याग आत्मजयः क्षमा।
ब्रह्मण्यता प्रसादश्च रक्षा च क्षत्रलक्षणम्॥९॥

देवगुर्वमुच्यते भक्तिस्त्रिवर्गपरिपोषणम्।
आस्तिक्यमुद्यमो नित्यं नैपुण्यं वैश्यलक्षणम्॥१०॥
शूद्रस्य सन्नतिः शौचं सेवा स्वामिन्मयमायया।
अमन्त्रयज्ञो ह्यस्तेयं सत्यं गोविप्ररक्षणम्॥११॥

(श्रीमद्भागवत ७/११/२१-२४)

शम, दम, तप, शौच, सन्तोष, क्षमा, सरलता, ज्ञान, दया, भगवत्परायणता और सत्य—ये ब्राह्मणके लक्षण हैं। शौर्य, वीर्य, धैर्य, तेज, त्याग, आत्मजय, क्षमा, ब्राह्मणोंके प्रति भक्ति, अनुग्रह और प्रजाकी रक्षा करना—ये क्षत्रियके लक्षण हैं। देवता, गुरु और भगवान्के प्रति भक्ति अर्थ, धर्म और काम—इन तीनों पुरुषार्थोंकी रक्षा करना, आस्तिकता, उद्योगशीलता और व्यावहारिक निपुणता—ये वैश्यके लक्षण हैं। उच्च वर्णोंके सामने विनम्र रहना, पवित्रता, स्वामीकी निष्कपट सेवा, वैदिक मन्त्रोंसे रहित यज्ञ, चोरी न करना, सत्य तथा गौ-ब्राह्मणोंकी रक्षा करना—ये शूद्रके लक्षण हैं॥८-११॥

गीताका प्रमाण—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणाञ्च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव-प्रभवैर्गुणैः॥१२॥

(गीता १८/४१)

सत्त्व, रजः, तमः—ये तीनों ही गुण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों तथा शूद्रोंके कर्म स्वभावसे उत्पन्न हुए हैं और गुणों द्वारा विभक्त किये गये हैं अर्थात् पूर्वकृत कर्मोंके संस्काररूप स्वभावसे उत्पन्न हुए गुणोंके अनुसार विभक्त किये गये हैं॥१२॥

ब्राह्मणोंके स्वाभाविक कर्म—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥१३॥

(गीता १८/४२)

शम (अन्तकरणका निग्रह), दम (इन्द्रियोंका दमन), तपः, शौच (बाहर-भीतरकी शुद्धि), धर्मके लिए कष्ट सहन करना और क्षमाभाव एवं मन, इन्द्रियों और शरीरकी सरलता, आस्तिक बुद्धि, शास्त्र विषयक ज्ञान और परमात्मतत्त्वका अनुभव—ये तो ब्राह्मणोंके स्वाभाविक कर्म हैं॥१३॥

क्षत्रियोंके स्वाभाविक कर्म—

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षत्रकर्म स्वभावजम्॥१४॥

(गीता १८/४३)

शूरवीरता, तेज, धैर्य, दाक्ष्य (चतुरता), युद्धमें भी न भागनेका स्वभाव एवं दान और स्वामीभाव अर्थात् निस्वार्थ भावसे पुत्र तुल्य प्रजाको पालन करनेका भाव—ये सब क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं॥१४॥

वैश्य और शूद्रोंके स्वाभाविक कर्म—

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥१५॥

(गीता १८/४४)

खेती, गो पालन और क्रय-विक्रयरूप सत्य व्यवहार—ये वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंकी सेवा करना शूद्रोंका स्वाभाविक कर्म है॥१५॥

गुणकर्मानुसार वर्णविभाग ही भगवान्‌को जाननेका मार्ग है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम्॥१६॥

(गीता ४/१३)

गुण और कर्मोंके विभागसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र मेरे द्वारा रचे गये हैं। मैं सृष्टि आदिका कर्त्ता होने पर भी मुझे अकर्त्ता और अव्यय ही जानना अर्थात् वर्ण और आश्रम धर्मकी रचना (सृष्टि) मेरी बहिरङ्गा मायाशक्तिके द्वारा ही हुई है। मैं अपने आपमें इन सब कार्योंसे निरपेक्ष रहता हूँ॥१६॥

भागवत-प्रमाण—

मुखबाहुरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह।
चत्वारो जज्ञिरेवर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक्॥१७॥
य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम्।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः॥१८॥

(श्रीमद्भागवत ११/५/२-३)

विराट् पुरुषके मुखसे सत्त्वप्रधान ब्राह्मण, भुजाओंसे सत्त्व-रज प्रधान क्षत्रिय, जाँघोंसे रज-तम प्रधान वैश्य और चरणोंसे तमः प्रधान शूद्रकी उत्पत्ति हुई है। उन्हींकी जाँघोंसे गार्हस्थ, हृदयसे ब्रह्मचर्य, वक्षःस्थलसे वानप्रस्थ और मस्तकसे संन्यास—ये चार आश्रम प्रकट हुए हैं। इनमें जो व्यक्ति साक्षात् भगवान्‌का भजन नहीं करता, बल्कि उलटा उनका अनादर करता है, वह अपने स्थान, वर्ण, आश्रम और मनुष्य योनिसे भी च्युत हो जाता है॥१७-१८॥

चारिवर्णाश्रमी यदि कृष्ण नाहि भजे।
स्वकर्म करितेओ से रौरवे पड़ि' मजे॥

(चै. च. म. २२/२६)

चारों वर्ण और आश्रमोंके लोग यदि कृष्णका भजन नहीं करते हैं, तो वर्ण और आश्रमके लिए निर्दिष्ट कर्मोंको करनेपर भी उन्हें नरक-भोग करना पड़ता है।

प्राचीन युगका वर्णधर्म; सत्ययुगमें मात्र एक वर्ण—

आदौ कृतयुगे वर्णो नृणां हंस इति स्मृतः।
कृतकृत्याः प्रजा जात्या तस्मात् कृतयुगं विदुः॥१९॥
त्रेतामुखे महाभाग प्राणान्मे हृदयात् त्रयी।
विद्या प्रादुरभूत्तस्या अहमासं त्रिवृन्मखः॥२०॥
विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा मुखबाहूरुपादजाः।
वैराजात् पुरुषाज्जाता य आत्माचारलक्षणाः॥२१॥

(श्रीमद्भागवत ११/१७/१०, १२-१३)

(भगवान्ने उद्धवसे कहा—हे उद्धव!) सत्ययुगके प्रारम्भमें सभी मनुष्योंका 'हंस' नामक एक ही वर्ण था। उस युगमें सब लोग जन्मसे ही कृतकृत्य होते थे, इसीलिए उसका एक नाम कृतयुग भी है। हे महाभाग! त्रेतायुगके आरम्भ होने पर मेरे हृदयसे श्वास-प्रश्वासके द्वारा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेदरूप त्रयी विद्या प्रकट हुई और उस त्रयी विद्यासे होत्र, अध्वर्य और उद्गाता—इन तीन यज्ञोंके रूपमें प्रकट हुए। बादमें विराट् पुरुषके मुखसे ब्राह्मण, भुजासे क्षत्रिय, जंघासे वैश्य और चरणोंसे शूद्रोंकी उत्पत्ति हुई। उनकी पहचान उनके स्वभावानुसार और आचरणसे होती है॥१९-२१॥

पहले सभी ब्राह्मण थे, बादमें गुण और कर्मोंके अनुसार विभिन्न वर्ण विभाग हुए—

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्॥२२॥

(महाभारत-शाल्यपर्व १८८/१०)

भृगुने कहा—ब्राह्मणादि वर्णोंमें किसी प्रकारका अन्तर नहीं है। पहले ब्रह्मा द्वारा सृष्ट सारा जगत् ब्राह्मणमय था, बादमें कर्मों द्वारा विभिन्न वर्ण हुए॥२२॥

कलियुगमें वर्ण-धर्मकी अवस्था—

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राः पापपरायणाः।
निजाचारविहीनाश्च भविष्यन्ति कलौ युगे॥२३॥

विप्रा वेदविहीनाश्च प्रतिग्रह–परायणाः।
अत्यन्तकामिनः क्रूरा भविष्यन्ति कलौ युगे॥२४॥
वेदनिन्दाकराश्चैव द्यूतचौर्यकरास्तथा।
विधवासङ्गलुब्धाश्च भविष्यन्ति कलौ द्विजाः॥२५॥
वृत्त्यर्थं ब्राह्मणाः केचित् महाकपटधर्म्मिणः।
रक्ताम्बरा भविष्यन्ति जटिलाः श्मश्रुधारिणः॥२६॥
कलौ युगे भविष्यन्ति ब्राह्मणाः शूद्रधर्म्मिणः॥२७॥

(पद्मपुराण क्रियायोगसारमें १७ वां अध्याय)

कलियुगमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारों वर्ण अपने–अपने आचारविहीन और पापपरायण होंगे। ब्राह्मण–वेदविहीन, यजनादि पाँच ब्राह्मणोचित कर्मोंका परित्याग कर केवल प्रतिग्रहपरायण, अत्यन्त कामुक और क्रूर प्रकृतिविशिष्ट होंगे। कलियुगमें द्विजगण वेद निन्दक, जुआप्रेमी, चौर्यवृत्तिविशिष्ट एवं विधवा–सङ्गलोलुप होंगे। जीविका निर्वाहके लिए कोई–कोई महाकपट धर्मी ब्राह्मण रक्तवस्त्र परिधान एवं जटिल अर्थात् बड़े–बड़े केश धारण करेंगे। कलियुगमें ब्राह्मणगण इस प्रकार शूद्रधर्ममें रहेंगे॥२३–२७॥

कलियुगके ब्राह्मण—

राक्षसाः कलिमाश्रित्य जायन्ते ब्रह्मयोनिषु।
उत्पन्ना ब्राह्मणकुले बाधन्ते श्रोत्रियान् कृशान्॥२८॥

(चै. भा. ११ अध्याय वराह पुराण वचन)

पूर्व युगोंमें देव–द्विजद्रोही जो असुर थे, वे सभी राक्षसगण कलियुगका आश्रयकर ब्राह्मण कुलमें जन्म ग्रहण करते हैं एवं उस कुलमें उत्पन्न होकर जिनके दश प्रकारके संस्कार, विद्याभ्यास आदि क्षीण हो गये हैं, वे सभी वेदज्ञोंको बाधा प्रदान करेंगे॥२८॥

श्रीचैतन्यभागवतका प्रमाण—

एइ सकल राक्षस 'ब्राह्मण'–नाम–मात्र।
एइ सब लोक यम–यातनार पात्र॥
कलियुगे राक्षससकल विप्र–घरे।
जन्मिबेक सूजनेर हिंसा करिबारे॥
ए–सब विप्रेर स्पर्श, कथा, नमस्कार।
धर्मशास्त्रे सर्वथा निषेध करिवार॥२९॥

(चै. भा. आ. १६/२९९–३००, ३०२)

भजन विहीन ब्राह्मण नाममात्रके ब्राह्मण हैं। वे वास्तवमें दैत्य-दानव हैं, साथ ही यम-यातनाके पात्र हैं। पूर्व-पूर्व युगोंके देव-द्विज द्रोही जो राक्षस थे, वे कलियुगमें ब्राह्मणके घरमें जन्म लेकर सज्जनोंसे द्वेष करेंगे। ऐसे ब्राह्मणोंको स्पर्श करना, प्रणाम करना तथा उनसे बात करना धर्म-शास्त्रोंमें निषेध किया गया है॥२९॥

शौक्र विचारसे वर्ण-निरूपण दोषपूर्ण क्यों है?—

जातिरत्र महासर्प मनुष्यत्वे महामते।
सङ्करात् सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः॥३०॥
सर्वे सर्वास्वपत्यानि जनयन्ति सदा नराः।
वाङ्मैथुनमथो जन्म मरणञ्च समं नृणाम्॥३१॥

(महाभारत-वनपर्व १८०/३१-३२)

(युधिष्ठिर नहुषको कहते हैं,—) हे महामते महासर्प! मनुष्योंमें, समस्त वर्णोंमें मिश्रणताके कारण व्यक्तियोंकी जाति निरूपणका कार्य कठिन है, यही मेरा मत है। इसलिए सभी वर्णोंके मनुष्य सभी वर्णोंकी स्त्रियोंसे सन्तान उत्पन्न करनेमें समर्थ हैं। मनुष्योंकी बोलचाल, मैथुन, जन्म और मरण सभी वर्णोंमें एक-सा ही है॥३०-३१॥

सत्यप्रिय-वैदिक ऋषियोंका मत—

"न चैतद्विद्मो ब्राह्मणाः स्मो वयमब्राह्मणा वेति"॥३२॥

(महाभारत वनपर्व १८०/३२)

'हम नहीं जानते कि हम ब्राह्मण हैं या अब्राह्मण', सत्यप्रिय ऋषियोंके मनमें इस प्रकारका संशय हुआ॥३२॥

वृत्तगत वर्ण निरूपण ही श्रुति-स्मृति-पुराण-इतिहासादि द्वारा समर्थित है—

(१) श्रुति प्रमाण—

ब्रह्मक्षत्रियवैश्यशूद्रा इति चत्वारो वर्णास्तेषां वर्णानां ब्राह्मण एव प्रधान इति वेदवचनानुरूपं स्मृतिभिरप्युक्तम्। तत्र चोद्यमस्ति को वा ब्राह्मणो नाम। किं जीवः किं देहः किं जातिः किं ज्ञानं किं कर्म किं धार्मिक इति। तत्र प्रथमो जीवो ब्राह्मण इति। चेतन्न। अतीतानागतानेकदेहानां जीवस्येकरूपत्वात् एकस्यापि कर्मवशादनेकदेह-सम्भवात् सर्वशरीराणां जीवस्यैकरूपत्वाच्च। तस्मान्न जीवो ब्राह्मण इति। तर्हि देहो ब्राह्मण इति चेत्तन्न, आचण्डालादिपर्यन्तानां मनुष्याणां पाञ्चभौतिकत्वेन देहस्यैकरूपत्वा-ज्जरामरण-धर्माधर्मादि-साम्यदर्शनाद् ब्राह्मणः श्वेतवर्णः क्षत्रियो रक्तवर्णो

वैश्यः पीतवर्णः शूद्रः कृष्णवर्ण इति नियमाभावात्। पित्रादि-शरीर-दहने पुत्रादीनां ब्रह्महत्यादि-दोषसम्भवाच्च तस्मान्न देहो ब्राह्मण इति। तर्हि जाति ब्राह्मण इति चेत्तन्न। तत्र जात्यन्तरजन्तुषु अनेक जाति सम्भवा महर्षयो बहवः सन्ति। ऋष्यशृङ्गो मृग्यः। कौशिकः कुशात्। जाम्बुको जम्बुकात्। वाल्मीको वल्मीकात्। व्यासः कैवर्त्तकन्यायाम्। शशपृष्ठात् गौतमः। वशिष्ठः उर्वश्याम्। अगस्त्यः कलसे जात इति श्रुतत्वात्। एतेषां जात्या विनाप्यग्रे ज्ञानप्रतिपादिता ऋषयो बहवः सन्ति। तस्मान्न जातिः ब्राह्मण इति। तर्हि ज्ञानं ब्राह्मण इति चेत्तन्न। क्षत्रियादयोऽपि परमार्थदर्शिनोऽभिज्ञा बहवः सन्ति। तस्मान्न ज्ञानं ब्रह्मण इति। तर्हि कर्म ब्राह्मण इति चेत्तन्न। सर्वेषां प्राणिनां प्रारब्धसञ्चितागामिकर्म-साधर्म्यदर्शनात् कर्माभिप्रेरिताः सन्तः जनाः क्रियाः कुर्वन्तीति। तस्मान्न कर्म ब्राह्मण इति। तर्हि धार्मिको ब्राह्मण इति चेत्तन्न। क्षत्रियादयो हिरण्यदातारो बहवः सन्ति। तस्मान्न धार्मिको ब्राह्मण इति। तर्हि को वा ब्राह्मणो नाम। यः कश्चिदात्मानमद्वितीयं जाति-गुण-क्रियाहीनं षडूर्मिषड्भावेत्यादि-सर्वदोषरहितं सत्यज्ञानानन्दानन्तस्वरूपं स्वयं निर्विकल्पं अशेषकल्पाधारं अशेषभूतान्तर्यामित्वेन वर्त्तमानां अन्तर्बहिश्चाकाशवद- नुस्यूतमखण्डानन्दस्वभावमप्रमेयमनुभवैकवेद्यमपरोक्षतया भासमानं करतलामलकवत् साक्षादपरोक्षीकृत्य कृतार्थतया कामरागादि-दोषरहितः शम-दमादिसम्पन्नो भावमात्सर्यतृष्णाशामोहादिरहितो दम्भाहङ्कारादिभिरसंस्पृष्टचेता वर्त्तते। एवमुक्तलक्षणो यः एव ब्राह्मण इति श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासानामभिप्रायः। अन्यथा हि ब्राह्मणत्वसिद्धिर्नास्त्येव॥३३॥

(वज्रसूचिकोपनिषत्)

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चार वर्ण हैं। इन वर्णोंमें ब्राह्मण ही प्रधान हैं। यही वेद वचनानुरूप स्मृतियोंमें भी कहा गया है। यहाँ प्रश्न यह है कि ब्राह्मण कौन है? जीव, देह, जाति, ज्ञान, कर्म, धार्मिक—इनमें ब्राह्मण कौन है? इन प्रश्नोंमें प्रथमतः जीवको 'ब्राह्मण' कहना सत्य नहीं है। अतीत-अनागत (भावी) अनेक शरीरोंके विषयमें जीवकी एकरूपताके लिए एकरूपमें भी कर्मानुसार अनेक देहकी सम्भावना हेतु एवं सब देहोंके सम्बन्धमें जीवोंकी एकरूपता ही है, जीव ब्राह्मण नहीं है। तो क्या 'देह' ब्राह्मण है? यह भी नहीं है। चण्डाल तक मनुष्योंकी पाञ्चभौतिक देहकी एकरूपताके लिए जरा-मरण, धर्म-अधर्मकी समानता देखनेके लिए 'ब्राह्मण',—'श्वेतवर्ण' 'क्षत्रिय'—'रक्तवर्ण', 'वैश्य'—'पीतवर्ण', 'शूद्र'—'कृष्णवर्ण' हैं इस प्रकारका नियम न होने पर 'देह' ब्राह्मण नहीं है। शरीरको अग्नि देने पर पुत्रोंको ब्रह्महत्याका

पाप नहीं लगता। इसलिए 'देह' ब्राह्मण नहीं है। तो क्या 'जाति' ब्राह्मण है? ऐसा भी नहीं है। मृत पित्रादि अन्य जातीय प्राणियोंमें अनेक अद्भुत महर्षिगण पैदा हुए हैं। मृगीसे ऋष्यशृङ्ग, कुशसे कौशिक, जम्बुकसे जाम्बुक ऋषि, वल्मीकसे वाल्मीकि, मछुआरेकी कन्याके गर्भसे व्यास, शशपृष्ठसे गौतम, उर्वशीसे वशिष्ठ एवं कलसके गर्भसे अगस्त्य उत्पन्न हुए हैं—ऐसा सुना जाता है; इसके अतिरिक्त ज्ञान प्राप्त भिन्न जातियोंसे उत्पन्न बहुतसे ऋषि हैं, इसलिए जाति ही ब्राह्मण नहीं है। तो क्या ज्ञान ही ब्राह्मण है? ऐसा भी नहीं है। अनेक क्षत्रिय आदि भी अभिज्ञ परमार्थदर्शी हैं। इसलिए ज्ञान भी ब्राह्मण नहीं है। तो क्या 'कर्म' ही ब्राह्मण है? वह भी नहीं है। सभी प्राणियोंके प्रारब्ध सञ्चित कर्म होते हैं। कर्मके अनुसार ही वह कर्मोंके बीच रहता है। इसलिए कर्म भी ब्राह्मण नहीं है। तो क्या 'धार्मिक' ही ब्राह्मण है? ऐसा भी नहीं है। अनेक क्षत्रिय भी स्वर्ण दान करनेवाले हैं इसलिए 'धार्मिक' ब्राह्मण नहीं है। तो ब्राह्मण कौन है? जो आत्माको अद्वितीय, जातिगुण-क्रियाहीन, षड्भाव आदि सब दोषोंसे रहित, सत्य ज्ञान आनन्दानन्तस्वरूप, स्वयं निर्विकल्प अशेष कल्पाधार, अनन्त प्राणियोंमें अन्तर्यामीरूपसे वर्तमान, आकाशकी भाँति अन्तर-बाहरमें उपस्थित, अखण्ड आनन्द-स्वभाव सम्पन्न, अप्रमेय, अनुभवी वैद्य एवं अपरोक्ष प्रकाशमय जानते हुए हथेली पर आंवला उगनेकी भाँति साक्षात् अपरोक्षीकरणपूर्वक कृतार्थ होकर काम-रागादि-दोषशून्य, शम, दम आदि सम्पन्न, भाव-मात्सर्य-तृष्णाशा मोह आदि रहित एवं दम्भ अहङ्कार आदि द्वारा असम्पृष्ट चित्त हैं, जो ऐसे लक्षणोंसे युक्त हैं, वे ही ब्राह्मण हैं। यही श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदिका अर्थ है। अन्यथा ब्राह्मणत्व सिद्ध नहीं होता॥३३॥

(२) महाभारतका प्रमाण—

शूद्र चैतद्भवेल्लक्षणं द्विजे तच्च न विद्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो ब्राह्मणो न च॥३४॥

(महाभारत शाल्यपर्व १८९/८)

शूद्रमें यदि ब्राह्मणके लक्षण प्रतीत हों एवं ब्राह्मणमें शूद्रके लक्षण उपलब्ध हों तो शूद्र, शूद्र नहीं होता एवं ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं हो सकता॥३४॥

(३) भागवतका प्रमाण—

यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम्।
यदन्यत्रापि दृश्येत तत्तेनैव विनिर्दिशेत्॥३५॥

(श्रीमद्भागवत ७/११/३५)

मनुष्योंमें वर्णाभिव्यञ्जक जो समस्त लक्षण बताये गये हैं, वे यदि दूसरे वर्णवालों में भी मिलें तो उसे भी उसी वर्णका समझना चाहिए। (केवल जन्मके

द्वारा वर्ण निरूपित नहीं होगा)॥३५॥

(४) वृत्त-ब्राह्मणताके सम्बन्धमें प्राचीन टीकाकारोंका मत—

श्रीनीलकण्ठका मत—

एवञ्च सत्यादिकं यदि शूद्रेऽप्यस्ति तर्हि सोऽपि ब्राह्मण एव स्यात्* शूद्रलक्ष्मकामादिकं न ब्राह्मणेऽस्ति नापि ब्राह्मणलक्ष्मशमादिकं शूद्रेऽस्ति। शूद्रोऽपि शमाद्युपेतो ब्राह्मण एव, ब्राह्मणोऽपि कामाद्युपेतः शूद्र एव॥३६॥**

(महाभारत-वनपर्व १८०/२३-२६ श्लोककी नीलकण्ठ टीका)

इस प्रकारके सत्य आदि लक्षण यदि शूद्रमें रहते हैं, तो उनकी भी निश्चय ही ब्राह्मणोंमें गणना होगी। कामादि शूद्रोंके लक्षण ब्राह्मणोंमें नहीं रह सकते; और शमादि ब्राह्मण-लक्षण शूद्रोंमें नहीं रहते। शूद्र कुलमें उत्पन्न व्यक्ति यदि शमादि गुणोंद्वारा भूषित हैं तो वह निश्चय ही 'ब्राह्मण' है। और ब्राह्मण कुलमें उत्पन्न व्यक्ति यदि कामादि गुणोंसे युक्त हैं तो वह निश्चय ही 'शूद्र' है, इस विषयमें तनिक भी सन्देह नहीं है॥३६॥

(५) वृत्तब्राह्मणताके सम्बन्धमें श्रीधरगोस्वामीपादका अभिमत—

शमादिभिरेव-ब्राह्मणादि-व्यवहारो मुख्यः न जातिमात्रात्। यद् यदि अन्यत्र वर्णान्तरेऽपि दृश्येत, तद्ववर्णान्तरं तेनैव लक्षणनिमित्तेनैव वर्णेन विनिर्दिशेत्, न तु जाति निमित्तेनेत्यर्थः॥३७॥

(श्रीमद्भागवत ७/११/३५ भावार्थ दीपिका)

शम आदि गुणोंके द्वारा ब्राह्मणादि वर्ण स्थिर करना प्रधान कर्त्तव्य है। साधारणतः जातिके द्वारा जो ब्राह्मणत्व निरूपित होता है, केवल यही नियम नहीं है। इसका प्रतिपादन करनेके लिए 'यस्य यल्लक्षणम्' (भा.७/११/३५) श्लोकको उद्धृत करते हैं। यदि शौक्र ब्राह्मण (जन्मसे ब्राह्मण) के बिना अशौक्र-ब्राह्मणमें अर्थात् जिसकी ब्राह्मण-संज्ञा नहीं है, ऐसे व्यक्तिमें शमादि गुण दृष्टिगत हों तो उसको जातीय व्यक्ति न मानकर, लक्षण द्वारा उसका 'वर्ण' निरूपण करना चाहिए। अन्यथा विरुद्ध आचरण होगा॥३७॥

(६) महाप्रभु द्वारा 'ब्राह्मण' संज्ञा निर्देश—

सहजे निर्मल एइ 'ब्राह्मण'—हृदय।
कृष्णेर बसिते एइ योग्यस्थान हय॥

'मात्सर्य'-चण्डाल केने इहाँ बसाइला।
परम-पवित्र-स्थान 'अपवित्र' कैला॥३८॥

(चै. च. म. १५/२७४-२७५)

ब्राह्मणोंका हृदय स्वाभाविकरूपसे निर्मल होता है। वह कृष्णके बैठनेका योग्य स्थान होता है, किन्तु तुमने इस हृदयमें मात्सर्यरूपी चाण्डालको क्यों बिठा दिया? इसके द्वारा तुमने एक पवित्र स्थानको अपवित्र कर दिया॥३८॥

(७) स्मृति-प्रमाण—

एतन्मे संशयं देव वद भूतपतेऽनघ।
त्रयो वर्णाः प्रकृतेह्य कथं ब्राह्मण्यमाप्नुयुः॥
स्थितो ब्राह्मण-धर्मेण ब्राह्मणामुपजीवति।
क्षत्रियो वाऽथ वैश्यो वा ब्रह्मभूयः स गच्छति॥३९॥

(महाभारत अनुः शाल्यपर्व १४३/५, ८)

उमा कहती हैं,—हे देव, भूतपते, अनघ! तीन वर्ण अर्थात् क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र किस प्रकार अपने भावोंके द्वारा ब्राह्मणता प्राप्त करते हैं? इसके उत्तरमें श्रीमहादेवजी कहने लगे—यदि क्षत्रिय अथवा वैश्य ब्राह्मणाचारमें अवस्थित होकर ब्रह्मवृत्तिके द्वारा दिन व्यतीत करते हैं, तो ऐसे आचरणकारी-व्यक्ति ब्राह्मणता प्राप्त कर सकते हैं॥३९॥

स्मृतियोंमें स्पष्टरूपसे वृत्त विचार—

महाभारतमें—

साम्प्रतञ्च मतोमेऽसि ब्राह्मणो नात्र संशयः।
ब्राह्मणः पतनीयेषु वर्त्तमानो विकर्मसु॥४०॥
दाम्भिको दुष्कृतः प्राज्ञः शूद्रेण सदृशो भवेत्।
यस्तु शूद्रो दमे सत्ये धर्मे च सततोत्थितः।
तं ब्राह्मणमहं मन्ये वृत्तेन हि भवेद्द्विजः॥४१॥

(महाभारत वनपर्व २१५/१३-१५)

ब्राह्मणने धर्म व्याधसे कहा—मेरी दृष्टिमें अब तुम ठीक ब्राह्मण हो, इसमें सन्देह नहीं है। चूँकि जो ब्राह्मण दाम्भिक और अनेक बुरे कर्मोंमें लिप्त रहता है, वह शूद्रके समान है। जो शूद्र इन्द्रिय निग्रह, सत्य और धर्मके विषयमें निरन्तर ऊँचा उठा हुआ है, उसको ही मैं 'ब्राह्मण' कहकर उसकी विवेचना करता हूँ, चूँकि 'सच्चरित्रता' ही एकमात्र ब्राह्मण होनेका कारण है॥४०-४१॥

हिंसानृत-प्रिया लुब्धाः सर्वकर्मोपजीविनः।
कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः॥४२॥
सर्वभक्ष्यरतिर्नित्यं सर्वकर्म - करोऽशुचिः।
त्यक्तवेदस्त्वनाचारः स वै शूद्र इति स्मृतः॥४३॥

(महाभारत-शाल्यपर्व मो. ध. १८८/१३, १८९/७)

हिंसा, मिथ्या भाषण, लोभ और समस्त कर्मोंके द्वारा जीविका निर्वाह, असत् कार्य द्वारा अपवित्र होकर द्विजगण शूद्रवर्णताको प्राप्त होते हैं। जो व्यक्ति सभी द्रव्योंके भोजनमें आसक्त, सब प्रकारके कर्मोंको करनेवाला, अशुचि, वेदधर्मका त्यागी और अनाचारी है, वही शूद्र कहा जाता है॥४२-४३॥

वृत्त विचारसे स्मृति-शास्त्रकी अनुज्ञा—

यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः।
यत्रैतन्न भवेत् सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत्॥४४॥

(महाभारत वनपर्व १८०/२६)

हे सर्प! जिनका ब्राह्मण स्वभाव दिखाई दे, वे ही 'ब्राह्मण' कहे जाते हैं। ब्राह्मण-स्वभाव न रहने पर वे 'शूद्र' हैं॥४४॥

श्रुतियोंमें वृत्तब्राह्मणताका उदाहरण—

(१) सत्यकाम जावाल और गौतम—

तां होवाच किं गोत्रो नु सौम्यसीति। स होवाच। नाहमेतद्वेद भो यद्गोत्रोऽहं अस्मि। अपृच्छं मातरम्। सा मा प्रत्यब्रवीद्बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे। साहं एतत् न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि। जावाला तु नामा अहमस्मि। सत्यकामो नाम त्वमसीति। सोऽहं सत्यकामो जावालोऽस्मि भो इति। तं होवाच—एतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधं सौम्य आहर। उप त्वा नेष्ये सत्याद्गा इति॥४५॥ (छान्दोग्य ४/४/४)

गौतमने उससे कहा,—"हे सौम्य (ब्राह्मण)! तुम किस गोत्रके हो?" उन्होंने कहा—"मैं नहीं जानता, कि मेरा गोत्र क्या है? मातासे पूछनेपर उन्होंने मुझसे कहा—मैंने अपने यौवनकालमें सेविकाके रूपमें बहुतसे लोगोंकी सेवा करते-करते तुमको पुत्र रूपमें प्राप्त किया है। तुम किस गोत्रके हो, यह मैं नहीं जानती। मेरा नाम जावाल है तथा तुम्हारा नाम सत्यकाम है। वह मैं ही सत्यकाम जावाल हूँ।" गौतम उससे कहने लगे,—"वत्स! तुम जो सत्य बोले हो, यह अब्राह्मण नहीं बोल सकता। इसलिए मैंने तुमको ग्रहण किया है कि तुम ब्राह्मण हो।

हे सौम्य (द्विज)! यज्ञके लिए लकड़ी ले आओ, मैं तुम्हारा उपनयन संस्कार करूँगा, तुम सत्यसे मत डिगना॥४५॥

वैदिक युगका वृत्त अथवा दैक्ष्य-ब्राह्मणताका उदाहरण
श्रुति और वैदिक आचार्यों द्वारा समर्थित है—

आर्ज्जवं ब्राह्मणे साक्षात् शूद्रोऽनार्ज्जवलक्षणः।
गौतमस्त्विवति विज्ञाय सत्यकाममुपानयत्॥४६॥

(छान्दोग्य माध्वभाष्यधृत साम-संहितावाक्य)

ब्राह्मणमें साक्षात् सरलता एवं शूद्रमें कुटिलता विद्यमान होती है। हारिद्रुमत★ गौतमने गुणोंपर ऐसा मत प्रकट करते हुए सत्यकामको उपनयन अथवा सावित्र्य संस्कार प्रदान किया॥४६॥

वेदान्तसूत्रका प्रमाण—(२) चित्ररथका उदाहरण—

"शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात् सूच्यते हि"॥ (ब्रह्मसूत्र १/३/३४); नासौ पौत्रायणः शूद्रः शुचाद्द्रवणमेव हि शूद्रत्वम्। (पूर्ण-प्रज्ञदर्शने माध्व-भाष्य) राजा पौत्रायणः शोकाच्छूद्रेति मुनिनोदितः। प्राणविद्यामवाप्यास्मात् परं धर्ममवाप्तवान्॥४७॥

(पद्मपुराण)

शोकद्वारा जो द्रवीभूत हैं, वे ही शूद्र हैं। पद्मपुराणमें लिखा हुआ है कि, राजा पौत्रायण क्षत्रिय होने पर भी शोकसे ग्रसित होने पर रैक्व मुनि द्वारा शूद्र कहे गये हैं। इन्हीं रैक्व मुनिसे प्राणविद्या पाकर परमधर्मको प्राप्त हुए हैं॥४७॥

"क्षत्रियत्वावगतेश्च उत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात्" (ब्रह्मसूत्र१/३/३५)

भाष्ये—

"अयं अश्वतरीरथ इति चित्ररथ-सम्बन्धित्वेन लिङ्गेन पौत्रायणस्य क्षत्रियत्वावगतेश्च। रथस्त्वश्वतरीयुक्तश्चित्र इत्यभिधीयते। इति ब्राह्मे। यत्र वेदो रथस्तत्र न वेदो यत्र नो रथ इति च ब्रह्मवैवर्त्ते॥"४८॥

'यह जो द्रुतगामी अश्वोंसे युक्त रथ है,—इस चित्ररथ सम्बन्धी चिह्नके द्वारा ही पौत्रायणोंको क्षत्रियत्त्वकी उपलब्धि हुई थी, ऐसा ब्रह्मपुराणमें लिखा हुआ है। रथमें अश्वतरीके संयोगसे चित्र बना हुआ है। ब्रह्मवैवर्त्त पुराणके मतानुसार जहाँ वेद है, वहीं रथ है तथा जहाँ वेद नहीं है, रथ भी वहाँ पर नहीं है। चैत्ररथ चिह्न दर्शनसे उत्तरत्रको क्षत्रियत्वकी उपलब्धि हुई। (इन सब वैदिक कथाओंके द्वारा ज्ञात होता है कि लक्षण दर्शनसे वर्णज्ञानकी अभिव्यक्ति होती है)॥४८॥

★ जावाल सत्यकामके गुरुका नाम हारिद्रुमत गौतम है।

(३) स्मृतिओंमें वृत्त ब्राह्मणताका उदाहरण—

नाभागादिष्टपुत्रौ द्वौ वैश्यौ ब्राह्मणतां गतौ ॥४९ ॥

(हरिवंशे ११ अ.)

नाभाग★ एवं दिष्ट पुत्र, इन दोनों वैश्योंने ब्राह्मणता प्राप्त की थी॥४९॥

असंख्य उदाहरणोंमेंसे कुछेक—

एवं विप्रत्वमगमद्वीतहव्यो नराधिपः।
भृगोः प्रसादाद् राजेन्द्र क्षत्रियः क्षत्रियर्षभ॥५०॥
तस्य गृत्समदः पुत्रो रूपेणेन्द्र इवापरः।
स ब्रह्मचारी विप्रर्षिः श्रीमान् गृत्समदोऽभवत्॥५१॥
पुत्रो गृत्समदस्यापि सुचेता अभवद्द्विजः।
वर्चाः सुचेतसः (सुतेजसः) पुत्रो विहव्यस्तस्य चात्मजः॥५२॥
विहव्यस्य तु पुत्रस्तु विततस्य चात्मजः।
वितत्यस्य सुतः सत्यः सन्तः सत्यस्तम्य चात्मजः॥५३॥
श्रवास्तस्य मुतश्चर्षिः श्रवसश्चाभवत्तमः।
तमसश्च प्रकाशोऽभूत्तनयो द्विजसत्तमः॥५४॥
प्रकाशस्य च वागिन्द्रो बभूव जयतां वरः।
तस्यात्मजश्च प्रमितिर्वेद-वेदाङ्गपारगः॥५५
घृताच्या तस्य पुत्रस्तु रुरुर्नामोदपद्यत।
प्रमद्वरायान्तु रुरोः पुत्रः समुदपद्यत।
शुनको नाम विप्रर्षिर्यस्य पुत्रोऽथ शौनकः॥५६॥

(महाभारत-अनु. शल्य पर्व ३०/६६, ५८, ६०-६५)

राजा वीतहव्यने इस प्रकार ब्राह्मणता प्राप्त की। हे क्षत्रियर्षभ राजेन्द्र! वीतहव्य क्षत्रिय होकर भी भृगुकी कृपासे विप्र हुए। उनके पुत्र गृत्समद-रूपमें इन्द्रके समान थे। वे ब्रह्मचारी और विप्रर्षि हुये। गृत्समदके पुत्र सुचेता विप्र हुए थे। सुचेताके पुत्र वर्च्चाः, उनके पुत्र विहव्य, उनके पुत्र वितत्य, उनके पुत्र सत्य, उनके पुत्र सन्त, उनके पुत्र ऋषिश्रवा, उनके पुत्र तम, उनके पुत्र द्विज सात थे, तत्सूनु वागिन्द्र, उनके पुत्र वेदाङ्गपारग प्रमिति थे। घृताचीके गर्भसे प्रमितिके पुत्र रुरुने जन्म लिया। प्रमद्वराके गर्भसे रुरु शुनक नामक विप्रर्षि पुत्र हुये और उसके ही पुत्र शौनक थे॥५०-५६॥

★अम्बरीषके पिता, दशरथके पितामह, इक्ष्वाकु वंशीय राजा।

(४) भागवत अथवा निर्मल वैष्णव पुराणोंमें वृत्त ब्राह्मणताका उदाहरण—

यवीयसामेकाशीतिर्जायन्ते याः पितुरादेशकरा महाशासीना महाश्रोत्रिया यज्ञशीलाः कर्मविशुद्धा ब्राह्मणा बभूवुः॥५७॥

(श्रीमद्भागवत ५/४/१३)

पूर्वोक्त उन्तीस पुत्रोंमें कनिष्ठ ऋषभकी विवाहिता पत्नी जयन्तीके गर्भसे ८१ पुत्र पिताकी आज्ञा पालन करनेवाले, अति विनीत, महान वेदज्ञ और निरन्तर यज्ञ करनेवाले थे। वे पुण्य कर्मोंका अनुष्ठान करनेसे शुद्ध होकर ब्राह्मण हो गये॥५७॥

पूरोर्वंशं प्रवक्ष्यामि यत्र जातोऽसि भारत।
यत्र राजर्षयो वंश्या ब्रह्मवंशाश्च जज्ञिरे॥५८॥

(श्रीमद्भागवत ९/२०/१)

हे भारत! पुरुवंशका वर्णन कर रहा हूँ। इस वंशमें आपने तथा अनेक राजर्षि और ब्रह्मर्षियोंने जन्मग्रहण किया है।

काश्यः कुशो गृत्समद इति गृत्समदादभूत्।
शुनकः शौनको यस्य वह्वृचप्रवरो मुनिः॥५९॥

(श्रीमद्भागवत ९/१७/३)

(चन्द्रवंशीय पुरुरवाका एक पुत्र था 'आयु'। उसके पांच पुत्रोंमें एक पुत्र क्षत्रवृद्ध था। क्षत्रवृद्धके पुत्र थे सुहोत्र) सुहोत्रके तीन पुत्र हुए—काश्य, कुश और गृत्समद। गृत्समदका पुत्र हुआ शुनक। इसी शुनकके पुत्र ऋग्वेदियोंमें श्रेष्ठ मुनिवर शौनकजी हुये॥५८॥

पद्मपुराणमें ब्रह्माका वाक्य—

ब्रह्मोवाच—

सच्छ्रोत्रियकुले जातो अक्रियो नैव पूजितः।
असत्क्षेत्रकुले पूज्यो व्यासवैभान्तकौ यथा॥६०॥
क्षत्रियाणां कुले जातो विश्वामित्रोऽस्ति मत्समः।
वेश्यापुत्रो वशिष्ठश्च अन्ये सिद्धा द्विजातयः॥६१॥

★ ★ ★

यस्य तस्य कुले जातो गुणवानेव तैर्गुणैः।
साक्षाद्ब्रह्ममयो विप्र पूजनीयः प्रयत्नतः॥६२॥

(पद्मपुराणमें सृष्टिखण्डका ४३ अध्याय)

श्रीब्रह्माजी कहते हैं,—सत् श्रोत्रिय कुलमें उत्पन्न सदाचार रहित व्यक्ति कभी भी पूज्य नहीं होता। असत् क्षेत्र और कुलमें आविर्भूत व्यास और वैभान्तक

मुनि पूजनीय हैं; क्षत्रिय कुलमें उत्पन्न विश्वामित्र भी मेरे समान हैं। वेश्याके यहाँ उत्पन्न वशिष्ठ एवं ब्राह्मण गुणोंसे युक्त अन्य व्यक्ति भी ब्राह्मण कहे जाते हैं। वह किसी भी कुलमें जन्म ग्रहण क्यों न करें, गुणवान् अपने गुणों द्वारा ही साक्षात् ब्रह्ममय ब्राह्मण हैं, उनकी विशेष यत्नपूर्वक पूजा करना कर्त्तव्य है॥६०-६२॥

विवाद-तर्कमें शौक्र विचारकी शुद्धताका अभाव,
पाञ्चरात्रिक-दीक्षा ही शुद्ध है—

अशुद्धाः शूद्रकल्पा हि ब्राह्मणाः कलिसम्भवाः।
तेषामागममार्गेण शुद्धिर्न श्रौतवर्त्मना॥६३॥

(ह. भ. वि. ५ विलास, ३ संख्याधृत विष्णुयामल वाक्य)

कलियुग अर्थात् विवाद और तर्कमें शौक्र ब्राह्मणोंकी शुद्धता नहीं है, वे शूद्रोंके समान ही हैं। उनकी वैदिक कर्मानुष्ठान विधिमें निर्मलता नहीं है। पाञ्चरात्रिक विधानमें ही उनकी शुद्धि है॥६३॥

'दीक्षा' किसे कहते हैं?

दिव्यं ज्ञानं यतो दद्यात् कुर्यात् पापस्य संक्षयम्।
तस्माद्दीक्षेति सा प्रोक्ता देशिकैस्तत्वकोविदैः॥६४॥

(ह. भ. वि. २ विलास, ७ संख्याधृत विष्णुयामल वाक्य)

क्योंकि यह दिव्यज्ञान (सम्बन्धज्ञान) प्रदान करता है एवं पापका (पाप, पापबीज और अविद्या) जड़ सहित विनाश करता है, इसलिए भगवत्तत्त्वविद् पण्डितगण इस अनुष्ठानको 'दीक्षा'के नामसे पुकारते हैं॥६४॥

पाञ्चरात्रिकी दीक्षामें नरमात्रका ही पारमार्थिक ब्राह्मणत्व—

यथा काञ्चनतां याति कांस्यं रसविधानतः।
तथा दीक्षा-विधानेन द्विजत्वं जायते नृणाम्॥

(ह. भ. वि. २ विलास, ७ संख्या तत्त्वसागर वचन)

जिस प्रकार किसी विशेष रासायनिक प्रक्रियाके द्वारा कांसा स्वर्ण बन जाता है, उसी प्रकार (वैष्णवी) दीक्षा विधानके द्वारा नरमात्रमें ही विप्रता प्रमाणित होती है।

टीका— नृणां सर्वेषामेव द्विजत्वं 'विप्रता'॥६५॥

(श्रीसनातन-गोस्वामीकृत दिग्दर्शिनी)

टीकाका अर्थ—'नृणां' पदमें सभी दीक्षित हैं, 'द्विजत्वं'—पदमें विप्रता अर्थात् ब्राह्मणता (क्षत्रिय-वैश्यादि स्वभावमें द्विजत्व नहीं है) है॥६५॥

आचार्य विनीत शिष्योंको संस्कार प्रदानकर मन्त्रका अर्थ बतावें—

स्वयं ब्रह्मणि निक्षिप्तान् जातानेव हि मन्त्रतः।
विनीतानथ पुत्रादीन् संस्कृत्य प्रतिबोधयेत्॥६६॥

(नारद पञ्चरात्र—भारद्वाज संहिता २/३४)

आचार्य गुरु स्वयं पाञ्चरात्रिक मन्त्र प्रदान करते हैं। उस मन्त्रके प्रभावसे शिष्यका पुनर्जन्म होता है। विनीत शिष्योंको वैदिक दश संस्कारोंसे संस्कृतकर आचार्य अपने शिष्योंको ब्रह्मचारी बनाकर उनको मन्त्रके अर्थकी शिक्षा देवें। यही दीक्षा-विधि है॥६६॥

महाभारत प्रमाण—

एतैः कर्मफलैर्देवि न्यूनजातिकुलोद्भवः।
शूद्रोऽप्यागमसम्पन्नो द्विजो भवति संस्कृतः॥६७॥

(महाभारत अनु. शा. पर्व १४३/४६)

हे देवि! निम्न कुलमें उत्पन्न शूद्र भी इन सब कर्मफलोंके द्वारा आगम सम्पन्न अर्थात् पाञ्चरात्रिक विधानके अनुसार दीक्षित होकर द्विजत्व संस्कार प्राप्त करते हैं॥६७॥

न योनिर्नापि संस्कारो न श्रुतं न च सन्ततिः।
कारणानि द्विजत्वस्य वृत्तमेव तु कारणम्॥६८॥
सर्वोऽयं ब्राह्मणो लोके वृत्तेन तु विधीयते।
वृत्ते स्थितस्तु शूद्रोऽपि ब्राह्मणत्वं नियच्छति॥६९॥

(महाभारत अनु. शा. पर्व १४३/५०-५१)

जन्म, संस्कार, वेदाध्ययन अथवा सन्तति—इनमें से कोई भी द्विजत्वका कारण नहीं माना गया है। वृत्त ही एकमात्र कारण है। वृत्तमें अर्थात् वर्णाभिव्यञ्जक स्वभाववाला होने पर शूद्र भी ब्राह्मणत्वको प्राप्त कर लेता है॥६८-६९॥

आचार्य गोस्वामियोंका सिद्धान्त—

ब्राह्मणकुमाराणां शौक्रे जन्मनि दुर्जातित्वाभावेऽपि सवनयोग्यत्वाय पुण्यविशेषमय-सावित्र-जन्मसापेक्षत्वात्। ततश्च अदीक्षितस्य श्वादस्य सवन-योग्यत्वप्रतिकूलदुर्जात्यारम्भकं प्रारब्धमपि गतमेव, किन्तु शिष्टाचाराभावात् अदीक्षितस्य श्वादस्य दीक्षां विना सावित्र्यं जन्म नास्तीति ब्राह्मणकुमाराणां सवनयोग्यत्वाभावावच्छेदकपुण्यविशेषमय-सावित्रजन्मापेक्षावदस्य अदीक्षितस्य श्वादस्य सावित्र्य-जन्मान्तरापेक्षा वर्त्तत इति भावः॥७०॥

(दुर्गमसङ्गमनी—पूर्व-विलास १/१३)

ब्राह्मण कुमारोंका शौक्र जन्ममें निम्न जातित्वका अभाव होनेपर भी जिस प्रकार अग्नि यज्ञमें योग्यता प्राप्त करनेके लिए पुण्यविशेषमय ब्राह्मण-जन्मकी अपेक्षा करते हैं, अर्थात् शौक्र ब्राह्मण कुलमें जन्म होने पर भी उपनयन न

होने तक द्विजको जिस प्रकार अग्नि यज्ञमें अधिकार नहीं होता, उसी प्रकार चाण्डाल कुलमें उत्पन्न अदीक्षित व्यक्तिकी (नाम लेने मात्रसे) अग्नि यज्ञमें योग्यता प्राप्तिके प्रतिकूल निम्न जाति आदिका मूल प्रारब्ध पाप दूर होने पर भी दीक्षाके बिना उसको ब्राह्मण जन्म प्राप्त नहीं होता, इसलिए अदीक्षित व्यक्तिका ब्राह्मण संस्कार ग्रहण करना शिष्टाचारके विरुद्ध है। ब्राह्मण कुलमें उत्पन्न व्यक्तिको जिस प्रकार यज्ञकी योग्यताके लिए विशेष पुण्यमय ब्राह्मण जन्मकी अपेक्षा रहती है उसी प्रकार चाण्डाल कुलमें उत्पन्न अदीक्षित व्यक्तिका (नाम लेने मात्रसे) ब्राह्मणत्व अथवा यज्ञकी योग्यता पा लेने पर भी सावित्र्य-जन्मकी अपेक्षा है अतः सभीके लिए सावित्री दीक्षा अति आवश्यक है॥७०॥

तदेवं दीक्षातः परस्तादेव तस्य ध्रुवस्येव द्विजत्व-संस्कारस्तदावा-धितत्वत्तत्तन्मन्त्राधिदेवाज्जातः॥७१॥

(ब्रह्म संहिता ५/२७ श्रीजीवकृत भाष्य)

इसके बाद ध्रुवकी भाँति दीक्षाके बाद ही ब्रह्माका द्विजत्व-संस्कार अखण्डित होकर उन-उन दीक्षा मन्त्रोंके अधिदेवतासे वे (ये संस्कार) उत्पन्न हुये॥७१॥

जन्मके तीन प्रकार हैं—शौक्र, सावित्र और दैक्ष—

मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने।
तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुति-चोदनात्॥७२॥

(मनु २/२६०)

श्रुतियोंमें कहा गया है कि द्विजका माताकी कोखसे प्रथम जन्म ही शौक्र जन्म है, बादमें उपनयन होने पर द्वितीय जन्म होता है, इसके पश्चात् यज्ञ दीक्षा पाने पर उसका तृतीय जन्म होता है। (इसलिए जन्मके तीन प्रकार हैं—'शौक्र', 'सावित्र' और 'दैक्ष')॥७२॥

तीन प्रकारके जन्म-सम्बन्धमें स्वामिपाद—

त्रिवृत् शौक्रं सावित्रं दैक्षमिति त्रिगुणितं जन्म॥७३॥

(भावार्थदीपिका १०/२३/३९)

'त्रिवृत्' शब्दसे शौक्र, सावित्र और दैक्ष ये तीन जन्म ही समझे जाते हैं।

अड़तालीस संस्कारों★ से युक्त व्यक्तिही 'ब्राह्मण' है—

"यस्यैतेऽष्टचत्वारिंशत्संस्काराः स ब्राह्मणः"॥७४॥

(महाभारत शा. पर्व १८९/२ श्लोकमें नीलकण्ठ टीकाधृत स्मृतिवाक्य)

इन अड़तालीस संस्कारोंसे युक्त व्यक्ति ही ब्राह्मण है॥७४॥

★कर्मकाण्डियोंके मतानुसार ४८ संस्कार इस प्रकार हैं—

(१) गर्भाधान, (२) पुंसवन (जिसे पुत्र हो), (३) सीमन्तोन्नयन, (४) जातकर्म,

एकायनशाखी (समान विचारोंवाले) और बह्वयनशाखी—

यद्यप्युक्तं गर्भाधानादिदाहान्तसंस्कारान्तर-सेवनाद्भागवतानाम-ब्राह्मण्यमिति, तत्राप्यज्ञानमेवापराध्यति, न पुनरायुष्मतो दोषः; यदेते संशयपरम्परया वाजसनेयशाखामधीयानाः कात्यायनादिगृह्योक्तमार्गेण गर्भाधानाादि संस्कारान् कुर्वते, ये पुनः सावित्र्यनुवचन-प्रभृति-त्रयी-धर्मत्यागेन एकायनश्रुतिविहितानेव चत्वारिंशत् संस्कारान् कुर्वते तेऽपि स्वशाखागृह्योक्तमर्थं यथावदनुतिष्ठमानाः न शाखान्तरीयकर्माननुष्ठानाद्ब्राह्मण्यात् प्रच्यवन्ते, अन्येषामपि परशाखा-विहित-कर्मानुष्ठान-निमित्ताब्राह्मण्य-प्रसङ्गात्॥७५॥

(श्रीयामुनाचार्यकृत आगमप्रामाण्यम्)

---

(५) नामकरण, (६) निष्क्रमण, (७) अन्नप्राशन, (८) कर्णवेध, (९) चौड़कर्म, (१०) उपनयन, (११) समावर्त्तन, (१२) विवाह, (१३) अन्त्येष्टि, (१४) देवयज्ञ, (१५) पितृयज्ञ, (१६) भूतयज्ञ, (१७) नरयज्ञ, (१८) अतिथियज्ञ, (१९) वेदव्रत चतुष्टय, (२०) अष्टकाश्राद्ध, (२१) पार्वण श्राद्ध, (२२) श्रावणी, (२३) आग्रायणी, (२४) प्रोष्ठपदी, (२५) चैत्री, (२६) आश्वयुजी, (२७) अग्न्याधान, (२८) अग्निहोत्र, (२९) दर्श पौर्णमासी, (३०) आग्रयनष्टि, (३१) चातुर्मास्य, (३२) निरूढ़ पशुबन्ध, (३३) सौत्रामणि, (३४) अग्निष्टोम, (३५) अत्यग्निष्टोम, (३६) उक्‌थ, (३७) षोडशी, (३८) वाजपेय, (३९) अतिरात्र, (४०) आप्तोर्याम, (४१) राजसूयादि, (४२) सर्वभूतदया, (४३) लोकद्वय चातुर्थ, (४४) क्षान्ति, (४५) अनसूया, (४६) शौच, (४७) अन्ययास-मङ्गलाचार, (४८) अकार्पण्य-अस्पृहा॥७४॥

भागवतीय लोगोंका मत—

श्रीमहाभारतमें ४८ संस्कारोंका वर्णन उल्लिखित है, उनमें ताप, पुण्ड्र और नाम—ये तीन कनिष्ठ अधिकारीके संस्कार हैं। मध्यमाधिकारीमें मन्त्र और योग अथवा याग इन दोनोंको लेकर तापादि पञ्चसंस्कार हैं। उत्तमाधिकारमें नवेज्या कर्म, पच्चीस संस्कारात्मक अर्थ पञ्चक तत्त्वज्ञान एवं विप्रत्व-साधकमें नौ संस्कार विद्यमान हैं। मन्त्रोपदेशमें जो दीक्षा विधान है उसमें द्विज-संस्कारोंमें गर्भाधानादि दश संस्कारोंको ग्रहण करनेकी व्यवस्था निहित है। महाभागवत-अधिकारमें नौ संस्कारोंको प्रदान करनेकी योग्यता लाभरूप संस्कार कुल ४८ हैं। श्रीयामुनाचार्य और अप्पय दीक्षित आदि जिन २४ संस्कारोंकी बात कहते हैं उसमें विप्रत्वके एक संस्कारकी गणना करनेपर चालीस संस्कार सिद्ध होते हैं।

"गर्भाधानसे आरम्भ करके दाह तक जितने भी संस्कार हैं उनका त्याग करके संस्कारोंके अतिरिक्त सेवा करने पर भागवतगण ब्राह्मणतासे भ्रष्ट हो जाते हैं।" इस प्रकारकी उक्तिसे वक्ताका अज्ञान ही दर्शित होता है, किन्तु आयुष्मान् वक्ताका कोई दोष नहीं है, क्योंकि वे वंशपरम्परामें वाजसनेय-शाखाका अध्ययन करके कात्यायनादि द्वारा स्वीकारोक्त मार्गके अनुसार गर्भाधानादि संस्कार करते हैं और जो सावित्र्यनुवचन आदि (यज्ञोपवीत धारण निर्णायक श्रुति) वेदधर्मका त्याग कर 'एकायन श्रुति' विहित २४ संस्कारोंका अनुष्ठान करते हैं, वे भी स्वशाखा गृह्योक्त विषयका यथा नियमानुसार सहारा लेकर शाखासे अलग हटकर कर्मोंके अनुष्ठानके लिए ब्राह्मणत्वसे कभी भी च्युत नहीं होते। कारण, ऐसा होने पर अन्य शाखाओंका भी दूसरी शाखाओंके अनुसार कर्मानुष्ठान न कराकर अब्राह्मण्य-प्रसङ्ग हो सकता है॥७५॥

भागवतगण 'शूद्र' नहीं हैं—

न शूद्रा भगवद्भक्तास्ते तु भागवता मताः।
सर्ववर्णेषु ते शूद्रा ये न भक्ता जनार्दने॥७६॥

(ह. भ. वि. १० म. वि. धृत पाद्मवाक्य)

भगवद्भक्तिपरायण व्यक्ति कभी भी शूद्र नहीं कहलाते, उनको 'भागवत' ही कहा जाता है। जनार्दनके प्रति भक्ति न होने पर कोई सी भी जाति क्यों न हो, उनकी 'शूद्र' कहकर ही गणना होती है॥७६॥

एकायनशाखी परमहंस बिना वर्णाश्रममें हरिभजनकारीका यज्ञोपवीत धारण करना कर्त्तव्य है—

वहिः सूत्रं त्यजेद्विद्वान् योगमुत्तममाश्रितः।
ब्रह्मभावमयं सूत्रं धारयेद् यः स चेतनः॥७७॥

(ब्रह्मोपनिषद् २८ श्लोक)

विद्वान् अर्थात् ब्रह्मज्ञ व्यक्ति भक्तियोगमें समान भावसे अवस्थित होने पर अर्थात् जीवन्मुक्त परमहंसावस्था प्राप्तकर बाह्य सूत्रका त्याग कर सकता है। (त्याग न करके सूत्र धारणकर 'त्यक्त सूत्र'—विचारवान् व्यक्ति रख सकते हैं)। जो अप्राकृत भावमय अन्तःसूत्र धारण करते हैं उन्होंने ही यथार्थमें चैतन्यको प्राप्त किया है॥७७॥

ब्राह्मण ब्रुवों (अपने आपको ब्राह्मण कहलानेवाला) को ब्रह्मसूत्रका गर्व करना अशोभनीय है—

ब्रह्मतत्त्वं न जानाति ब्रह्मसूत्रेण गर्वितः।
तेनैव स च पापेन विप्रः पशुरुदाहृतः॥७८॥

(अत्रिसंहिता ३७२ श्लोक)

जो व्यक्ति ब्राह्मण कुलमें उत्पन्न होकर वेद अथवा भगवत्तत्वके विषयमें अनभिज्ञ रहकर केवल मात्र यज्ञोपवीतके बलपर अत्यन्त गर्व (अहङ्कार) करता है, उस पापसे वह ब्राह्मण 'पशु' कहा जाता है॥७८॥

'अनुकरण' अथवा ढोंग ब्राह्मणता नहीं है, जो ब्रह्मज्ञोंका अनुसरण करते हैं, वे ही ब्राह्मण हैं—

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति॥७९॥

(मनु २/१५७)

लकड़ीसे बना हाथी एवं चमड़ेसे बना मृग जैसा होता है, वेदहीन ब्राह्मण भी वैसा ही है। ये तीनों ही केवल नाम धारण करते हैं॥७९॥

वेदपाठ-वर्जनकारी विप्रको जीवितावस्थामें ही वंशसहित शूद्रत्वकी प्राप्ति होती है, वेदपाठहीनके पुत्र पौत्रादिका उपनयन निषिद्ध है—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
सजीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥८०॥

(मनु २/१६८)

जो ब्राह्मण वेदाध्ययन न करके अर्थात ब्रह्मज्ञ होनेका प्रयास न कर अन्य विषयोंमें (लाभ, पूजा, प्रतिष्ठादि भगवद् भिन्न विषयोंमें) परिश्रम करते हैं, वे अपनी जीवितावस्थामें ही सवंश शूद्रत्वको प्राप्त होते हैं॥८०॥

'ब्राह्मणब्रुव' किसको कहते हैं?—

विप्रः संस्कारयुक्तो न नित्यं सन्ध्यादिकर्म यः।
नैमित्तिकन्तु नो कुर्यात् ब्राह्मणब्रुव उच्यते॥८१॥
युक्तः स्यात् सर्वसंस्कारैर्द्विजस्तु नियमव्रतैः।
कर्म किञ्चित् न कुरुते वेदोक्तं ब्राह्मणब्रुव॥८२॥
गर्भाधानादिभिर्युक्तस्तथोपनयनेन च।
न कर्मकृत् न चाधीते स ज्ञेयो ब्राह्मणब्रुवः॥८३॥
अध्यापयति नो शिष्यान्नाधीते वेदमुत्तमम्।
गर्भाधानादि-संस्कारैर्युतः स्याद्ब्राह्मणब्रुवः॥८४॥

(पद्मपुराण)

जो ब्राह्मण दस प्रकारके संस्कारोंसे पवित्र होकर सन्ध्या-वन्दनादि नित्य अथवा श्राद्धादि नैमित्तिक कर्मोंका अनुष्ठान नहीं करते, वे ब्राह्मणब्रुव कहलाते हैं। जो

द्विज नियम, व्रत और सब प्रकारके संस्कारोंसे सम्पन्न होकर वेदोक्त कोई कर्म नहीं करते, वे ब्राह्मणब्रुव हैं। गर्भाधानादि संस्कारयुक्त और उपनीत व्यक्ति यदि कर्मानुष्ठानमें तत्पर नहीं होता एवं वेदाध्ययन नहीं करता है, तो उसको ब्राह्मणब्रुव समझें। जो सर्वश्रेष्ठ वेदशास्त्रका स्वयं अध्ययन नहीं करते अथवा शिष्योंको अध्ययन नहीं कराते, वे यदि गर्भाधानादि दस संस्कारोंसे युक्त हैं, तब भी वे ब्राह्मणब्रुव हैं॥८१-८४॥

कुल्लूकभट्टटीका—यो ब्राह्मणः क्रिया-रहितः आत्मानं ब्राह्मणं ब्रवीति, स ब्राह्मण ब्रुव॥८५॥

(मनु ७/८५)

ब्राह्मण-कुलमें उत्पन्न जो व्यक्ति क्रिया रहित होकर भी स्वयंको ब्राह्मण कहकर परिचय देता है, वह व्यक्ति 'ब्राह्मणब्रुव' नामसे संज्ञित होता है॥८५॥

अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः।
अम्भस्यश्मप्लवेनैव सह तेनैव मज्जति॥८६॥

(मनु ४/१९०)

जिस द्विजकी तपस्या नहीं है, जिसका वेदाध्ययन नहीं है और दान ग्रहणकरनेमें यथेष्ट रुचि है, पाषाणमय नौकाके द्वारा पार करते हुये जिस प्रकार उस नौकाके साथ जलमग्न हो जाता है, उसी प्रकार वह ब्राह्मण भी दाताके साथ नरकमें डूब जाता है॥८६॥

ब्राह्मणब्रुवोंका परिणाम—

अलिङ्गी लिङ्गिवेषेण यो वृत्तिमुपजीवति।
स लिङ्गिनां हरत्येनस्तिर्यग्योनौ प्रजायते॥८७॥

(मनु ४/२००)

चिह्नधारणके अनुपयोगी होकर उन-उन चिह्नोंको ग्रहण करके तत्तद्वृत्ति द्वारा जीविका अर्जन करनेपर वर्णाश्रमोंके पापसमूह उसका आश्रय करते है तथा वह उन पापोंके द्वारा पशु-पक्षीकी योनि प्राप्त करता है॥८७॥

वेतनग्राही अध्यापक और वेतनग्राही अध्यापिकाओंकी निन्दा—

भृतकाध्यापको यश्च भृतकाध्यापितस्तथा।
शूद्रशिष्यो गुरुश्चैव वाग्दुष्टः कुण्डगोलकौ॥८८॥

(उक्त ३/१५६)

जो वेतन लेकर वेद पढ़ाते हैं, ऐसे गुरुके निकट जो शिष्य अध्ययन करते हैं, जो शूद्र शिष्यको स्वीकार और शूद्रको अध्ययन कराते हैं, जो सर्वदा निष्ठुरभाषी

हैं तथा जो जारज (अवैध अर्थात् उपपतिसे उत्पन्न) सन्तान है, जो पिताकी मृत्युके बादकी सन्तान है, उनको यज्ञादि कार्योंमें नियुक्त नहीं करना चाहिए।८८॥

देवलादि* 'ब्राह्मण'-पदवाच्य नहीं है—

अपि चाचारतस्तेषामब्राह्मण्यः प्रतीयते।
वृत्तितो देवता पूजा-दीक्षा-नैवेद्यभक्षणम्।
गर्भाधानादि-दाहान्त-संस्कारान्तर-सेवनम्।
श्रौतक्रियाऽननुष्ठानं द्विजैः सम्बन्धवर्जनम्॥
इत्यादिभिरनाचारैरब्राह्मण्यं सुनिर्णयम्॥८९॥

(श्रीयामुनाचार्यकृत आगमप्रामाण्य-धृत सात्वतशास्त्र वाक्य)

जीविकाकी दृष्टिसे देवपूजा, दीक्षा तथा नैवेद्य भोजन—इन सब आचरणोंसे ही उन सब व्यक्तियोंकी अब्राह्मणता दिखाई देती है। गर्भाधानसे दाह पर्यन्त अन्य संस्कार ग्रहण, श्रौत क्रियाका अनुष्ठान न करना, द्विजोंसे सम्बन्ध त्याग आदि आचरणके द्वारा ही सुष्ठु रूपसे अब्राह्मणता निर्णीत होती है॥८९॥

शास्त्रोंमें देवल ब्राह्मणकी निन्दा—

देवकोशोपजीवी यः स देवलक उच्यते।
वृत्त्यर्थं पूजयेद्देवं त्रीणि वर्षाणि यो द्विजः।
स वै देवलको नाम सर्वकर्मसु गर्हितः॥९०॥

(श्रीयामुनाचार्यकृत आगम प्रमाण)

जो देवपूजाकी आयसे जीविका चलाता है, वह 'देवल' नामसे कथित होता है। जो ब्राह्मण जीविका चलानेके लिए तीन वर्षतक देवपूजा करता है, वह देवल सभी कर्मोंमें अत्यन्त निन्दाके योग्य है॥९०॥

एषां वंशक्रमादेव देवार्चावृत्तितो भवेत्।
तेषामध्ययने यज्ञे याजने नास्ति योग्यता॥९१॥

(उक्त)

जो व्यवसायकी दृष्टिसे वंशपरम्परासे देवपूजा करते हैं, वेदाध्ययन, यज्ञ और याजन—इन सब ब्राह्मणोचित कर्मोंके लिए वे सर्वथा अयोग्य हैं॥९१॥

'आपदधर्म'के नामसे देवलवृत्ति चलानेकी चेष्टा शास्त्र-निन्दित है—

आपद्यपि च कष्टायां भीतो वा दुर्गतोऽपि वा।
पूजयेन्नैव वृत्त्यर्थं देवदेवं कदाचन॥९२॥

(श्रीयामुनाचार्यकृत आगमप्रामाण्यधृत परमसंहिता-वाक्य)

---

*देवपूजादिकी आयसे जीविका चलानेवाला ब्राह्मण।

अत्यन्त कष्टपूर्ण स्थितिमें भी अथवा भयग्रस्त, दुर्दशाग्रस्त और विपदापन्न होकर कभी भी जीविका चलानेके लिए देवपूजा नहीं करनी चाहिए॥९२॥

पारमार्थिक ब्राह्मणता—

एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः॥९३॥

(वृहदारण्यक ३/९/१०)

हे गार्गि! जो उस अच्युत-तत्त्वसे अवगत होकर इस लोकसे प्रयाण करते हैं, वे ही ब्राह्मण हैं॥९३।

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः॥९४॥

(उक्त ४/४/२१)

बुद्धिमान ब्रह्मज्ञ पुरुष शास्त्रादि द्वारा अवगत होकर उसकी (परब्रह्मकी) प्रेमभक्ति प्राप्त करनेके लिए प्रयत्न करेंगे॥९४॥

ब्राह्मण कौन है?

जातकर्मादिभिर्यस्तु संस्कारैः संस्कृतः शुचिः।
वेदाध्ययनसम्पन्नः षट्सुकर्मस्ववस्थितः॥९५॥
शौचाचारस्थितः सम्यग् विघसाशी गुरुप्रियः।
नित्यव्रती सत्यपरः स वै ब्राह्मण उच्यते॥९६॥

(महाभारत-शान्तिपर्व १८९/२-३)

(भरद्वाज कहते हैं,—हे द्विजोत्तम! हे विप्रर्षे! हे वाग्मिश्रेष्ठ! ब्राह्मण किस प्रकार होता है एवं क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र भी किस प्रकार होता है, यह बतलावें। भृगु उत्तरमें कहते हैं—) जो जात कर्मादि संस्कारोंके द्वारा संस्कृत एवं शौच सम्पन्न, वेदाध्ययन-रत, यजन याजनादि (यज्ञादि) षट्कर्म परायण, शौचाचार स्थित, गुरुके पास उच्छिष्ट भोजी, गुरुप्रिय, नित्यव्रत परायण तथा सत्यनिष्ठ है उसको ही 'ब्राह्मण' कहा जाता है॥९५-९६॥

वैष्णव ही सर्वश्रेष्ठ और सब वर्णोंका गुरु है—

विष्णोरयं यतो ह्यासीत्तस्माद्वैष्णव उच्यते।
सर्वेषां चैव वर्णानां वैष्णवः श्रेष्ठ उच्यते॥९७॥

(पाद्मोत्तरखण्ड ३९ अध्याय)

विष्णु सम्बन्धी कहकर ही वैष्णवको 'वैष्णव' नामसे कहा जाता है एवं सब वर्णोंमें वैष्णवको 'सर्वश्रेष्ठ' कहा जाता है॥९७॥

चाण्डाल कुलमें प्रकटित होने पर भी वैष्णव ब्राह्मणोंद्वारा पूज्य है—

उर्ध्वपुण्ड्रमृजुं सौम्यं सचिह्नं धारयेद्यदि।
स चण्डालोऽपि शुद्धात्मा पूज्य एव सदा द्विजैः॥९८॥

(पाद्मोत्तरखण्ड ३९ अध्याय)

चाण्डाल कुलमें उत्पन्न व्यक्ति भी यदि (एकादश अङ्गोंमें) तिलक चिह्नके साथ ललाटमें सरल और सुन्दर ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करते हैं, तो वे भी शुद्धात्मा एवं ब्राह्मणोंके द्वारा निश्चय ही सर्वदा पूज्य हैं॥९८॥

म्लेच्छ कुलमें अवतीर्ण होने पर भी हरिभक्त सभीके द्वारा पूज्य हैं—

सकृत् प्रणामी कृष्णस्य मातुः स्तन्यं पिबेन्न हि।
हरिपादे मनो येषां तेभ्यो नित्यं नमो नमः॥९९॥
पुक्कसः श्वपचो वापि ये चान्ये म्लेच्छजातयः।
तेऽपि वन्द्या महाभागा हरिपादैकसेवकाः॥१००॥

(पद्मपुराण-स्वर्गखण्ड आदि २४ अध्याय)

जिन्होंने एक बार भी श्रीकृष्णको सब प्रकारके अहङ्कारोंका परित्यागकर प्रणाम किया है उसको पुनः मातृस्तन पान करनेकी जरूरत नहीं है। अधम चाण्डाल, कुक्कुरभोजी चाण्डाल यहाँ तक कि म्लेच्छ जातियाँ भी यदि एकान्त भावसे हरिपादपद्मोंमें शरण ग्रहणकर सेवा करती हैं, तो वे भी महाभाग और पूजाके योग्य हैं॥९९-१००॥

च्युत और अच्युत गोत्र, अच्युत गोत्रीयगण ही 'वैष्णव' हैं—

सर्वत्रास्खलितादेशः सप्तद्वीपैकदण्डधृक्।
अन्यत्रब्राह्मणकुलादन्यत्राच्युतगोत्रतः ॥१०१॥

(श्रीमद्भागवत ४/२१/१२)

पृथु महाराजका ऋषिकुल, ब्राह्मणवंश और अच्युत गोत्रीय भगवान्के सम्बन्धी विष्णुभक्तोंको छोड़कर सातों द्वीपोंके सभी पुरुषोंपर अखण्ड एवं अबाध शासन था। सर्वत्र ही उनकी आज्ञा शिरोधार्य थी॥१०१॥

नीचकुलमें जात भक्त और चतुर्वेदहीन ब्राह्मणोंमें पार्थक्य —

न मेऽभक्तश्चतुर्वेदी मद्भक्तः श्वपचः प्रियः।
तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथा ह्यहम्॥१०२॥

(ह. भ. वि. १०/९१)

भक्तिहीन चतुर्वेदी ब्राह्मण मुझको प्रिय नहीं, परन्तु मेरा भक्त—चाण्डाल कुलमें जन्म ग्रहण करनेपर भी मुझे बड़ा प्रिय है। वही दानका सत्पात्र है तथा उसीकी कृपा ग्रहण करनेके योग्य है। वह निश्चय ही मेरे समान पूज्य है॥१०२॥

जिस नामग्रहणकारीने पूर्व जन्ममें अनेक बार तपस्या, यज्ञ, स्नान और वेद अध्ययन किया है; वे ही परम पावन हैं—

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्त्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥१०३॥

(श्रीमद्भागवत ३/३३/७)

अहो! नाम ग्रहण करनेवाले पुरुषोंकी श्रेष्ठताकी बात और अधिक क्या कहूँ? जिनकी जिह्वाके अग्रभागमें आपका नाम उच्चारित होता है, वे चाण्डाल कुलमें उत्पन्न होने पर भी सर्वश्रेष्ठ हैं। उनकी ब्राह्मणता तो पूर्व जन्ममें ही सिद्ध हो चुकी है, क्योंकि जो श्रेष्ठ पुरुष आपका नाम उच्चारण करते हैं उन्होंने ब्राह्मणोंके तप, हवन, तीर्थस्नान, सदाचारका पालन और वेदाध्ययन सब कुछ पहले ही कर लिया है॥१०३॥

शुद्धभक्तिके आचार्य अद्वैतप्रभुका आचरण—
म्लेच्छकुलमें उत्पन्न वैष्णवको सर्वश्रेष्ठ 'ब्राह्मण गुरु' रूपमें निर्देश—

आचार्य कहेन,—तुमि ना वासिह भय।
सेइ आचरिब जेइ शास्त्रमत हय॥
तुमि खाइले हय कोटि-ब्राह्मण-भोजन।
एत बलि' श्राद्धपात्र कराइल भोजन॥१०४॥

(चै. च. अ. ३/२१९-२२०)

श्रीअद्वैताचार्यजीने श्रीहरिदास ठाकुरको कहा—आप भयभीत न हों मैं वही करूँगा जो शास्त्र कहते हैं। आपको भोजन करानेसे करोड़ों-करोड़ों ब्राह्मणोंको भोजन कराना हो जायेगा। ऐसा कहकर उन्होंने श्रीहरिदास ठाकुरको भगवत् निवेदित उत्तम श्राद्ध-पात्र प्रदान किया और उन्हें भोजन कराया॥१०४॥

वैष्णव कोटि-कोटि सर्व वेदान्तविद् ब्राह्मणोंके गुरुदेव हैं—

ब्राह्मणानां सहस्रेभ्यः सत्रयाजी विशिष्यते।
सत्रयाजिसहस्रेभ्यः सर्ववेदान्त पारगः॥
सर्ववेदान्तवित्कोट्या विष्णुभक्तो विशिष्यते।
वैष्णवानां सहस्रेभ्यः एकान्त्येको विशिष्यते॥१०५॥

(भक्तिसन्दर्भ १७७ संख्याधृत गारुड-वाक्य)

सहस्र ब्राह्मणोंकी अपेक्षा एक याज्ञिक श्रेष्ठ है, सहस्र याज्ञिकोंकी अपेक्षा एक सर्ववेदान्त शास्त्रज्ञ श्रेष्ठ है, कोटि-कोटि सर्व वेदान्त शास्त्रज्ञकी अपेक्षा एक विष्णुभक्त श्रेष्ठ है एवं सहस्र वैष्णवोंकी अपेक्षा एक ऐकान्तिक भक्त श्रेष्ठ है॥१०५॥

परिशिष्ट

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकङ्का यवनाः खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥१॥

(श्रीमद्भागवत २/४/१८)

किरात्, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कङ्क, यवन और खस आदि नीच जातियाँ तथा दूसरे पापी जिनके शरणागत भक्तोंकी शरण ग्रहण करनेसे ही पवित्र हो जाते हैं, उन सर्व शक्तिमान् भगवान्‌को बार-बार नमस्कार है॥१॥

कुलाचारविहीनोऽपि दृढ़भक्तिर्जितेन्द्रियः।
प्रशस्तः सर्वलोकानां न त्वष्टादशविद्यकः॥
भक्तिहीनो द्विजः शान्तः सज्जातिर्धार्मिकस्तथा॥२॥

(भक्तिसन्दर्भ अ. १०० स्कान्दे नारदवचन)

स्कन्द पुराणमें श्रीनारदजीने कहा है—जितेन्द्रिय तथा श्रीभगवान्‌में दृढ़ भक्तिवाला व्यक्ति सत्कुल और सदाचारविहीन होनेपर भी सब लोगोंमें श्रेष्ठ है, किन्तु अठारह प्रकारकी विद्याओंवाला, शान्त, सत्कुलमें पैदा होनेवाला तथा धर्म-कर्मवाला ब्राह्मण, जो भगवद्भक्तिसे विहीन है, वह श्रेष्ठ नहीं है॥२॥

ब्राह्मणः, क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वा यदि वेतरः।
विष्णुभक्तिसमायुक्तो ज्ञेयः सर्वोत्तमोत्तमः॥३॥

(भक्तिसन्दर्भ अ. १०० काशीखण्डे च)

काशीखण्डमें कहा गया है कि ब्राह्मण हो अथवा क्षत्रिय, वैश्य हो या शूद्र, अथवा अन्त्यज (अछूत—पाँचवें वर्णका मनुष्य) ही क्यों न हो, यदि वह श्रीकृष्ण-भक्तियुक्त है, तो उसे सर्वोत्तमोंमें भी उत्तम जानना चाहिये॥३॥

विष्णुभक्ति विहीना ये चाण्डालाः परिकीर्त्तिताः।
चाण्डाला अपि ते श्रेष्ठा हरिभक्तिपरायणाः॥४॥

(भक्तिसन्दर्भ अ. १०० बृहन्नारदीये)

बृहन्नारदीय पुराणमें कहा गया है कि जो लोग कृष्णभक्ति विहीन हैं, वास्तवमें वे ही चाण्डाल हैं। जो चाण्डाल हैं, किन्तु हरिभक्ति-परायण हैं, वे ही श्रेष्ठ हैं॥४॥

श्वपचोऽपि महीपाल विष्णुभक्तो द्विजाधिकः।
विष्णुभक्तिविहीनो यो द्विजातिः श्वपचाधिकः॥५॥

(भक्तिसन्दर्भ अ. १०० नारदीये)

नारदीयपुराणमें कहा गया है कि हे राजन्! कृष्णभक्त-चाण्डाल ब्राह्मणसे भी श्रेष्ठ है और कृष्णभक्तिविहीन ब्राह्मण चाण्डालसे भी अधिक नीच है॥५॥

चाण्डालोऽपि मुनिश्रेष्ठा हरिभक्तिपरायणः।
हरिभक्तिविहीनश्च द्विजोऽपि श्वपचाधमः॥६॥

(संस्कार-दीपिका १४)

हरिभक्तिसे युक्त चाण्डाल भी श्रेष्ठ मुनि है, किन्तु ब्राह्मण कुलमें पैदा होनेपर भी हरिभक्तिविहीन होनेपर वह चाण्डालसे भी अधम होता है॥६॥

इति गौड़ीय-कण्ठहारमें 'वर्णधर्म-तत्त्व' वर्णन नामक चौदहवाँ रत्न समाप्त।

पन्द्रहवाँ रत्न

आश्रमधर्म-तत्त्व

जीवके अवस्थानुसार चार आश्रम हैं—

स होवाच याज्ञवल्क्यः। ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्। गृही भूत्वा वनी भवेत्। वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद् वा वनाद्वा। अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वा उत्सन्नाग्निको वा यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत॥१

(जावालोपनिषत् ४/१)

(राजर्षि जनक महर्षि याज्ञवल्क्यसे कहते हैं,—"भगवन्! संन्यासाधिकार और उसकी विधि विस्तार पूर्वक बतानेकी कृपा करें") तत्पश्चात् याज्ञवल्क्य कहने लगे,—"ब्रह्मचर्य समाप्त करके गृहस्थाश्रम ग्रहण करना चाहिए, गृहस्थाश्रम ग्रहण करनेके बाद वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करना चाहिए, वानप्रस्थ आश्रममें कुछ समय बीतनेके बाद संन्यास आश्रम ग्रहण कर लेना चाहिए। यदि इसके विपरीत हो अर्थात् किसीके गार्हस्थ्यादि आश्रम ग्रहण करनेके पूर्व ही वैराग्य उदित हो जाय तो उनको ब्रह्मचर्याश्रमसे संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिए अथवा गृहस्थ या वानप्रस्थाश्रमसे परिव्राजक होवें; अर्थात् कोई किसी भी आश्रममें क्यों न रहे प्रकृत वैराग्य उदित होनेपर उन-उन आश्रमोंसे संन्यासाश्रम ग्रहण करें। किन्तु यदि ब्रह्मचारी आदि अपने करने योग्य कर्मोंसे विच्युत होनेपर भी भगवत् प्रीति हेतु भोग त्याग करनेके लिए उत्सुक होते हैं, तब वे साङ्गवेदका अध्ययन समाप्त करें या न करें, साङ्गवेदका अध्ययन समाप्त करके वेदोक्त स्नान करें या न करें, अथवा साग्निक होकर अग्नि बुझावें अथवा अग्निरहित ही रहें, जिस दिन संसारके प्रति उनको वैराग्य उत्पन्न होगा, उसी दिन वे प्रव्रज्या (संन्यास) ग्रहण करेंगे॥१॥

चारों आश्रमोंकी उत्पत्ति—

गृहाश्रमो जघनतो ब्रह्मचर्यं हृदो मम।
वक्षःस्थलाद्वने वासः संन्यासः शिरसि स्थितः॥२॥

(श्रीमद्भागवत ११/१७/१३)

(श्रीभगवान्‌ने उद्धवसे कहा), मेरे ऊरुस्थलसे गृहस्थाश्रम, हृदयसे ब्रह्मचर्याश्रम और वक्षःस्थलसे वानप्रस्थ आश्रम और मस्तकसे संन्यास आश्रमकी उत्पत्ति हुई है॥२॥

ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमोंके प्रत्येकके चार प्रकारके भेद हैं—

सावित्रं प्राजापत्यञ्च ब्राह्मञ्चाथ बृहत् तथा।
वार्त्ता सञ्चयशालीनशिलोञ्छ इति वै गृहे॥३॥

(श्रीमद्भागवत ३/१२/४२)

सावित्र (उपनयन संस्कारके पश्चात् गायत्रीका अध्ययन करनेके लिए धारण किये जानेवाला तीन दिनका ब्रह्मचर्य व्रत), प्राजापत्य (आचरणशील व्यक्तिका एक वर्षका ब्रह्मचर्य व्रत), ब्राह्म (वेदाध्ययनकी समाप्ति तक रहनेवाला ब्रह्मचर्य व्रत), बृहद्व्रत (आयु पर्यन्त रहनेवाला ब्रह्मचर्य व्रत)—ये चार वृत्तियाँ ब्रह्मचारीकी हैं तथा वार्ता (कृषि आदि शास्त्रविहित वृत्तियाँ), सञ्चय (यागादि कराना), शालीन (अयाचित वृत्ति), शिलोञ्छ (खेत कट जानेपर पृथ्वीपर पड़े हुए तथा अनाजकी मण्डीमें गिरे हुए दानोंको बीनकर निर्वाह करना)—ये चार वृत्तियाँ गृहस्थकी हैं॥३॥

वैखानसा वालिखिल्योदुम्बराः फेनपा वने।
न्यासे कूटीचकः पूर्वं बह्वोदो हंस–निष्क्रियौ॥४॥

(श्रीमद्भागवत ३/१२/४ ३)

इसी प्रकार वृत्ति भेदसे वैखानस (बिना जोती भूमिसे उत्पन्न हुए पदार्थोंसे निर्वाह करनेवाला), वालखिल्य (नवीन अन्न मिलनेपर पूर्वमें सञ्चय करके रखा हुआ अन्न दान कर देनेवाला), औदुम्बर (प्रातःकाल उठनेपर जिस दिशाकी ओर मुख हो, उसी ओरसे फलादि लाकर निर्वाह करनेवाले) और फेनप (अपने आप झड़े हुए फलादि खाकर रहनेवाला)—ये चार भेद वानप्रस्थोंके तथा कुटीचक (अपना आश्रम बनाकर रहनेवाले), बहुदक (कर्मकी ओर गौण दृष्टि रखकर ज्ञानको ही प्रधान माननेवाले), हंस (ज्ञानाभ्यासी) एवं निष्क्रिय (परमहंस)—ये चार भेद संन्यासियोंके हैं॥४॥

ब्रह्मचारीके कर्त्तव्य—

द्वितीय प्राप्यानुपूर्व्याजन्मोपनयनं द्विजः।
वसन् गुरुकुले दान्तो ब्रह्मधीयीत चाहुतः॥५॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य गर्भाधान आदि संस्कारोंके क्रमसे यज्ञोपवीत संस्काररूप द्वितीय जन्म प्राप्त करके गुरुकुलमें रहे और इन्द्रियोंको अपने वशमें रखे। आचार्यके बुलाने पर वेदका अध्ययन करे और उसके अर्थका भी विचार करे॥५॥

आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्।
न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः॥६॥

(श्रीकृष्णने उद्धवसे कहा,—हे उद्धव!) आचार्यको मेरा स्वरूप (मेरा प्रकाश विग्रह) समझे, कभी उसका तिरस्कार न करे। उन्हें साधारण मनुष्य समझकर दोष दृष्टि न करे, क्योंकि गुरु सर्वदेवमय होते हैं॥६॥

सायं प्रातरुपानीय भैक्ष्यं तस्मै निवेदयेत्।
यच्चान्यदप्यनुज्ञातमुपयुञ्जीत संयतः॥७॥

(श्रीमद्भा. ११/१७/२२, २७-२८)

सायंकाल और प्रातःकाल दोनों समय जो कुछ भिक्षामें मिले वह लाकर गुरुदेवके आगे रख दे। तदनन्तर उनकी आज्ञानुसार बड़े संयमसे भिक्षा आदिका यथोचित उपयोग करे॥७॥

शुश्रूषमाण आचार्यं सदोपासीत् नीचवत्।
यानशय्यासनस्थानैर्नातिदूरे कृताञ्जलिः॥८॥

आचार्य यदि जाते हों तो उनके पीछे-पीछे चले, उनके सो जानेके बाद बड़ी सावधानीसे उनसे थोड़ी दूर पर सोवे। थके हों तो पास बैठकर चरण दबावे और बैठे हों तो उनके आदेशकी प्रतीक्षामें हाथ जोड़कर पासमें ही खड़ा रहे। इस प्रकार अत्यन्त छोटे व्यक्तिकी भाँति सेवा सुश्रूषाके द्वारा सदैव आचार्यकी आज्ञामें तत्पर रहे॥८॥

एवंवृत्तो गुरुकुले वसेद्भोगविवर्जितः।
विद्या समाप्यते यावद्बिभ्रद्व्रतमखण्डितम्॥९॥

जब तक विद्या समाप्त न हो जाय, तब तक सब प्रकारके भोगोंसे दूर रहकर इसी प्रकार गुरुकुलमें निवास करे और कभी अपना ब्रह्मचर्य व्रत खण्डित न होने दे॥९॥

एवं बृहद्व्रतधरो ब्राह्मणोऽग्निरिव ज्वलन्।
मद्भक्तस्तास्तीव्रतपसा दग्धकर्माशयोऽमलः॥१०॥

(श्रीमद्भागवत ११/१७/२९-३०, ३६)

इस प्रकार वृहत् व्रतधारी इन नियमोंका पालन करनेसे अग्निके समान तेजस्वी हो जाता है। तीव्र तपस्याके कारण उसके कर्म संस्कार भस्म हो जाते हैं, अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और वह मेरा भक्त होकर मुझे प्राप्त कर लेता है॥१०॥

गृही (गृहस्थी) के कर्त्तव्य—हरिसेवा ही सभी आश्रमोंका एकमात्र कृत्य है—

ब्रह्मचर्यं तपः शौचं सन्तोषो भूतसौहृदम्।
गृहस्थस्याप्यृतौ गन्तुः सर्वेषां मदुपासनम्॥११॥

(श्रीमद्भागवत ११/१८/४३)

गृहस्थ भी केवल ऋतुकालमें ही अपनी स्त्रीका सङ्ग करे। उसके लिए भी ब्रह्मचर्य, तपस्या, शौच, सन्तोष और समस्त प्राणियोंके प्रति प्रेमभाव—ये मुख्य धर्म हैं। मेरी उपासना तो सभी को करनी चाहिए॥११॥

प्रवृत्त लोगोंके लिए क्रम-निवृत्ति ही शास्त्रका उद्देश्य है—

लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्तुजन्तोर्न हि तत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाह यज्ञसुरागृहैरासु निवृत्तिरिष्टा॥१२॥

(श्रीमद्भागवत ११/५/११)

संसारमें देखा जाता है कि मैथुन, मांस और मद्यकी ओर प्राणियोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति हो जाती है। तब उसे उसमें प्रवृत्त करनेके लिए विधान तो हो ही नहीं सकता। ऐसी स्थितिमें विवाह, यज्ञ और मदिरालयकी एवं सोत्रामणि यज्ञके द्वारा जो उनके सेवनकी व्यवस्था दी गई है, उसका अर्थ है लोगोंकी उच्छृङ्खल प्रवृत्तिका नियन्त्रण एवं उनका मर्यादामें स्थापन॥१२॥

गृहव्रत होना गृहस्थका कर्त्तव्य नहीं है—

कुटुम्बेषु न सज्जेत न प्रमाद्येत् कुटुम्ब्यपि।
विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत्।१३॥

विद्वान् गृहस्थ व्यक्ति कुटुम्बमें आसक्त न हो। बड़ा कुटुम्ब होनेपर भी भजनमें प्रमाद न करे। बुद्धिमान व्यक्तिको यह बात भी समझ लेनी चाहिए कि जैसे इस लोककी सभी वस्तुएँ नाशवान् हैं, वैसे ही स्वर्गादि परलोकके भोग भी नाशवान् ही हैं॥१३॥

पुत्रदाराप्तबन्धुनां सङ्गमः पान्थसङ्गमः।
अनुदेहं वियन्त्येते स्वप्नो निद्रानुगो यथा॥१४॥

(श्रीमद्भागवत ११/१७/५२-५३)

स्त्री, पुत्र, भाई-बन्धु और आत्मीयजनोंका मिलना-जुलना वैसा ही है जैसे किसी प्याऊ पर कुछ राहगीर इकट्ठे हो गये हों। सबको अलग-अलग रास्ते जाना है। जैसे स्वप्न नींद टूटने तक ही रहता है, वैसे ही इन मिलने-जुलनेवालोंका सम्बन्ध भी बस शरीरके रहने तक ही रहता है, फिर कौन किसको पूछता है॥१४॥

इत्थं परिमृशन्मुक्तो गृहेष्वतिथिवद्वसन्।
न गृहैरनुबध्येत निर्ममो निरहङ्कृतः॥१५॥

गृहस्थको चाहिए कि इस प्रकार विचार करके घर-गृहस्थीमें फँसे नहीं, उसमें इस प्रकार अनासक्त भावसे रहे, मानो कोई अतिथि निवास कर रहा हो। जो शरीर आदिमें अहङ्कार और घर आदिमें ममता नहीं करता उसे घर गृहस्थीके फन्दे बाँध नहीं सकते॥१५॥

गृहस्थाश्रमीका घरमें वास, वनमें वास प्रव्रज्या—

कर्मभिर्गृहमेधीयैरिष्ट्वा मामेव भक्तिमान्।
तिष्ठेद्वनं वोपविशेत् प्रजावान् वा परिव्रजेत्॥१६॥

(भगवान्ने कहा—) भक्तिमान् पुरुष गृहस्थोचित शास्त्रोक्त कर्मोंके द्वारा मेरी आराधना करता हुआ घरमें ही रहे अथवा यदि पुत्रवान् हो तो वानप्रस्थ आश्रममें चला जाय या संन्यास आश्रम स्वीकार कर ले॥१६॥

गृहस्थोंका चरित्र—

यस्त्वासक्तमतिर्गेहे पुत्रवित्तैषणातुरः।
स्त्रैणः कृपणधीर्मूढो ममाहमिति बध्यते॥१७॥

(श्रीमद्भागवत ११/१७/५७-५८)

जो लोग घरगृहस्थीमें आसक्त हो जाते हैं, स्त्री, पुत्र और धनकी कामनाओंमें फँसकर हाय-हाय करते रहते हैं और मूढ़तावश स्त्रीलम्पट और कृपण होकर मैं-मेरेके फेरमें पड़ जाते हैं, वे बँध जाते हैं॥१७॥

अहो मे पितरौ वृद्धौ भार्या बालात्मजाः।
अनाथा मामृते दीनाः कथं जीवन्ति दुःखिताः॥
एवं गृहाशयाक्षिप्तहृदयो मूढ़धीरयम्।
अतृप्तस्ताननुध्यायन् मृतोऽन्धं विशते तमः॥१८॥

(श्रीमद्भागवत ११/१७/५७-५८)

वे सोचते रहते हैं—'हाय! हाय! मेरे माँ-बाप बूढ़े हो गये, पत्नीके बाल-बच्चे अभी छोटे-छोटे हैं, मेरे न रहनेपर ये दीन, अनाथ और दुःखी हो जायेंगे फिर इनका जीवन कैसे रहेगा। इस प्रकार घर-गृहस्थीकी वासनासे जिसका चित्त विक्षिप्त हो रहा है, वह मूढ़ बुद्धिवाला पुत्र-कन्यादिका सर्वदा ध्यान करता है और मृत्युके बाद 'अन्ध' नामक अति तामसी योनिमें प्रवेश करता है॥१८॥

स्त्री व पुरुष दोनोंकी गृहासक्ति निन्दनीय है, कृष्णासक्ति ही जीवमात्रका धर्म है—

त्वक्श्मश्रुरोमनखकेश-पिनद्धमन्तर्मांसास्थिरक्तकृमिविट् कफपित्तवातम्।
जीवच्छवं भजति कान्तमतिर्विमूढ़ा या ते पदाब्जमकरन्दमजिघ्रती स्त्री॥१९॥

यह मनुष्यका शरीर जीवित होनेपर भी मुर्दा ही है। ऊपरसे चमड़ी, दाढ़ी, मूँछ, रोएँ, नख और केशोंसे ढका हुआ है, परन्तु इसके भीतर मांस, हड्डी, खून, कीड़े, मल-मूत्र, कफ, पित्त और वायु भरे पड़े हैं। इसे वही मूढ़ स्त्री अपना प्रियतम पति समझकर सेवन करती है, जिसे कभी आपके चरणारविन्दके मकरन्दकी सुगन्ध सूँघनेका सुअवसर नहीं मिला है॥१९॥

प्राकृत दाम्पत्य सुखाभिलाषी सकाम गृहस्थकी निन्दा—

ये मां भजन्ति दाम्पत्ये तपसा व्रतचर्यया।
कामात्मानोऽपवर्गेशं मोहिता मम मायया॥२०॥

(श्रीमद्भागवत १०/६०/४५, ५२)

(सकाम भक्तोंकी निन्दा करते हुए कहते हैं—) जो सकाम पुरुष प्राकृत-दाम्पत्य-सुखभोग करनेके लिए अनेक प्रकारके व्रत और तपस्या करके मेरा भजन करते हैं, वे मेरी मायासे मोहित हैं॥२०॥

यथार्थ गृहस्थाश्रम—

अधना अपि ते धन्याः साधवो गृहमेधिनः।
यद्गृहा ह्यर्हवर्याम्बु - तृणभूमीश्वरावराः॥२१॥

(पृथु महाराजने सनत्कुमारादि भगवद्भक्त ऋषियोंसे कहा) जिनके घरोंमें आप जैसे पूज्य पुरुष उनके जल, तृण, पृथ्वी, गृहस्वामी अथवा सेवकादि किसी पदार्थको स्वीकार कर लेते हैं, वे गृहस्थ धनहीन होने पर भी धन्य हैं॥२१॥

असत् गृह—

व्यालालयद्रुमा वै तेऽप्यरिक्ताखिलसम्पदः।
यद्गृहास्तीर्थ-पादीय पादतीर्थ-विवर्जिताः॥२२॥

(श्रीमद्भागवत ४/२२/१०-११)

जिन घरोंमें कभी भगवद्भक्तोंके परम पवित्र चरणोदकके छींटे नहीं पड़े, वे सब प्रकारकी ऋद्धि-सिद्धियोंसे भरे होनेपर भी ऐसे वृक्षोंके समान हैं, जिन पर साँप रहते हैं॥२२॥

वानप्रस्थके कर्त्तव्य—

वानप्रस्थाश्रमपदेष्वभीक्ष्णं भैक्ष्यमाचरेत्।
संसिध्यत्याश्वसम्मोहः शुद्धसत्त्वः शिलान्धसा॥२३॥

(श्रीमद्भागवत ११/१८/२५)

भिक्षा भी अधिकतर वानप्रस्थियोंके आश्रमसे ही ग्रहण करे, क्योंकि कटे हुए खेतोंके दानसे बनी हुई भिक्षा शीघ्र ही चित्तको शुद्ध कर देती है और उससे बचा-खुचा मोह दूर होकर सिद्धि प्राप्त हो जाती है॥२३॥

भगवन्निकेतन शुद्धभक्ति-मठ या भक्तोंके पास वास ही सर्वश्रेष्ठ निर्गुण वास है—

वनं तु सात्त्विको वासो ग्रामो राजस उच्यते।
तामसं द्यूतसदनं मन्निकेतनस्तु तु निर्गुणम्॥२४॥

(श्रीमद्भागवत ११/२५/२५)

(निर्गुण भक्तिप्राप्त करनेपर श्रद्धा, वास, आहार इत्यादि व्यावहारिक वस्तुको निर्गुण करना चाहते हैं। सात्त्विक-भावापन्न वस्तु कृष्णभाव युक्त होनेपर निर्गुण होती है) वनमें रहना सात्त्विक निवास है, गांवोंमें रहना राजस है और जूआ घरमें रहना तामसिक है, किन्तु इन सबसे बढ़कर मेरे मन्दिरमें रहना निर्गुण निवास है॥२४॥

संन्यास—त्रिविध, विद्ध और शुद्धज्ञान भेदसे ज्ञान संन्यासी—द्विविध।
विद्ध ज्ञानीगण ही शिवस्वामी सम्प्रदायके आनुगत्यमें एकदण्डी,
शुद्धज्ञानीगण श्रीविष्णुस्वामी सम्प्रदायके अनुसरणमें त्रिदण्डी हैं—

ज्ञानसंन्यासिनः केचिद्वेदसंन्यासिनोऽपरे।
कर्मसंन्यासिनस्त्वन्ये त्रिविधाः परिकीर्त्तिताः॥२५॥

(पद्मपुराण स्वर्गखण्ड आदि ३१ अध्याय)

संन्यासी तीन प्रकारके बतलाये गये हैं—कोई ज्ञानी संन्यासी है, कोई वेद संन्यासी है अथवा कोई कर्म संन्यासी है॥२५॥

'धीर' या विवित्सा संन्यास—

गतस्वार्थमिमं देहं विरक्तो मुक्तबन्धनः।
अविज्ञातगतिर्जह्यात् स वै धीर उदाहृतः॥२६॥

(श्रीमद्भागवत १/१३/२६)

जो विषयादिमें आसक्तिरहित और अभिमानशून्य होकर ऐहिक और पारलौकिक सम्बन्धी सुख-साधन-स्पृहा-विगत देहका परित्याग करते हैं, वे धीर कहलाने योग्य हैं॥२६॥

'नरोत्तम' या विद्वत् संन्यास—

यः स्वकात्परतो वेह जातनिर्वेद आत्मवान्।
हृदि कृत्वा हरिं गेहात् प्रव्रजेत् स नरोत्तमः॥२७॥

(श्रीमद्भागवत १/१३/२७)

चाहे अपनी समझसे हो या दूसरेके समझानेसे, जो इस संसारको दुःखरूप समझकर इससे विरक्त हो जाता है और अपने अन्तःकरणको वशमें करके हृदयमें भगवान्‌को धारणकर संन्यासके लिए घरसे निकल पड़ता है, वही उत्तम मनुष्य है॥२७॥

कलियुगमें 'कर्मसंन्यास' निषिद्ध है—

अश्वमेधं गवालभ्मं संन्यासं पलपैतृकम्।
देवरेण सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत्॥२८॥

(मलमास तत्त्व धृत ब्रह्मवैवर्तीय कृष्णजन्मखण्डका १८५ अ. १८० श्लोक)

'अश्वमेध', 'गोमेध', 'संन्यास', मांस द्वारा पितृश्राद्ध, देवर द्वारा पुत्रोत्पत्ति—कलियुगमें ये पाँचों कर्मकाण्ड निषिद्ध हैं॥२८॥

'त्रिदण्डि' शब्दका अर्थ—

वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च।
यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते॥२९॥

(मनु १२/१०)

जिनकी बुद्धिमें वाग्‌दण्ड, मनोदण्ड एवं कायदण्ड ये तीनों निहित हैं वे ही वास्तवमें त्रिदण्डि हैं॥२९॥

दमनं दण्डः यस्य वाङ्–मना–कायानां दण्डाः निषिद्धाभिधानाः सत्सङ्कल्प–प्रतिसिद्ध–व्यापार–त्यागेन बुद्धाववस्थिताः स त्रिदण्डीत्युच्यते न तु दण्डत्रयधारणमात्रेण॥३०॥

(मनु—कुल्लुकभट्ट–टीका १२ अ. १० श्लोक)

'दण्ड' शब्दका अर्थ 'दमन' से है। जिसकी बुद्धिमें वाक्य, मन और कायका दण्ड अर्थात् बाहरी विषयोंमें अनिश्चितता एवं सत्सङ्कल्पोंके प्रतिकूल व्यापारसे विराग रहता है उन्हींको त्रिदण्डि कहा जाता है, दण्डत्रय धारण करनेसे ही त्रिदण्डि नहीं हुआ जाता॥३०॥

श्रीरूप गोस्वामी प्रभुका 'त्रिदण्ड'—शब्दका
अर्थ—काय-मनो-वाक्य वेगको सहन
करना ही 'त्रिदण्ड-ग्रहण है—

वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं जिह्वावेगमुदरोपस्थ वेगम्।
एतान् वेगान् यो विषहेत धीरः सर्वामपीमां पृथिवीं स शिष्यात्॥३१॥

(उपदेशामृत १ महाभारत 'हंसगीता')

जो धीर पुरुष अपनी वाणीके वेगको एवं जननेन्द्रियके वेगको सहन करनेमें समर्थ हो जाता है, वह समस्त पृथ्वीका शासन कर सकता है अर्थात् ऐसे जितेन्द्रिय व्यक्तिके सभी लोग शिष्य हो जाते हैं॥३१॥

वेदोंमें 'त्रिदण्ड संन्यास' का उल्लेख—

तत्र परमहंसा नाम संवर्त्तकारुणि-श्वेतकेतु-दुर्वास-ऋभु-निदाघ-जड़भरत-दत्तात्रेय-रैवतक-प्रभृतयोऽव्यक्तलिङ्गा अव्यक्ताचारा अनुन्मत्ता उन्मत्तवदाचरन्तस्त्रिदण्डं कमण्डलुं शिक्यं पात्रं जलपवित्रं शिखां यज्ञोपवीतं चेत्यतेत् सर्वं भूः स्वाहेत्यप्सु परित्यज्यात्मानमन्विच्छेत्॥३२॥

(जावालोपनिषत् ६ खण्ड)

पूर्वोक्त परमहंसोंमें निम्नलिखित परिव्राजकगण ही विख्यात हुए हैं, यथा—सम्वर्त्तक, अरुणिनन्दन-उद्दालक, श्वेतकेतु, दुर्वासा, ऋभु, निदाघ, जड़भरत, दत्तात्रेय, रैवतक आदि। ये सभी परमहंस हैं, इनके शिखा यज्ञोपवीत आदि कोई चिह्न नहीं था, इनका कार्यकलाप दूसरोंके लिए अगोचर था। ये आत्मस्थ होकर भी उन्मत्तकी भाँति आचरण करते। परमहंस त्रिदण्ड, कमण्डलु, अलाबु निर्मित (कद्दू या लोकीसे बना) भिक्षापात्र, कुश-डाभसे बनी मेखला, आचमनादि जल शोधनके लिए प्रादेश-परिमित (अंगूठेके सिरेसे तर्जनीके सिरे तकको दूरी तकका) श्वेत वस्त्र, शिखा, ब्रह्मसूत्र आदि सभी 'भूस्वाहा'—यह मन्त्रोच्चारणकर तीर्थजलमें छोड़ते हुए सद्गुरुके पादपद्मोंमें जाकर उनके आनुगत्यमें परमात्माका अन्वेषण करना चाहिए॥३२॥

वेदान्तभाष्य-श्रीभागवतमें 'त्रिदण्ड' वैष्णव संन्यासका उल्लेख—

केचित्त्रिवेणुं जगृहुरेके पात्रं कमण्डलुम्।
पीठञ्चैकेऽक्षसूत्रं च कन्थां चीराणि केचन।
प्रदाय च पुनस्तानि दर्शितान्याददुर्मुनेः॥३३॥

(श्रीमद्भागवत ११/२३/३४)

कई लोग 'त्रिदण्ड', भोजन पात्र और कमण्डलु ही झटक ले जाते, कोई-कोई जपमाला, कन्था और लङ्गोटी लेकर चले जाते। कोई-कोई वे वस्तुएं देकर और कोई दिखला-दिखलाकर फिर छीन लेते॥३३॥

मनुसंहितामें त्रिदण्डिकी सिद्धि—

त्रिदण्डमेतन्निक्षिप्य सर्वभूतेषु मानवः।
कामक्रोधौ तु संयम्य ततः सिद्धिं नियच्छति॥३४॥

(मनु १२/११)

समस्त प्राणियोंमें काम और क्रोध संयत रखकर जो इस 'त्रिदण्ड' को धारण करते हैं, वे ही मुक्ति प्राप्त करते हैं॥३४॥

हारित संहितामें 'त्रिदण्ड संन्यास' का माहात्म्य—

त्रिदण्डभृद्यो हि पृथक समाचरेच्छनैः शनैर्यस्तु बहिर्मुखाक्षः।
सम्मुच्य संसार-समस्त-बन्धनात् स याति विष्णोरमृतात्मनः पदम्॥३५॥

(हारीत संहिता ६/२३)

जो त्रिदण्डधारी संन्यासी रूप-रस-गन्ध-स्पर्शादि सम्बन्ध द्वारा इन्द्रियोंको उदासीनकर क्रमशः निर्लिप्तभावसे इस प्रकार आचरण करते हैं, वे समस्त संसार बन्धनसे मुक्तिलाभ कर अमृतात्मा भगवान् विष्णुके पदको प्राप्त होते हैं॥३५॥

श्रीधरस्वामी कर्त्तृक 'त्रिदण्ड' संन्यासका उल्लेख और सम्मान—

"एवं बहूदकादि धर्मान् उक्त्वा परमहंस धर्मानाह ज्ञाननिष्ठ इति सार्द्धैर्दशभिः। बहिर्विरक्तो मुमुक्षुः सन् यो ज्ञाननिष्ठो वा मोक्षेऽप्यनपेक्षो मद्भक्तो वा स सलिङ्गान् त्रिदण्डादिसहितान् आश्रमांस्तद्धर्मांस्त्यक्त्वा तदासक्तिं त्यक्त्वा यथोचितं धर्मं चरेदित्यर्थः।" पुनराय, 'पूज्यतमं त्रिदण्डिवेषम्'॥३६॥

(श्रीमद्भागवत ११/१८/२८ और १०/८६/३ भावार्थदीपिका)

इस प्रकार बहूदकादिका (चतुर आश्रमियोंका) धर्म वर्णनकर 'ज्ञाननिष्ठः' (भा. ११/१८/२८) इत्यादि साढ़ेदश श्लोकमें (आश्रमातीत) 'परमहंसधर्म' कहते हैं। बाह्य विषयमें वैराग्ययुक्त जो व्यक्ति 'मुक्ति' लाभकी कामना करनेवाले 'ज्ञाननिष्ठ' होते हैं अथवा मुक्ति लाभमें भी अपेक्षा रहित होकर मुझको ही (ऐकान्तिक भक्तियोगसे) भजते हैं, वे त्रिदण्डादिके साथ आश्रमधर्मोंका परित्यागकर अर्थात् आश्रमधर्ममें आसक्तिका परित्यागकर परमहंसोचित धर्मका आचरण करते हुए रहते हैं फिर 'पूज्यतम त्रिदण्डि वेषको' भी॥३६॥

महाप्रभुकर्त्तृक 'त्रिदण्डि' की प्रशंसा एवं स्वयंको 'त्रिदण्डि' कहकर अभिमान—

प्रभु कहे,—'साधु एइ भिक्षुक–वचन।
मुकुन्द–सेवन–व्रत कैल निर्द्धारण॥
परात्मनिष्ठा मात्र वेष–धारण।
मुकुन्दसेवाय हय संसार–तारण॥
सेइ वेष कैल एबे वृन्दावन गिया।
कृष्णनिषेवण करि निभृते बसिया॥३७॥

(श्रीचैतन्यचरितामृत–मध्य ३/७–९)

श्रीमद्भागवतके त्रिदण्डि भिक्षुकका यह वचन परम पवित्र और सत्य है। श्रीमुकुन्दके श्रीचरणकमलोंकी सेवाका व्रत–धारण करना ही संन्यासका एकमात्र तात्पर्य है। यथार्थमें वेषधारणका मूल तात्पर्य सर्वस्व त्यागकर भगवान्‌के श्रीचरणकमलोंमें निष्ठासे है। श्रीमुकुन्दका भजन करनेसे कृष्ण–प्रेम उत्पन्न होता है, साथ ही साथ गौणरूपमें भव–सागरसे उद्धार भी हो जाता है। इसलिए मैंने संन्यास–वेष ग्रहण किया। अब मैं संसारी लोगोंसे दूर वृन्दावन धाममें जाकर कृष्णकी सेवा करूँगा॥३७॥

त्रिदण्डिकी 'शिखा', 'सूत्र', 'गेरुआ वस्त्र'–धारण शास्त्र–सम्मत—

शिखी यज्ञोपवीती स्यात् त्रिदण्डि सकमण्डलुः।
स पवित्रश्च काषायी गायत्रीञ्च जपेत् सदा॥३८॥

(स्कन्दपुराण सूतसंहिता)

त्रिदण्डि संन्यासी शिखा रखें और यज्ञोपवीत धारण करें एवं कमण्डलु ग्रहण करेंगे। वे गेरुआ वस्त्र पहनें एवं पवित्र रहकर सर्वदा गायत्री जप करेंगे॥३८॥

पद्मपुराणका प्रमाण—

एकवासा द्विवासाथ शिखी यज्ञोपवीतवान्।
कमण्डलुकरो विद्वांस्त्रिदण्डो याति तत्परम्॥३९॥

(पद्मपुराण स्वर्गखण्ड आदि ३१ अध्याय)

एक वस्त्र अथवा द्विवस्त्र–परिधायी शिखायुक्त, यज्ञोपवीत धृक् एवं हाथोंमें कमण्डलु–युक्त विद्वान् त्रिदण्डि संन्यासी उस श्रेष्ठ पुरुष भगवानको प्राप्त होते हैं॥३९॥

अष्टोत्तर-शतनामी वैदिक त्रिदण्डि संन्यासियोंकी तालिका—

तीर्थाश्रमवनारण्यगिरिपर्वतसागराः ।
सरस्वती भारती च पुरी नामानि वै दश॥
गभस्तिनेमि वाराहः क्षमितृपरमार्थिनौ।
तुर्याश्रमी निरीहश्च त्रिदण्डी विष्णुदैवताः॥
भिक्षुर्यायावरो विष्टो न्यासी राभसिको मुनिः।
विष्टलगो महावीरो महत्तरो यथागतः॥
नैष्कर्मपरमाद्वैती शुद्धाद्वैती जितेन्द्रियः।
तपस्वी याचको नग्ने राद्धान्ती भजनोन्मुखः॥
संन्यासी-मस्करी-क्लान्तो निरग्निर्नारसिंहकः।
ओडुलोमि-महायोगी-श्रुवाको भवपारगः॥
श्रमणोऽवधूतः शास्तो यथार्हो दण्डि-केशवौ।
न्यस्तपरिग्रहो भक्तिसाराक्षरी जनार्द्दनः॥
ऊर्ध्वमन्थि-त्यक्त-त्यक्तगृहावुर्ध्वरेता यथेष्टध्वक्।
विरक्तोदासीनौ त्यागी सिद्धान्ती श्रीधरः शिखी॥
बोधायनो त्रिविक्रमो गोविन्दो मधुसूदनः।
वैखानसो यथास्वो वै वामनो परमहंसकः॥
नारायण-हृषिकेशौ परिव्राजकमङ्गलौ।
माधवो पद्मनाभश्चौडुपिको भ्रामी वैष्णवः।
विष्णुदामोदरौ स्वामी गोस्वामी-परमोगरः।
भागवतोह्यकिञ्चनः सन्तो निष्किञ्चनो यतिः॥
क्षपणकोऽविषक्तश्चोर्ध्वपुण्ड्रो मुण्डि-सज्जनौ।
निर्विषयी हरेर्जनो श्रोती साधु बृहद्व्रती॥
स्थविरस्तत्परो पर्यटकाचार्यौ स्वतन्त्रधीः।
कथ्यन्ते यतिनामानि प्रथितानि महीतले।
अष्टोत्तरशतानि तु वैदिकाख्यानि तानि हि॥४०॥

(मुक्तिकोपनिषत् और सात्वत-संहिता)

(१) तीर्थ (२) आश्रम (३) वन (४) अरण्य (५) गिरि (६) पर्वत (७) सागर (८) सरस्वती (९) भारती एवं (१०) पुरी ये दशनामी संन्यासी हैं एवं

(११) गभस्तिनेमि (१२) वाराह (१३) क्षमिता (१४) परमार्थी (१५) तुर्याश्रमी (१६) निरीह (१७) त्रिदण्डि (१८) विष्णुदैवत (१९) भिक्षु (२०) यायावर (२१) विष्ट (२२) न्यासी (२३) राभसिक (२४) मुनि (२५) विष्टलग (२६) महावीर (२७) महत्तर (२८) यथागत (२९) नैष्कर्म्य (३०) परमाद्वैती, (३१) शुद्धद्वैती, (३२) जितेन्द्रिय (३३) तपस्वी (३४) नग्न (३५) राद्धान्ती (३६) भजनोन्मुख (३७) संन्यासी (३८) मस्करी (३९) क्लान्त (४०) निरग्नि (४१) नारसिंह (४२) उडूलोमी (४३) महायोग (४४) श्रुवाक् (४५) भवपारग (४६) श्रमण (४७) अवधूत (४८) शान्त (४९) यथार्ह (५०) दण्डी (५१) केश (५२) न्यस्त परिग्रह (५३) भक्तिसार (५४) अक्षरी (५५) जनार्दन (५६) उर्ध्द्वमन्थी (५७) त्यक्तगृह (५८) ऊर्ध्द्वरेतः (५९) यथेष्टधृक् (६०) विरक्त (६१) उदासीन (६२) त्यागी (६३) सिद्धान्ती (६४) श्रीधर (६५) शिखी (६६) बाधायन (६७) त्रिविक्रम (६८) गोविन्द (६९) मधुसूदन (७०) वैखानस (७१) यथास्व (७२) वामन (७३) परमहंस (७४) नारायण (७५) हृषिकेश (७६) परिव्राजक (७७) मङ्गल (७८) माधव (७९) पद्मनाभ (८०) उडूपिक (८१) भ्रामी (८२) वैष्णव (८३) विष्णु (८४) दामोदर (८५) स्वामी (८६) गोस्वामी (८७) परमगव (८८) भागवत (८९) अकिञ्चन (९०) सन्त (९१) निष्किञ्चन (९२) यति, (९३) क्षपणक (९४) अविषक्त (९५) ऊर्ध्द्वपुण्ड्र (९६) मुण्डी (९७) सज्जन (९८) निर्विषयी (९९) हरिजन (१००) श्रौती (१०१) साधु (१०२) वृहद्व्रती (१०३) स्थविर (१०४) तत्पर (१०५) पर्यटक (१०६) आचार्य (१०७) याजक (१०८) स्वतन्त्रधीः—सर्वसाकुल्यमें ये अष्टोत्तरशत-संख्यक संन्यास-नाम इस भूमण्डलमें प्रसिद्ध हैं। शास्त्रोंमें ये वैदिक संन्यासियोंके नाम उल्लखित हैं॥४०॥

'त्रिदण्डि' सर्व आश्रमस्थित पुरुषोंद्वारा प्रणम्य हैं—अन्यथा पाप है—

देवता-प्रतिमां दृष्ट्वा यतिं चैव त्रिदण्डिनम्।
नमस्कारं न कुर्याच्चेदुपवासेन शुद्धति॥४१॥

(एकादशीतत्त्वमें त्रिस्पृशैकादशी-प्रकरण-धृत स्मृति वाक्य)

देव प्रतिमा एवं त्रिदण्डि संन्यासीको देखकर यदि कोई नमन न करें तो उस व्यक्तिको उपवास द्वारा प्रायश्चित करना चाहिए॥४१॥

आश्रमातीत परमहंस वैष्णव चतुर्थ आश्रमियोंके द्वारा प्रणम्य हैं—

वैष्णवेर भक्ति-एइ देखान साक्षात्।
महाश्रमीओ वैष्णवेर करे दण्डवत्॥
संन्यास ग्रहण कैले हेन धर्म ताँर।
पिता आसि' पुत्रेरे करेन नमस्कार॥

अतएव संन्यासाश्रम सबार वन्दित।
'संन्यासी' 'संन्यासी' नमस्कार से विहित॥
तथापि आश्रमधर्म छाड़ि, वैष्णवेरे।
शिक्षागुरु श्रीकृष्ण आपने नमस्करे॥४२॥

(चै. भा. अन्त्य ८/१५२-१५३)

वैष्णवोंकी भक्तिको प्रदर्शित करनेके लिए श्रीमन्महाप्रभु स्वयं सर्वश्रेष्ठ संन्यास आश्रममें अवस्थित रहकर भी अन्य तीनों आश्रमोंमें अवस्थित भक्तिमान वैष्णवोंको दण्डवत् प्रणाम करते हैं। संन्यासाश्रमका ऐसा माहात्म्य है कि माता-पिता भी अपने संन्यासी पुत्रको प्रणाम करते हैं। सर्वश्रेष्ठ संन्यासाश्रम सबका वन्दनीय है। अतः शास्त्रके आदेशानुसार संन्यासीको प्रणाम करना अति आवश्यक है ऐसे सर्वश्रेष्ठ, सर्ववन्दनीय संन्यासाश्रमका भी उल्लंघनकर शिक्षा गुरु स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण चैतन्यमहाप्रभु वैष्णवोंको प्रणाम कर रहे हैं॥४२॥

सार्वभौम भट्टाचार्यका आचरण—

सार्वभौम बलेन—"आश्रमे बड़ तुमि।
शास्त्रमते तुमि वन्द्य, उपासक आमि॥"४३॥

(चै. भा. अन्त्य ३/७६)

सार्वभौम भट्टाचार्य बोले—आश्रमकी दृष्टिसे आप श्रेष्ठ संन्यास आश्रमी होनेके कारण मेरे वन्दनीय हैं तथा मैं आपका दास हूँ॥४३॥

संन्यासियोंके कर्त्तव्य, निर्भेद-ज्ञान संन्यासीकी निन्दा—

संन्यासी हइया निरवधि 'नारायण'।
बलिवेक प्रेम-भक्तियोगे अनुक्षण॥
ना बुझिया शङ्कराचार्येर अभिप्राय।
भक्ति छाड़ि' माथा मुड़ाइया दुःख पाय॥४४॥

(चै. भा. अन्त्य ३/५५-५६)

संन्यास धर्मको ग्रहणकर प्रेम-भक्ति योगके द्वारा सर्वदा निरन्तर 'नारायण' 'नारायण' उच्चारण करो। श्रीशङ्कराचार्यका यह अभिप्राय न समझकर भक्तिका परित्यागकर लोग केवल माथा मुड़ाकर दुःख-कष्ट ही प्राप्त करते हैं॥४४॥

कृष्णमें अहैतुकी भक्तिद्वारा ही आत्मा सुप्रसन्न होती है—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥४५॥

(श्रीमद्भागवत १/२/६)

मनुष्योंके लिए सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है, जिससे भगवान् श्रीकृष्णमें भक्ति हो— भक्ति भी ऐसी, जिसमें किसी प्रकारकी कामना न हो और जो नित्य-निरन्तर बनी रहे, ऐसी भक्तिसे हृदय आनन्दस्वरूप परमात्माकी उपलब्धि करके कृतकृत्य हो जाता है ॥४५ ॥

बान्ताशीकी निन्दा—

यः प्रव्रज्य गृहात् पूर्वं त्रिवर्गावपनात् पुनः।
यदि सेवेत तान् भिक्षुः स वै बान्ताश्यपत्रपः ॥४६ ॥

जो संन्यासी पहले तो धर्म, अर्थ और कामके मूल कारण गृहस्थाश्रमका परित्याग कर देता है और फिर उन्हींका सेवन करने लगता है, वह बान्तासी है अर्थात् अपने वमन किये हुएको खानेवाला है एवं अतिशय निर्लज्ज कहलाता है ॥४६ ॥

यैः स्वदेहः स्मृतोऽनात्मा मर्त्यो विट्कृमिभस्मवत्।
त एनमात्मसात्कृत्वा श्लाघयन्ति ह्यसत्तमाः ॥४७ ॥

संन्यास लेकर पुनः गृहासक्त होना असम्भव है, ऐसा नहीं है। जिन्होंने अपने शरीरको अनात्मा, मृत्युग्रस्त, विष्ठाग्रस्त और कृमि एवं राख समझ लिया है—वे ही मूढ़ फिर उसे आत्मा मानकर उसकी प्रशंसा करने लगते हैं— इसलिए वे अत्यन्त असत् हैं ॥४७ ॥

गृहस्थस्य क्रियात्यागो व्रतत्यागो वटोरपि।
तपस्विनो ग्रामसेवा भिक्षोरिन्द्रियलोलता ॥४८ ॥
आश्रमापसदा ह्येते खल्वाश्रमविड़म्बनाः।
देवमायाविमूढ़ास्तानुपेक्षेतानुकम्पया ॥४९ ॥

(श्रीमद्भागवत ७/१५/३६-३९)

गृहस्थ व्यक्तिका वर्णाश्रमोचित क्रिया त्याग, ब्रह्मचारीका गुरुकुल वासादि व्रतत्याग, वानप्रस्थीका पुनः अपने गांवमें वास और संन्यासीकी इन्द्रिय लालसा—ये सभी आत्म विडम्बनामात्र है। ये सभी निकृष्टाश्रमी हैं। इसलिए भगवान्‌की मायासे विमोहित होनेके कारण उनकी उपेक्षाकर देनी चाहिए, परन्तु उनको तत्त्वज्ञानोपदेशादि दान-रूप अनुकम्पा करना ही कर्त्तव्य है ॥४८-४९ ॥

बान्ताशी होना संन्यासीका कर्त्तव्य नहीं है—

संन्यासीर धर्म,—नहे संन्यास करिया।
निज जन्मस्थाने रहे कुटुम्ब लइया ॥५० ॥

(चै. च. म. ३/१७७)

संन्यास ग्रहणके पश्चात् अपने जन्मस्थानपर अपने पारिवारिकजनोंको साथ लेकर रहना संन्यासीका धर्म नहीं है। ऐसा करनेपर उस पतित संन्यासीको बान्तासी कहते हैं॥५०॥

आश्रमातीतोंका आचरण—

यदा यस्यानुगृह्णाति भगवानात्मभावितः।
स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठताम्॥५१॥

(श्रीमद्भागवत ४/२९/४६)

जिस समय परिपूर्ण ऐश्वर्यशाली भगवान् किसी भी जीवात्माके आत्मसमर्पणसे प्रसन्न होकर अथवा आत्मवृत्तिके द्वारा सेवित होकर उस पर कृपा करते हैं, उसी समय वह लौकिक व्यवहार एवं वैदिक कर्म मार्गकी बद्धमूल आस्थासे छुट्टी पा जाता है॥५१॥

आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान्।
धर्मान् सन्त्यज्य यः सर्वान् मां भजेत् स सत्तमः॥५२॥

(श्रीमद्भागवत ११/११/३२)

हे उद्धव! मैंने शास्त्रोंके रूपमें मनुष्योंके धर्मका उपदेश किया है, उसके गुण-दोषोंका विचारकर उस धर्म प्रवृत्तिको छोड़कर जो मेरा भजन करते हैं, वे परम सन्त हैं॥५२॥

वेदोंमें 'परमहंस' की कथा—

असौ स्वपुत्रमित्रकलत्रबन्धादीञ्छिखा-यज्ञोपवीते (यागंसत्रं) स्वाध्यायञ्च सर्वकर्माणि संन्यास्यायं ब्रह्माण्डञ्च हित्वा कौपीनं दण्डमाच्छादनञ्च स्वशरीरोपभोगार्थाय च लोकस्योपकारर्थाय च परिग्रहेत् तच्च न मुख्योऽस्ति कोऽयं मुख्य इति। न दण्डं (न कमण्डलुं) न शिखां न यज्ञोपवीतं न चाच्छादनं चरति परमहंसः॥५३॥

(परमहंसोपनिषद् १-२)

परमहंसगण निजपुत्र, मित्र, स्त्री, बन्धु, आत्मीय स्वजन, शिखा, सूत्र, वेदाध्ययन, लौकिक और वैदिक सभी कर्मोंका परित्यागकर इस ब्रह्माण्डके साथ सम्बन्ध विच्छेदकर केवलमात्र व्यवहार-निर्वाहक स्वयंके शरीरकी रक्षा एवं जगत्के जीवोंका उपकार करनेके लिए कौपीन, दण्ड, वस्त्र-आच्छादन करेंगे, ये सभी उनकी ग्रहण करने योग्य मुख्य वस्तु नहीं हैं। परमहंस दण्ड, शिखा, यज्ञोपवीत, बहिर्वास आदि ग्रहण न करके इच्छानुसार विचरण कर सकते हैं॥५३॥

दण्ड भङ्गलीलाका तात्पर्य; काय, वाक्य और मनको दण्डित करनेके लिए 'त्रिदण्ड' धारण, भगवान् या परमहंस लीलाभिनयकारी गौरसुन्दरके दण्ड धारण की निष्प्रयोजनीयताका प्रतिपादन—

अहे दण्ड, आमि जारे वहिये हृदये।
से तोमारे वहिबेक एत' युक्त नहे॥
एत बलि' बलराम परम–प्रचण्ड।
फेलिलेन दण्ड भाङ्गि 'करि' तीन खण्ड॥५४॥

(चै. भा. अ. २/२०७–२०८)

रे दण्ड! जिन्हें मैं अपने हृदयमें धारणकर वहन करता हूँ, वे आज तुमको ढो रहे हैं, यह उचित नहीं है। ऐसा कहकर प्रचण्ड प्रभावशाली बलरामरूपी नित्यानन्दप्रभुने श्रीमन्महाप्रभुजीके उस दण्डके तीन खण्ड कर नदीमें बहा दिये॥५४॥

तिन खण्ड करि' दण्ड दिला भासाइया।

(चै. च. म. ५/१४३)

दण्ड भङ्ग लीला—एइ परम गम्भीर।
सेइ बुझे, दुहाँर पदे जार भक्ति धीर॥५५॥

(चै. च. म. ५/१५८)

श्रीनित्यानन्दप्रभुके द्वारा प्रकटित यह दण्ड भङ्ग लीला बहुत ही गम्भीर है। जिसकी इन दोनोंके चरणोंमें दृढ़भक्ति है, एकमात्र वही इसे समझ सकते हैं॥५५॥

केवलमात्र रागमार्गीय परमहंसोंको गेरुआ वस्त्र पहिननेके विषयमें निषिद्धता—

रक्तवस्त्र 'वैष्णवेर' परिते ना जुयाय॥५६॥

(चै. च. अ. १३/६१)

वैष्णवोंके लिए रक्त वस्त्र धारण करना सर्वथा अनुचित है। इस पयारके अनुभाष्यमें जगद्गुरु श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वतीजी कहते हैं—शुद्ध वैष्णवगण परमहंस व अकिञ्चन होते हैं। वे वैध वर्ण और आश्रम–धर्मके अधीन नहीं हैं। वैध–संन्यासीके लिए परिधेय गैरिक वसन धारण करना उनके लिए आवश्यक नहीं है। विशेषतः अद्वितीय परमेश्वर श्रीगौरहरिके एक दण्डी संन्यासीका वेष अङ्गीकार करनेके कारण उनके पदाश्रित किङ्कर उनके जैसा वेष ग्रहण करना अनुचित समझते हैं। इसके विपरीत वैष्णव दासानुदास परमहंस वैष्णवोंके आश्रयमें रहकर भजन करते हैं। वे वर्णाश्रमातीत परमहंस वैष्णवोंकी बराबरी कर उनकी मर्यादा भंग नहीं करना चाहते। इसलिए अपनेको दीन–हीन अयोग्य मानकर परमहंस वैष्णवोंकी सेवा करनेके लिए आश्रमके अधीन गैरिक वसन धारण करते हैं। यह उनकी दीनता है॥५६॥

भागवतमें परमहंसोंके आचरणका वर्णन—

एवं व्रतः स्वप्रियनामकीर्त्यो जातानुरागो द्रुतचित्तउच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥५७॥

(श्रीमद्भागवत ११/२/४०)

प्रेम लक्षण भक्तियोगसे भगवत्-सेवाव्रतधारी साधुपुरुषोंके हृदयमें एकान्तप्रिय श्रीभगवान्के नाम सङ्कीर्त्तनसे अनुराग एवं प्रेमका अंकुर उग आता है। उसका चित्त द्रवित हो जाता है। अब वह साधारण लोगोंकी स्थितिसे ऊपर उठ जाता है। लोक लज्जा छोड़कर कभी हँसने लगता है, तो कभी फूट-फूटकर रोने लगता है। कभी ऊँचे स्वरसे भगवान्को पुकारने लगता है, तो कभी मधुर स्वरसे उनके गुणोंका गान करने लगता है एवं कभी उनको रिझानेके लिए नृत्य भी करने लगता है॥५७॥

'परमहंस' का अथवा 'मुक्त मेरा' का अभिमान—

नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो
नाहं वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यति-र्वा।
किन्तु प्रोद्यन्निखिलपरमानन्द पूर्णामृताब्धे-
र्गोपीभर्त्तुः पदकमलयो-र्दास-दासानुदासः॥५८॥

(पद्यावली ६३ श्लोक)

मैं ब्राह्मण नहीं हूँ, क्षत्रिय-राजा नहीं हूँ, वैश्य अथवा शूद्र भी नहीं हूँ, अथवा ब्रह्मचारी नहीं हूँ, संन्यासी भी नहीं हूँ; किन्तु उन्मीलित (अर्थात् नित्य स्वतः प्रकाशमान) निखिल परमानन्दपूर्ण-अमृतसमुद्ररूप श्रीकृष्णके पादपद्मोंका दास- दासानुदास कहकर अपना परिचय देता हूँ॥५८॥

परिशिष्ट

यशःश्रियामेव परिश्रमः परोवर्णाश्रमाचारतपः श्रुतादिषु।
अविस्मृतिः श्रीधरपादपद्मयोर्गुणानुवादश्रवणादिभिर्हरेः॥१॥

(श्रीमद्भागवत १२/१२/५३)

वर्णाश्रमके अनुकूल आचरण, तपस्या और अध्ययन आदिके लिए जो बहुत बड़ा परिश्रम किया जाता है उसका फल है—केवल यश अथवा लक्ष्मीकी प्राप्ति। परन्तु भगवान्के गुण, लीला, नाम आदिका श्रवण, कीर्त्तन आदि तो उनके श्रीचरणकमलोंकी अविचल स्मृति प्रदान करता है॥१॥

गार्हस्थ्यकृत्यसम्प्राप्तौ नरमात्राधिकारिता।
ब्रह्मचर्यादिकृत्ये तु त्रैवर्णिकमपेक्ष्यते॥२॥

(संस्कार-दीपिका १)

गृहस्थाश्रममें मनुष्यमात्रका अधिकार है; किन्तु ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास—इन तीनों आश्रमोंके कर्त्तव्यके विषयमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीन वर्णोंकी अपेक्षा रहती है अर्थात् उक्त तीन आश्रमोंमें तीन वर्णोंका ही अधिकार है॥२॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशामाश्रमो विधिबोधितः।
स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धूनामाश्रमः प्रतिषेधितः॥३॥

(संस्कार-दीपिका २)

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य— इनका आश्रम अधिकार शास्त्र विहित है। स्त्री, शूद्र और द्विजबन्धु अर्थात् पतित ब्राह्मणोंका आश्रम अधिकार शास्त्रोंमें निषिद्ध है॥३॥

अतएव श्रीभगवद्दीक्षादिना स्वरूपतो द्विजत्वादिसम्भवात् गेहादौ वैराग्येण विष्णुसंन्यासाच्युतगोत्रादिकं सिद्धमेव। तत्तच्चिह्नत्यागेनावधूतपरम-हंसादित्वमपि सिद्धमित्यविरुद्धम्। एवम्प्रकारेण श्रीहरिभक्तिविलासकृद्भिः श्रीशालग्रामसेवनादौ दत्ताधिकाराणां मध्ये स्त्रीणामपि कौपीनं विना सम्प्रदायि वैष्णवकरणसुविज्ञेन गुरुणादत्त-बहिर्वासवद्-भेकाङ्गभूतचीरखण्डयुग्मवानादि-धारणेन ब्रह्मचर्याद्याश्रमादिकमप्यविरोधसिद्धमिति॥४॥

(संस्कार-दीपिका २१)

अतएव पाञ्चरात्रिकी दीक्षा-विधानके अनुसार सद्गुरुसे भगवन्नाम मन्त्रमें दीक्षादि ग्रहणके द्वारा स्वरूपतः विप्रत्वादिकी प्राप्ति हो जाती है, वैसे दैक्ष-ब्राह्मणका घर-बारसे वैराग्य होनेपर विष्णु-संन्यास और अच्युतगोत्रादि सिद्ध हो जाता है। अनन्तर वह संन्यास चिह्नादि परित्यागपूर्वक अवधूत, परमहंसत्वादि अवस्थाको प्राप्त करता है। यह सब प्रकारसे सुसङ्गत है। इस प्रकार हरिभक्तिविलासके लेखक द्वारा जिन लोगोंको श्रीशालग्राम-सेवादिका अधिकार दिया गया है, उनमेंसे स्त्रियोंको भी साम्प्रदायिक-वैष्णवता-सम्पादनमें सुविज्ञ गुरुदेव बहिर्वासकी भाँति भेक (वेष) के अङ्गीभूत दो खण्ड चीर-वस्त्र प्रदान किया करते हैं। इस प्रकार दोनों चीर-खण्डोंको धारणकरके स्त्रियोंको भी ब्रह्मचर्य आदि आश्रम सुसङ्गत सिद्ध है—इसमें तनिक भी सन्देह की बात नहीं है॥४॥

यतश्चतुर्वर्णानां मध्ये ब्राह्मणाद्येकतरोऽपि कश्चिदच्युतगोत्रोऽहमिति न ब्रूते। चत्वारः साम्प्रदायिका भेकधारिणस्तु सर्वेऽप्यच्युतगोत्रोऽहमिति वदन्ति (इति) लौकिक-शास्त्रीय व्यवहारनिष्पतौ न किञ्चिदनुपपन्नमितिस्थितम्। तस्मादेव श्रीरामानुजाचार्यादीनां मतावलम्बिनो वैष्णवाः प्रथमं यागादिस्थानं

विधाय यान् कान् शूद्रादिबालकानपि संगृह्य क्षौरादिकं कारयित्वा, स्वयं विष्णुहोमादिकं कृत्वा, पूर्वाचार्यादीन् विधिवत् सम्पूज्य च, तान् बाालकादिकान् पञ्चसंस्कारान् धारयित्वा द्विजत्वमासाद्य, पश्चात् याज्ञवल्क्यादिकृतपद्धतिमतानुसारेण गर्भाधानद्युप-नयनान्तान् संस्कारान् कारयित्वा, वेदमातरं सावित्रीमपि दीक्षयित्वा, पश्चाद् स्वसम्प्रदायिमन्त्रस्य दीक्षयित्वा,—श्रीगुर्वादीन् श्रीशालग्रामादिनप्यर्चयित्वा, पश्चात् भिक्षूपयोगी-कौपीन-बहिर्वास-झूलि-कन्था-संन्यासमन्त्रानपि दत्वा पुनः संन्यासिनः कुर्वन्तीति प्रसिद्धं सर्वैः दृष्टं श्रुतञ्चेति॥५॥

(संस्कार-दीपिका २९)

चारों वर्णोंमें ब्राह्मणादि किसी वर्णका कोई भी व्यक्ति अपनेको अच्युत गोत्र नहीं कहता है। दूसरी ओर चारों शुद्ध भक्ति सम्प्रदायोंके भेकधारी सभी लोग अपनेको 'मैं अच्युत गोत्रका हूँ' ऐसा कहते हैं। इससे लौकिक और शास्त्रीय व्यवहार सम्पादनमें तनिक भी अयौक्तिकता नहीं होती, अतएव यही व्यवस्था है। इस विचारसे श्रीरामानुजाचार्य आदि मतावलम्बी वैष्णवगण पहले याग आदिके स्थानकी व्यवस्था करते हैं, पीछे शूद्रादि वर्णोंसे प्राप्त बालकोंका क्षौर कराकर स्वयं विष्णु-होमादि सम्पादनकर, पूर्वाचार्योंकी यथाविधि पूजाकर उन बालकोंको पञ्चसंस्कार प्रदानपूर्वक द्विजत्व विधान करते हैं। उसके पश्चात् याज्ञवल्क्य आदि द्वारा रचित पद्धतिके अनुसार गर्भाधानसे उपनयन पर्यन्त संस्कारोंको सम्पादन कराकर वेदमाता गायत्रीके मन्त्रमें दीक्षित करते हैं। उसके पश्चात् अपने-अपने साम्प्रदायिक मन्त्रमें दीक्षितकर श्रीगुरु-परम्परा और श्रीशालग्राम शिला आदिका अर्चन करते हैं। तत्पश्चात् भिक्षुक (संन्यास) के उपयोगी बहिर्वास-झोली-कन्था और संन्यास-मन्त्र प्रदानकर संन्यासी बनाते हैं। यह प्रसिद्ध प्रथा सभी देखते और सुनते हैं॥५॥

अस्माकन्तु श्रीमन्महाप्रभोरनुमतेन श्रीगोस्वामिचरणादयः (१) प्रथमतः श्रीभगवदालयादिषु गृहादिस्थानानि संशोध्य, तत्र श्रीविष्णु होमं कृत्वा, विधिवदाचार्यादीन् सम्पूज्य च शूद्रादिकान् यथावत् दीक्षितांश्चक्रिरे। किम्वा (२) तत्र केवलमासनादीन् संस्थाप्य श्रीमध्वाचार्यादीन् सपार्षद-श्रीकृष्णचैतन्यादींश्च पञ्चोपचारैः पूजयित्वा, किम्वा (३) तत्र श्रीकृष्णचैतन्य-श्रीमन्नित्यानन्द- श्रीअद्वैत-श्रीगदाधर-श्रीवासान् पञ्चतत्त्वात्मकान् पाद्यादिभिः पञ्चोपचारैर्विधिवत् सम्पूज्य स्त्री-शूद्रादिबालकादिकान् यान् कानपि संगृह्य क्षौर-स्नानादिकं कारयित्वा, ताप-पुण्ड्रादिकञ्च धारयित्वा श्रीहरेर्नामोपदिश्य च, पश्चाद् षडक्षराद्यष्टादशाक्षरान्तरेषु मन्त्रेषु मध्ये कमपि भगवन्मन्त्रमुपदिश्य, तान्

वैष्णवान् विधाय, तत्पूर्वकालीन वैष्णवत्व-प्राप्तान् वा, वैष्णवत्वेन द्विजत्वसिद्धेः पुनस्तांस्तान् श्रीभवदेवाद्यनुमतेन विधिना गर्भाधानाद्युपनयनान्तसंस्कारान् कारयित्वैव भिक्षूपयोगिसंन्याससंस्कारदिकं धारयन्तीति प्रथा॥६॥

(संस्कार-दीपिका ३०)

हमारे गौड़ीय-वैष्णव-सम्प्रदायकी प्रथा यह है—श्रीगोस्वामीवर्ग श्रीमन्महाप्रभुकी आज्ञासे (१) सर्वप्रथम श्रीमन्भगवत्‌मन्दिरादिमें गृह इत्यादिके स्थानको शोधनकर वहाँ श्रीविष्णु होम और यथाविधि आचार्य-परम्पराकी पूजा सम्पन्नकर शूद्र आदि सभीको (अधिकार विचारपूर्वक) दीक्षित करते आ रहे हैं। अथवा (२) वहाँ (भगवद्‌गृहादिमें) आसन आदि स्थापनपूर्वक श्रीमध्व प्रभृति आचार्यगण और सपार्षद श्रीकृष्णचैतन्य आदिकी पञ्चोपचारसे पूजाकर, अथवा (३) वहाँ पञ्चतत्त्व-स्वरूप-श्रीकृष्णचैतन्य, श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु, श्रीअद्वैताचार्य, श्रीगदाधर और श्रीवासादि पञ्चतत्त्वकी पञ्चोपचारसे यथा-विधान पूजाकर—स्त्री, शूद्र, बालक आदि किसी भी व्यक्तिको (अधिकार विचारकर) क्षौर, स्नान आदि तथा (शीतल) ताप और ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक आदि धारण कराकर श्रीहरिनामका उपदेश दिया करते हैं। पीछे षडाक्षर या अष्टादशाक्षर मन्त्रोंमेंसे कोई एक मन्त्र उपदेश करते हुए उनको वैष्णव बनाते हैं। वैष्णवताके द्वारा स्वयं ही द्विजत्वकी सिद्धि होती है। इसलिए उनको पहले सद्गुरुके निकट पञ्चसंस्कारमें दीक्षा विधानकर वैष्णवता प्राप्त व्यक्तियोंके भवदेव प्रभृतिके अनुमोदित विधानके अनुसार गर्भाधान आदि उपनयन संस्कारका सम्पादन सम्पन्नकर उनको भिक्षुके उपयोगी संन्यास संस्कार प्रदान करते हैं॥६॥

यदि मां प्राप्तुमिच्छन्ति प्राप्नुवन्त्येव नान्यथा।
कलौ कलुषचित्तानां वृथायुःप्रभृतीनि च।
भवन्ति वर्णाश्रमिणां न तु मच्छरणार्थिनाम्॥७॥

(भक्तिसन्दर्भ ९९)

ब्रह्मवैवर्त पुराणमें श्रीविष्णुने श्रीमहादेवको कहा है कि जो लोग मुझे प्राप्त करना चाहते हैं, वे मुझे ही प्राप्त करते हैं इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। कलियुगमें जो केवल वर्ण और आश्रमोचित आचरण करते हैं, वे अत्यन्त कलुषचित्त हैं, उनका जीवन धारण करना ही व्यर्थ है, किन्तु मेरी शरण चाहने वालोंका जीवनधारण करना कभी भी निरर्थक नहीं होता॥७॥

इति गौड़ीय-कण्ठहारमें 'आश्रमधर्म-तत्त्व' वर्णन नामक पन्द्रहवाँ रत्न समाप्त।

U U U

सोलहवाँ रत्न

शुद्ध-श्राद्ध-तत्त्व

महाप्रसाद द्वारा ही वैष्णव या आत्मवस्तुकी तृप्ति होती है,
आत्मीयजनको महाप्रसाद अर्पण करनेपर ही शुद्ध श्राद्ध है,
तद्विपरीत अनुष्ठान विद्ध या राक्षस श्राद्ध है—

प्राप्ते श्राद्धदिनेऽपि प्रागन्नं भगवतेऽर्पयेत्।
तच्छेषेणैव कुर्वीत श्राद्धं भागवतो नरः॥१॥

(ह. भ. वि. ९/८४ कूर्मपुराण वाक्य)

भगवन्निष्ठ व्यक्ति श्राद्धके दिन भी सर्वप्रथम भगवान्‌को अन्न प्रदानकर भोग देंगे, उस निवेदित अन्नके शेषभाग द्वारा ही श्राद्ध-अनुष्ठान करना चाहिए॥१॥

विष्णोर्निवेदितान्नेन यष्टव्यं देवतान्तरम्।
पितृभ्यश्चापि तद्देयं तदानन्त्याय कल्पते॥२॥

(ह. भ. वि. ९/८७ पद्मपुराण वाक्य)

विष्णुको निवेदित अन्नद्वारा अन्यान्य देवताओंकी पूजा करना कर्त्तव्य है, पितृपुरुषोंको भी वही महाप्रसादान्न अर्पण करना चाहिए। भगवान् विष्णु अखण्ड या अनन्त वस्तु हैं तथा महाप्रसाद विष्णुसे अभिन्न है। वह खण्डित वस्तु नहीं है। वह पितृ या देवताओंको अर्पित होनेपर आनन्त्य धर्म अर्थात् उनको भगवत्सेवा प्राप्तिकी योग्यता प्रदान करता है॥२॥

भक्ष्यं भोज्यञ्च यत् किञ्चिदनिवेद्याग्रभोक्तरि।
न देयं पितृदेवेभ्यः प्रायश्चित्तीयतो भवेत्॥३॥

(ह. भ. वि. ९/९५ विष्णुधर्मवाक्य)

सर्वप्रथम भगवान्‌को कुछ आहार दिये बिना पितृजनोंको नहीं देना चाहिए, क्योंकि अनिवेदित द्रव्य अर्पण करनेपर प्रायश्चित्त ही होगा॥३॥

वैष्णवोंका कुश-धारण करना निषिद्ध है—

सङ्कल्पं च तथा दानं पितृदेवार्चनादिकम्।
विष्णुमन्त्रोपदिष्टश्चेन्न कुर्यात् कुशधारणम्॥४॥

(स्कान्दे-रेवाखण्डे)

यदि कोई व्यक्ति विष्णुमन्त्रसे (उपादिष्ट) दीक्षित होते हैं तो उन्हें सङ्कल्प, दान, पितृ-देवादिका अर्चन आदि एवं कुश धारण नहीं करना चाहिए॥४॥

भगवद्भक्तोंको गया श्राद्ध या पिण्डादि प्रदान करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है—

किं दत्तैर्बहुभिः पिण्डै-र्गयाश्राद्धादिभिर्मुने।
यैरर्चितो हरि-र्भक्त्या पित्र्यर्थञ्च दिने दिने॥५॥

(ह. भ. वि. ९/९३ स्कन्दवाक्य)

हे ऋषे! जो व्यक्ति प्रतिदिन पित्रोंके निमित्त भक्तिपूर्वक श्रीहरिकी अर्चना करते हैं, गया श्राद्धादि या बहुतसे पिण्डदानकी उन्हें क्या आवश्यकता है? अर्थात् उन्हें गया श्राद्धादिकी कोई आवश्यकता नहीं है॥५॥

अज्ञान-कर्मसङ्गियोंकी वञ्चना, सेवोन्मुख जीवोंका सद्गुरु-पदाश्रयका माहात्म्य-प्रदर्शन और कर्ममार्गीय श्राद्धका 'श्राद्ध' अर्थात् निरर्थकता-सम्पादनके लिए ही श्रीगौरसुन्दरकी गया यात्रा और गया श्राद्धादि-लीलाका प्रदर्शन—

प्रभु बले,—गया-यात्रा सफल आमार।
जतक्षणे देखिलाङ चरण तोमार॥
तीर्थे पिण्ड दिले से निस्तरे पितृगण।
सेह, जारे पिण्ड देय, तरे, सेइ जन॥
तोमा, देखिलेइ मात्र कोटि-पितृगण।
सेइ क्षणे सर्वबन्ध पाय विमोचन।
अतएव तीर्थ नहे तोमार समान।
तीर्थेर परम तुमि मङ्गल-प्रधान॥
संसार समुद्र हइते उद्धारह मोरे।
एइ आमि देह समर्पिलाङ तोमारे॥
कृष्णपादपद्मेर अमृत-रसपान।
आमारे कराओ तुमि एइ चाहि दान॥६॥

(चै. भा. आ. १७/५०-५५)

श्रीचैतन्यमहाप्रभु अपने गुरुदेव श्रीईश्वरपुरीजीको कह रहे हैं कि आपके श्रीचरणोंके दर्शनसे मेरी गया यात्रा सफल हो गई। तीर्थोंमें पिण्ड देनेसे पितृगणका उद्धार होता है, किन्तु इससे केवल वही पितृपुरुष तरता है जिसको पिण्ड दिया जाता है। पर आपके दर्शनमात्रसे ही करोड़ों पितृगण संसारके सभी बन्धनोंसे तत्क्षण ही मुक्त हो जाते हैं। अतः आपके समान प्रभावशाली कोई तीर्थ नहीं

हैं। आप तीर्थोंका भी परम मङ्गल विधान करनेवाले हैं। मैंने यह शरीर आपके श्रीचरणोंमें समर्पित कर दिया। आप अनुग्रहकर इस संसार-समुद्रसे मेरा उद्धार करें। मैं श्रीकृष्णके चरणकमलोंका रसपान करना चाहता हूँ, आप मुझे यही प्रदान करें॥६॥

कर्मजड़ स्मार्त्तगण वञ्चित हैं और पुनः पुनः वञ्चित होना ही योग्यतासम्पन्न, उनकी अवञ्चनपरा कथा सुननेको कर्ण विधाता द्वारा बन्द हैं, अतएव उनको गुरुतर 'वैष्णवापराध' से मुक्त वैष्णवोंको उनकी वञ्चना ही करनी चाहिए—

स्वभावस्थैः कर्मजड़ान् वञ्चयन् द्रविणादिभिः।
हरेर्नैवेद्यसम्भारान् वैष्णवेभ्यः समर्पयेत्॥७॥

(ह. भ. वि. ९/१०३ संख्याधृत प्रह्लाद पञ्चरात्र-वाक्य)

कर्मजड़ स्मार्त्त अवैष्णवोंको अनिवेदित द्रव्यदान अथवा उनके लोभनीय अर्थादि प्राकृत वस्तु द्वारा वञ्चना करके वैष्णवोंको ही श्रीहरिका नैवेद्य प्रदान करना चाहिए॥७॥

कर्ममार्गीय श्राद्धका ही नामान्तर राक्षस श्राद्ध है—

यस्तु विद्याविनिर्मुक्तं मूर्खं मत्वा तु वैष्णवम्।
वेदविद्भ्योऽददाद्विप्रः श्राद्धं तद्राक्षसं भवेत्॥८॥

(ह. भ. वि. ९/९७ स्कन्दपुराणवाक्य)

जो वैष्णवको 'विद्याहीन मूर्ख' जानकर वेदज्ञोंको श्राद्ध देता है—वह 'श्राद्ध' राक्षस द्वारा ग्रहण किया हुआ होता है॥८॥

अद्वैताचार्यका आचरण—

आचार्य कहेन,—"तुमि ना करिह भय।
सेइ आचरिब जेइ शास्त्रमत हय॥
तुमि खाइले हय कोटि-ब्राह्मण-भोजन।
एत बलि' श्राद्ध-पात्र कराइल भोजन॥९॥

(चै. च. अ. ३/२१९-२०)

श्रीअद्वैताचार्यजीने श्रीहरिदास ठाकुरको कहा—आप भयभीत न हों मैं वही करूँगा जो शास्त्र कहते हैं। आपको भोजन करानेसे करोड़ों-करोड़ों ब्राह्मणोंको भोजन कराना हो जायेगा। ऐसा कहकर उन्होंने श्रीहरिदास ठाकुरको भगवत् निवेदित उत्तम श्राद्ध-पात्र प्रदान किया और उन्हें भोजन कराया॥९॥

ऐकान्तिकोंका चरित्र—

एवमेकान्तिनां प्रायः कीर्त्तनं स्मरणं प्रभोः।
कुर्वतां परमप्रीत्या कृत्यमन्यन्न रोचते॥१०॥

(ह. भ. वि. २० वें विलासमें विष्णुरहस्य वाक्य)

जो समस्त ऐकान्तिक भक्त इस प्रकार परम प्रीतिपूर्वक प्रभु श्रीविष्णुका कीर्त्तन और स्मरण करते हैं, उनकी अन्य किसी भी कृत्यमें प्रायः रुचि नहीं होती॥१०॥

नामाश्रयी एकान्ती गृहस्थ वैष्णवको भी श्राद्ध-कर्मादिकी आवश्यकता नहीं है—

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं दानं सङ्कल्पमेव च।
दैवं कर्म तथा पैत्रं न कुर्याद्वैष्णवो गृही॥११॥

(श्रीलगोपालभट्ट गो. कृत सत्क्रियासार दीपिका धृत संहिता-वाक्य)

स गृही अनन्यशरणत्वेन केवलश्रीविष्णुपूजादिकं विना नित्यादिकं किञ्चित् कर्म न करिष्यतीत्यन्वयः॥११॥

(सत्क्रियासार दीपिका ३५ पृष्ठ संख्या)

विष्णुमें अनन्यशरण गृहस्थ वैष्णवको नित्य, नैमित्तिक, काम्य, दान, सङ्कल्प, दैव एवं पैतृकर्म (श्राद्धादि) नहीं करना चाहिए॥११॥

शुद्धः पूतः सदा कार्ष्णः कुशधारणवर्जितः।
काम - सङ्कल्प - रहितश्चान्तर्बाह्यहरिर्यतः॥
वैष्णवो नान्य-विबुधानर्च्चयेत्तांश्च नो नमेत्।
न पश्येत्तान्नगायेच्च न निन्देत न स्मरेत्तथा।
तेषां न भक्षेदुच्छिष्टं अनन्यो नैष्ठिको मुनिः।
न तज्जनानां देवर्षे सङ्गं कुर्यात् प्रयत्नतः॥१२॥

(सत्क्रियासार दीपिका २० पद्मवाक्य)

कृष्णभक्त सर्वदा शुद्ध, पवित्र एवं कुशधारणसे वर्जित हैं। इसलिए, वे काम-सङ्कल्प रहित एवं अन्तर्बाह्य हरिमय हैं। वैष्णवोंको अन्य देवताओंकी पूजा एवं उनका दर्शन, प्रणाम नहीं करना और न ही उनकी निन्दा अथवा स्मरण करना चाहिए। अनन्य निष्ठ वैष्णव मुनि उनका उच्छिष्ट (जूठा) भी नहीं खावें। हे देवर्षे! अन्य सभी देवभक्तोंके सङ्गकी भी चेष्टा नहीं करनी चाहिए॥१२॥

परिशिष्ट

पितृशेषन्तु यो दद्याद्धरये परमात्मने।
रेतोदाः पितरस्तस्य भवन्ति क्लेशभागिनः॥१॥

(ह. भ. वि. ९/१००)

जो व्यक्ति पितरोंको अग्रभाग प्रदान करके बचा हुआ भाग श्रीहरिको निवेदन करता है, उसके पितर रेतः (वीर्य) रूप उदक प्राप्तकर क्लेशके भागी होते हैं॥२॥

दक्षादयश्च पितरो भृत्या इन्द्रादयः सुराः।
अतस्तद्भुक्तशेषन्तु विष्णोर्नैव निवेदयेदिति॥२॥

(ह. भ. वि. ९/१०१)

दक्षादि पितर और इन्द्रादि देवतागण ये सभी श्रीहरिके भृत्य हैं। भृत्यकी जूठन प्रभुको देना शास्त्र निषिद्ध है। अतः इनलोगोंका भुक्तावशेष श्रीहरिको निवेदन नहीं करना चाहिए॥२॥

स्वभावस्थः कर्मजड़ान् वञ्चयन् द्रविणादिभिः।
हरेर्नैवेद्यसम्भारान् वैष्णवेभ्यः समप्रयेत्॥३॥

(ह. भ. वि. ९/१०३)

स्वाभाविक रूपसे कर्ममें और जड़विद्यामें आसक्त व्यक्तियोंको (अवैष्णवोंको) धनादि द्वारा वञ्चना करके श्रीहरिका नैवेद्य वैष्णवोंको समर्पण करेंगे॥३॥

अनर्चयित्वा गोविन्दं यैर्भुक्तं धर्मवर्जितैः।
श्वानविष्ठासमं चान्नं नीरं च सुरया समं॥४॥

(ह. भ. वि. ९/१०५)

जो धर्महीन पुरुष भगवान् श्रीगोविन्दका अर्चन न करके स्वयं भोजन करता है, उनके लिए अन्न कुत्तेकी विष्ठा और जल शराबके बराबर होता है॥४॥

यानि कानि च पापानि ब्रह्महत्या-समानि च।
अन्नमाश्रित्य तिष्ठन्ति सम्प्राप्ते हरिवासरे।
तानि पापान्यवाप्नोप्ति भुञ्जानो हरिवासरे॥५॥

(नारदपुराण)

एकादशी तिथि आनेपर ब्रह्महत्यादि सभी पाप अन्नका आश्रय करके रहते हैं, इसलिए एकादशी दिनमें अन्न भोजन करनेसे पूर्वोक्त पापोंको ग्रहण करना पड़ता है॥५॥

एकादश्यां मुनिश्रेष्ठ! श्राद्धे भुङ्क्ते नरो यदि।
प्रतिग्रासं स हि भुङ्क्ते किल्बिषं मूत्र विष्मयं॥६॥

(सनत्कुमार संहिता)

हे मुनिश्रेष्ठ! कोई मनुष्य एकादशी तिथिमें श्राद्ध भोजन करता है तो उसे प्रतिग्रासमें ही विष्ठा, पेशाबयुक्त पाप भोजन करना पड़ता है॥६॥

इति गौड़ीय-कण्ठहारमें 'शुद्धश्राद्ध-तत्त्व' वर्णन नामक सोलहवाँ रत्न समाप्त।

U U U

सत्रहवाँ रत्न

श्रीनाम-तत्त्व

सभी धर्मोंके मूल एकमात्र भगवान् हैं—

धर्ममूलं हि भगवान् सर्ववेदमयो हरिः।
स्मृतञ्च तद्विदां राजन् येन चात्मा प्रसीदति॥१॥

(श्रीमद्भागवत ७/११/७)

हे राजन्! सर्वदेवमय भगवान् श्रीहरि, उनका तत्त्व जाननेवाले महर्षियोंकी स्मृतियाँ और जिससे आत्मग्लानि न होकर आत्मप्रसादकी उपलब्धि हो वह कर्म धर्मके मूल हैं॥१॥

'हरि' बिना गति नहीं है—

तपन्तु तापैः प्रपतन्तु पर्वतादटन्तु तीर्थानि पठन्तु चागमान्।
यजन्तु यागैर्विवदन्तु वादैर्हरिं विना नैव मृतिं तरन्ति॥२॥

(भावार्थ दीपिका १०/८७/२७)

तापक्लेश पाकर कई प्रकारकी तपस्या करो, भृगुपातका अनुष्ठान करो (पर्वतसे पतनका नाम 'भृगुपात' है), बहुतसे तीर्थोंमें विचरण करो, वेदोंका अध्ययन ही क्यों न करो, चाहे बहुत प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान करो, अनेक तर्क करो, परन्तु (अन्तःकालमें) हरिस्मरण बिना कोई भी मृत्युका अतिक्रमण नहीं करा सकता॥२॥

भगवन्नाम-ग्रहण ही जीवका नित्य और पर-धर्म है—

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः।
भक्तियोगो भगवति तन्नाम - ग्रहणादिभिः॥३॥

(श्रीमद्भागवत ६/३/२२)

इस जगत्में जीवोंके लिए एकमात्र यही सबसे बड़ा कर्त्तव्य अर्थात् परमधर्म है कि वे नाम कीर्त्तन आदि उपायोंसे भगवान्के चरणोंमें भक्तिभाव प्राप्त कर लें॥३॥

'नाम' श्रुतिका सार और मुक्तकुलोंकी उपास्य वस्तु है—

निखिल-श्रुतिमौलि-रत्नमालाद्युतिनीराजित पादपङ्कजान्त।
अयि मुक्तकुलैरुपास्यमानं परितस्त्वां हरिनाम संश्रयामि॥४॥

(श्रीरूपगोस्वामी कृत श्रीनामाष्टकका १ श्लोक)

हे हरिनाम! मैं आपका सर्वतोभावसे आश्रय ग्रहण करता हूँ, क्योंकि आपका महत्त्व विचित्र है। देखो, समस्त श्रुतियोंकी मुकुटमणिरूप उपनिषद्स्वरूप रत्नोंकी मालाकी चमचमाती हुई कान्तिके द्वारा आपके नखकमलकी आरती उतारी जाती है, और मुक्त मुनिगण भी आपकी उपासना करते रहते हैं। (अर्थात् नामाभाससे मुक्ति होती है, मुक्त व्यक्ति ही शुद्ध नाम ग्रहण करनेका अधिकारी है, दश प्रकारके अपराधोंसे युक्त अथवा अपराधशून्य और सम्बन्धज्ञान हीन होकर 'नामाक्षर' उच्चारण करना नाम नहीं है। वह तो 'नामापराध' या नामाभास है। मुक्त मुनिजनोंकी सेवोन्मुख जिह्वापर ही शुद्धचित्तस्वरूप 'श्रीनाम' स्वयं स्फूर्ति प्राप्त करता है। वे निरन्तर कीर्त्तनाख्या भक्ति द्वारा श्रीनामकी उपासना करते हैं।) अतएव हे हरिनाम! मैं सब प्रकारके अपराधोंसे विमुक्त होकर आपकी शरण ग्रहण करता हूँ॥४॥

नामका स्वरूप—

नाम चिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्य-रसविग्रहः।
पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान्नामनामिनोः॥५॥

(भ. र. सि. पू. वि. २, लहरी १०८)

'कृष्णनाम' चिन्तामणि स्वरूप तथा स्वयं कृष्ण चैतन्य रस विग्रह, पूर्ण, मायातीत एवं नित्यमुक्त है, क्योंकि नाम और नामीमें भेद नहीं है॥५॥

एकमेव सच्चिदानन्दरसादिरूपं तत्त्वं द्विधाविर्भूतम्॥६॥

(भ. र. सि. पू. २/१०८ श्लोककी दुर्गमसंङ्गिनी टीका)

सच्चिदानन्द-रसमय (आदि-पदमें विभिन्न रसके विषय-विग्रह) तत्त्व एक अद्वयवस्तु हैं। वे अद्वयतत्त्व ही 'विग्रह' और 'नाम' इन दो रूपोंमें आविर्भूत हुए हैं॥६॥

वेदोंमें नामका माहात्म्य—

ॐ आहस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन् महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे ॐ तत् सत्।

(ऋग्वेद १ मण्डल, १५६ सूक्त, ३ ऋक्)

अयमर्थः—

हे विष्णो ते तव नाम चित् चित्स्वरूपं अतएव म हः स्वप्रकाशरूपं। तस्मात् अस्य नाम्न आ इषददि जानन्तः न तु सम्यक् उच्चार-माहात्म्यादि-पुरष्कारेण तथापि विवक्तन् ब्रुवाणाः केवलं तदक्षराभ्यासमात्रं कुर्वाणाः सुमतिं तद्विषयां विद्यां भजामहे प्राप्नुमः। यतस्तदेव प्रणवव्यञ्जितं वस्तु सत् स्वतः सिद्धमिति। अतएव भयद्वेषादौ श्रीमूर्त्तेः स्फूर्त्तेरेव साङ्केत्यादावस्य मुक्तिदत्वं श्रुयते॥७॥ (भगवत् सन्दर्भ ४९)

हे विष्णु! आपका नाम चित्स्वरूप है, इसलिए वह स्वप्रकाश-रूप है, इसलिए इस नामका उपयुक्त उच्चारणादि माहात्म्य न जानते हुए भी यदि वह (माहात्म्य) लेशमात्र भी अवगत होकर नामोच्चारण करे अर्थात् उस नामाक्षर आदिका मात्र अभ्यास करे, तथापि हमलोगोंको तद्विषयक ज्ञान प्राप्त होगा। क्योंकि वह प्रणव व्यञ्जित पदार्थ 'सत्' अर्थात् स्वतः सिद्ध है, अतएव भय और द्वेषादि होनेपर भी श्रीमूर्तिकी स्फूर्ति होती है। अतः वैसी अवस्थामें भी नामोच्चारण करनेपर मुक्ति प्राप्त होगी, क्योंकि 'साङ्केत्य' आदि स्थलोंपर नामोच्चारणके फलसे (नामाभाससे) मुक्ति प्राप्त होती है—ऐसा सुना जाता है॥७॥

स्मृति-शास्त्रोंमें नाम-माहात्म्य—

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते॥८॥

(हरिवंश)

वेद, रामायण, महाभारत और पुराणोंमें आदि, मध्य और अन्त्यमें सर्वत्र ही एकमात्र श्रीहरिका ही कीर्त्तन किया गया है॥८॥

कलियुगमें नामही सर्वसिद्धिदाता है—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्त्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥९॥

हे राजन्! कलियुग दोषराशिका खजाना है, फिर भी इसमें एक बहुत बड़ा गुण है। वह गुण यही है कि कलियुगमें केवल भगवान् श्रीकृष्णका सङ्कीर्त्तन करनेमात्रसे ही सारी आसक्तियाँ छूट जाती हैं और भगवान्की प्राप्ति हो जाती है॥९॥

कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्त्तनात्॥१०॥

(श्रीमद्भागवत १२/३/५१-५२)

सत्युगमें भगवान्का ध्यानके द्वारा, त्रेतामें बड़े-बड़े यज्ञोंके द्वारा उनकी आराधना करनेसे और द्वापरमें विधिपूर्वक उनकी पूजासे जो फल मिलता है, वह कलियुगमें केवल भगवन्नामका कीर्त्तन करनेसे अनायास ही प्राप्त हो जाता है॥१०॥

ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्॥११॥

(पाद्मोत्तर खण्डमें ४२ अध्याय)

सत्ययुगमें ध्यानके द्वारा, त्रेतामें यज्ञोंका अनुष्ठान करनेसे तथा द्वापरमें परिचर्याके द्वारा जो फल प्राप्त होता है, कलियुगमें एकमात्र हरिनाम-कीर्त्तन करनेसे वही फल प्राप्त हो जाता है॥११॥

कलिकाले नाम रूपे कृष्ण अवतार।
नाम हैते हय सर्व जगत् निस्तार॥
नाम बिना कलिकाले नाहि आर धर्म।
सर्वमन्त्रसार नाम एइ शास्त्र मर्म॥१२॥

(चै. च. आ. १७/२२, ७/७४)

कलियुगमें श्रीकृष्ण ही नामके रूपमें अवतरित हुए हैं। नामसे ही सारे जगत्का उद्धार होता है। कलियुगमें नामके अतिरिक्त सारे धर्म व्यर्थ हैं। समस्त मन्त्रोंका सार हरिनाम है, सभी शास्त्र ऐसा ही कहते हैं॥१२॥

नाम-माहात्म्य-वर्णनमें प्राचीन आचार्यवृन्द—

अंहः संहरतेऽखिलं सकृदुदयादेव-सकल-लोकस्य।
तरणिरिव तिमिर-जलधिं जयति जगन्मङ्गलं हरेर्नाम॥१३॥

(पद्यावली १६ संख्याधृत श्रीधरस्वामीकृत श्लोक)

जगत्मङ्गल हरिनामकी जय हो। जिस प्रकार सूर्य उदित होकर अन्धकारका विनाश करता है, उसी प्रकार हरिनाम एकबार मात्र उदित होनेपर लोगोंके समस्त पापोंका नाश कर देता है॥१३॥

ज्ञानमस्ति तुलितञ्च तुलायां प्रेम नैव तुलितं तु तुलायाम्।
सिद्धिरेव तुलितात्र तुलायां कृष्णनाम तुलितं न तुलायाम्॥१४॥

(पद्यावली १५ संख्याधृत श्रीधरस्वामीकृत श्लोक)

ज्ञान और सिद्धि—ये दोनों ही तराजूपर तुलते हैं, किन्तु प्रेम और कृष्णनाम—ये दोनों तराजू पर नहीं तुलते॥१४॥

आकृष्टिः कृतचेतसां सुमनसामुच्चाटनं चांहसा-
माचण्डालममूकलोकसुलभो वश्यश्च मुक्तिश्रियः।
नो दीक्षां न च सत्क्रियां न च पुरश्चर्यां मनागीक्षते
मन्त्रोऽयं रसनास्पृगेव फलति श्रीकृष्णनामात्मकः॥१५॥

(पद्यावली १८)

त्रिगुणातीत मुक्त कुलोंके चित्तके आकर्षकस्वरूप, चाण्डालसे वाक्शक्तिमान् व्यक्ति तकको सुलभ, मुक्तिरूप ऐश्वर्यको वशमें करनेवाला, ऐसा श्रीकृष्णनामस्वरूप 'महामन्त्र' जिह्वापर स्पर्श करते ही फल प्रदान करता है, दीक्षादि सत्कार्य या पुरश्चरण (मन्त्रोच्चारण) इन सबकी किञ्चित्मात्र भी अपेक्षा नहीं करता॥१५॥

मन्त्र और महामन्त्र-श्रीनाममें लीला वैचित्र्य—

कृष्ण मन्त्र हइते हबे संसार मोचन।
कृष्णनाम हइते पाबे कृष्णेर चरण॥१६॥

(चै. भा. आ. ७/७३)

कृष्ण मन्त्रके द्वारा संसारसे मुक्ति होगी तथा कृष्णनामसे ही तुम्हें श्रीकृष्णचरणोंकी प्राप्ति होगी॥१६॥

हरिकथा—माहात्म्य—

श्रुतमप्यौपनिषदं दूरे हरिकथामृतात्।
यन्न सन्ति द्रवच्चित्त कम्पाश्रुपुलकादयः॥१७॥

(पद्यावली ३९ व्यासदेववाक्य)

उपनिषद्-प्रतिपाद्य निर्विशेष ब्रह्मका विषय सुनने पर भी वह कृष्णकथारूप अमृतसे बहुत दूर है। इसलिए, ब्रह्म विषयक श्रवण-कीर्त्तनादि द्वारा चित्त द्रवीभूत नहीं होता अथवा कम्पाश्रु पुलकादि कुछ भी नहीं होता॥१७॥

ब्रह्म साक्षात्कारकी अपेक्षा नामोच्चारणकी महिमा अधिक है—

यद्ब्रह्म-साक्षात्-कृति-निष्ठयापि विनाशमायाति विना न भोगैः।
अपैति नाम-स्फुरणेन तत्ते प्रारब्ध कर्मेति विरौति वेदः॥१८॥

(श्रीरूपगोस्वामीकृत श्रीकृष्णनाम स्तोत्रमें ४ श्लोक)

हे नाम भगवन्! ब्रह्मकी अवच्छिन्न तैलधारावत् ब्रह्म चिन्ताके द्वारा ब्रह्म-साक्षात्कार करनेपर भी जिस प्रारब्ध कर्मको भोगना ही पड़ता है, वह प्रारब्ध कर्म आपके स्फूर्तिमात्रसे अर्थात् भक्तोंकी जिह्वापर स्फुरण होनेमात्रसे दूर भाग जाता है। इस बातको वेद उच्च स्वरसे पुनः पुनः कहते हैं॥१८॥

नामकीर्त्तनकी श्रेष्ठता—

अघच्छित्-स्मरणं विष्णोर्बह्वायासेन साध्यते।
ओष्ठस्पन्दनमात्रेण कीर्त्तनन्तु ततो वरम्॥१९॥

(ह. भ. वि. ११/२३६ वैष्णव चिन्तामणिवाक्य)

विष्णुका स्मरण पापोच्छेदक होनेपर भी वह प्रचुर यत्न द्वारा ही पूरा होता है। किन्तु ओष्ठ स्पन्दनमात्रसे (अनायास ही) जो विष्णुका कीर्त्तन होता है, वह स्मरण से भी श्रेष्ठ है। (क्योंकि, इस प्रकार नामकीर्त्तन अथवा नामाभासके द्वारा ही संसार बन्धनसे मुक्त हुआ जा सकता है)॥१९॥

ध्यान-पूजादिसे नामकीर्त्तनकी श्रेष्ठता—

जयति जयति नामानन्दरूपं मुरारेर्विरमित-निजधमध्यान-पूजादि-यत्नम्।
कथमपि सकृदात्तं मुक्तिदं प्राणिनां यत् परमममृतमेकं जीवनं भूषणं मे॥२०॥

(बृ. भा. १/१/९)

जिसके द्वारा निजधर्म, ध्यान और पूजादि चेष्टाका अन्त हो जाता है, ऐसे आनन्दस्वरूप मुरारीके नामकी जय हो, जय हो। यह नाम जिस किसी भी प्रकारसे लिए जानेपर (नामाभास मात्रसे ही) प्राणियोंको मुक्ति प्रदान करता है, एवं यही एकमात्र परम अमृतस्वरूप है, यह मेरा जीवन एवं भूषण है॥२०॥

येन जन्मशतैः पूर्वं वासुदेवः समर्चितः।
तन्मुखे हरिनामानि सदा तिष्ठन्ति भारत॥२१॥

(ह. भ. वि. ११/२३७ शास्त्रवाक्य)

हे भरतवंश श्रेष्ठ! जिन्होंने शत-शत वर्ष पूर्व जन्मोंमें उचित (सम्यग्) रूपसे वासुदेवका अर्चन किया है, उनके मुखमें ही श्रीहरिका नाम नित्यकाल विराजमान् रहता है॥२१॥

नाममें देशकाल आदिका नियम नहीं है—

न देशनियमो राजन् न कालनियमस्तथा।
विद्यते नात्र सन्देहो विष्णोर्नामानुकीर्त्तने॥२२॥
कालोऽस्ति दाने यज्ञे च स्नाने कालोऽस्ति सज्जपे।
विष्णुः सङ्कीर्त्तने कालो नास्त्यत्र पृथिवीतले॥२३॥

(ह. भ. वि. ११ वि. २०६ संख्याधृत वैष्णव चिन्तामणि वाक्य)

हे राजन्! विष्णुके नाम कीर्त्तनके विषयमें कोई देश अथवा कालका नियम नहीं है, यह निसंदेहपूर्वक कहा जाता है। दान, यज्ञ और अन्यान्य जपमें काल नियमका विचार है, किन्तु इस पृथ्वीपर विष्णु नामके सङ्कीर्त्तनमें किसी भी काल और नियमका विधान नहीं है॥२२-२३॥

न देशनियमस्तस्मिन् न कालनियमस्तथा।
नोच्छिष्टादौ निषेधोऽस्ति श्रीहरेर्नाम्निलुब्धक॥२४॥

(ह. भ. वि. ११ वि. २०२, विष्णुधर्मोत्तरवाक्य)

हे लुब्धक! श्रीहरिके नाम-कीर्त्तनके विषयमें देश और कालका नियम नहीं है। उच्छिष्ट मुखसे अथवा किसी भी प्रकार अशुचि अवस्थामें भी नाम कीर्त्तन करना निषेध नहीं है॥२४॥

एतावतालमघनिर्हरणाय पुंसां
सङ्कीर्त्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्नाम्।
विक्रुश्य पुत्रमघवान् यदजामिलोऽपि
नारायणेति म्रियमाण इयाय मुक्तिम्॥२५॥

(श्रीमद्भागवत ६/३/२४)

इसलिए श्रीभगवान्‌के गुण, कर्म और सभी नामोंका उचित रूपसे कीर्त्तन ही जीवके पापोंको दूर करनेमें समर्थ है, ऐसा नहीं है क्योंकि उनके नाम-गुणादिका असम्यक् कीर्त्तन अथवा नामाभासके द्वारा ही ये पाप हरण आदि कार्य सम्पन्न हो जाते हैं। अजामिल इसका उदाहरण है। अत्यन्त महापापी अजामिलने मृत्युके समय चञ्चल मनसे अपने पुत्रको 'नारायण' नामसे सम्बोधन किया जिससे उसके सारे पाप तो क्षीण हो ही गये, मुक्ति भी हो गई॥२५॥

उच्चस्वरसे कीर्त्तनके विषयमें भागवत प्रमाण—

नामान्यनन्तस्यहतत्रपः पठन् गुह्यानि भद्राणि कृतानि च स्मरन्।
गां पर्यटंस्तुष्टमना गतस्पृहः कालं प्रतीक्षन्विमदो विमत्सरः॥२६॥

(श्रीमद्भागवत १/६/२७)

श्रीनारदजीने कहा—तभीसे मैं लज्जा-सङ्कोचको छोड़कर भगवान्‌के अत्यन्त रहस्यमय ओर मङ्गलमय मधुर नामों एवं लीलाओंका कीर्त्तन तथा स्मरण करने लगा। स्पृहा और मद-मात्सर्य मेरे हृदयसे पहले ही निवृत्त हो चुके थे, अब मैं आनन्दसे कालकी प्रतीक्षा करता हुआ पृथ्वीपर विचरने लगा॥२६॥

उच्च स्वरसे नाम कीर्त्तन ही सर्वश्रेष्ठ है—

जपतो हरिनामानि स्थाने शतगुणाधिकः।
आत्मानञ्च पुनात्युच्चैर्जपन् श्रोतृन् पुनाति च॥२७॥

(श्रीनारदीय प्रह्लाद वाक्य)

हरिनाम-जप-परायण व्यक्तिकी अपेक्षा उच्चस्वरसे हरिनाम कीर्त्तनकारी सौ गुना श्रेष्ठ है, यह बात ठीक है। क्योंकि केवल जपकारी व्यक्ति स्वयंको ही पवित्र करते हैं किन्तु उच्चस्वरसे नाम कीर्त्तनकारी स्वयंको और उसके साथ श्रोताओंको भी पवित्र करते हैं॥२७॥

उच्च कीर्त्तनमें स्वार्थपरता और परार्थपरता एक साथ प्रमाणित है—

पशु-पक्षी-कीट आदि बलिते ना पारे।
शुनिलेइ हरिनाम तारा सब तरे॥

जपिले से कृष्णनाम आपनिसे तरे।
उच्च सङ्कीर्त्तने पर-उपकार करे॥
अतएव उच्च करि' कीर्त्तन करिले।
शतगुण फल हय सर्वशास्त्रे बले॥२८॥

(चै. भा. आ. १६/२७९-२८१)

पशु-पक्षी-कीट-पतङ्ग आदि बोल नहीं पाते, किन्तु वे भी हरिनाम सुनते ही भवसागरसे तर जाते हैं। जो लोग कृष्णनामका जप करते हैं, वे केवल अपने आपको ही संसारसे तारते हैं। किन्तु उच्चस्वरसे कीर्त्तन करनेवाले स्वयं तो तरते ही हैं, दूसरोंको भी भवसागरसे पारकर उनके हृदयमें कृष्णप्रेम उत्पन्न करा देते हैं। इसलिए उच्चस्वरसे कीर्त्तन करनेसे, जपकी अपेक्षा सौ गुणा फल शास्त्रोंमें बतलाया गया है॥२८॥

श्रीमन्महाप्रभुके 'हरेकृष्ण'-नाम उच्चस्वरसे कीर्त्तनके विषयमें गोस्वामी वचन—

हरेकृष्णेत्युच्चैः स्फुरित-रसनो नामगणना-
कृत-ग्रन्थिश्रेणी-सुभग-कटिसूत्रोज्ज्वलकरः।
विशालाक्षो दीर्घार्गल-युगल-खेलाञ्चितभुजः
स चैतन्यः किं मे पुनरपि दृशोर्यास्यति पदम्॥२९॥

(श्रीरूपगोस्वामीकृत चैतन्याष्टक ५ श्लोक)

उच्चस्वरसे 'हरेकृष्ण' नामोच्चारण करते हुए जिसकी रसना नृत्य करती रहती है एवं उच्चारित नामकी गणना हेतु ग्रन्थीकृत सुन्दर सूतकी करधनीमें जिनका उज्ज्वल वामहस्त शोभित है, जिनके विशाल नेत्र और आजानुलम्बित भुजाएँ हैं, वे चैतन्यदेव क्या पुनः मेरे नयन पथके पथिक होंगे?॥२९॥

वेदान्ताचार्योंका अभिमत—

हरे कृष्णेति मन्त्रप्रतीकग्रहणम्। षोडशनामात्मना द्वात्रिंशदक्षरेण मन्त्रेणोच्चैरुच्चारितेन स्फुरिता कृतनृत्या रसना जिह्वा यस्य सः॥३०॥

(श्रील बलदेव विद्याभूषणकृत 'स्तवमाला विभूषण'-भाष्य)

'हरेकृष्ण' इस षोडश नामात्मक बत्तीस अक्षरयुक्त मन्त्रका उच्चस्वरसे कीर्त्तन करनेके लिए जिसकी जिह्वा नृत्य कर रही है। (तात्पर्य यह है कि, 'हरेकृष्ण'से बत्तीस अक्षरयुक्त नामाक्षरके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकारके कल्पित नामकीर्त्तनको भ्रमसे भी न समझें, टीकाकारने इस विषयमें हम लोगोंको सावधान किया है)॥३०॥

'हरेकृष्ण' नाम ही कलियुगका महामन्त्र है, इसको छोड़कर नामापराध-कीर्त्तन सिद्धान्त विरुद्ध है—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥३१॥
षोडशैतानि नामानि द्वात्रिंशद् वर्णकानि हि।
कलौ युगे महामन्त्रः सम्मतो जीवतारणे॥३२॥
वर्जयित्वा तु नामैतद् दुर्जनैः परिकल्पितम्।
छन्दोबद्धं सुसिद्धान्तविरुद्धं नाभ्यसेत् पदम्॥३३॥
तारकं ब्रह्मनामैतद् ब्रह्मणा गुरुणादिना।
कलिसन्तरणाद्यासु श्रुतिष्वधिगतं हरेः॥३४॥
प्राप्तं श्रीब्रह्मशिष्येन श्रीनारदेन धीमता।
नामैतदुत्तमं श्रौत-पारम्पर्येण ब्रह्मणः॥३५॥
उत्सृज्यैतन्महामन्त्रं ये त्वन्यत् कल्पितं पदम्।
महानामेति गायन्ति ते शास्त्रगुरुल्लङ्घिनः॥३६॥
तत्त्वविरोधसंपृक्तं तादृशं दौर्जनं मतम्।
सर्वथा परिहार्यं स्यादात्महितार्थिना सदा॥३७॥

(अनन्त-संहिता)

"हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥"—शास्त्रोंके अनुसार सोलह नाम और बत्तीस अक्षरोंवाला यह हरिनाम कलियुगका महामन्त्र है। यह महामन्त्र कलियुगमें जीवोंका उद्धार करनेमें सबसे प्रभावशाली मन्त्र है। 'कृष्ण' नामको छोड़कर दुर्जनोंके द्वारा परिकल्पित, छन्दोबद्ध, सुसिद्धान्त विरुद्ध, रसाभास दोषयुक्त पदों तथा मन्त्रोंका कदापि जप या कीर्त्तन नहीं करना चाहिये। आदि गुरु ब्रह्माने कलिसन्तरण आदि श्रुतियोंके माध्यमसे इस तारक ब्रह्म हरिनामको प्राप्त किया था। पुनः ब्रह्माके द्वारा श्रुतिपरम्परासे उनके शिष्य परमबुद्धिमान् श्रीनारदगोस्वामीने इस महामन्त्रको प्राप्त किया था। जो लोग इस महामन्त्रको छोड़कर दूसरोंके द्वारा कल्पित पदको महामन्त्र मानकर कीर्त्तन करते हैं, वे शास्त्र और गुरुके उल्लङ्घनकारी हैं। आत्मकल्याणकी इच्छा रखनेवाले साधकोंको सर्वतोभावेन तत्त्वविरोधपूर्ण ऐसे दुर्जनोंका मतान्तर परित्याग कर देना चाहिए॥३७॥

उपनिषद्‌में 'हरे कृष्ण'-महामन्त्र—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥३८॥
इति षोड़शकं नाम्नां कलिकल्मषनाशनम्।
नातः परतरोपायः सर्व्ववेदेषु दृश्यते॥३९॥

(कलिसन्तरणोपनिषत्)

'हरे कृष्ण' इत्यादि सोलह नाम कलिकलुष नाशकारी हैं, समस्त वेदोंका अनुशीलन करनेपर इसकी अपेक्षा और कोई उपाय नहीं देखा जाता॥३८-३९॥

पुराणमें 'हरे कृष्ण'-महामन्त्र—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
रटन्ति हेलया वापि ते कृतार्था न संशयः॥४०॥

(अग्निपुराण)

'हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे'—इस महामन्त्रका जो लोग अवहेलनापूर्वक भी उच्चारण करते हैं, वे कृतार्थ हो जाते हैं। इसमें तनिक भी सन्देहकी गुंजाइश नहीं है॥४०॥

नरमात्र ही नाम उच्चारणके अधिकारी हैं—

मधुर-मधुरमेतन्मङ्गलं मङ्गलानां सकलनिगमवल्ली-सत्फलं चित्स्वरूपम्।
सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा भृगुवर नरमात्रं तारयेत् कृष्णनाम॥४१॥

(ह. भ. वि.-११ वि.-२३४ संख्याधृत स्कन्दपुराण वाक्य)

हरिनाम सब प्रकारके मङ्गलोंमें श्रेष्ठ मङ्गल-स्वरूप है, मधुरसे भी सुमधुर है। वह निखिल श्रुति-लताओंका चिन्मय सुपक्वफल है। हे भार्गवश्रेष्ठ! श्रद्धासे हो अथवा अवहेलनासे, मनुष्य यदि स्पष्ट रूपसे एकबार भी निरपराध होकर "कृष्ण" नामका उच्चारण करे, तो वह नाम उसी समय मनुष्यको तार देता है॥४१॥

सभीके लिए 'नामसङ्कीर्त्तन' साधन और साध्य है—

एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम्।
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्त्तनम्॥४२॥

(श्रीमद्भागवत २/१/११)

हे राजन्! निर्वेद प्राप्त, ऐकान्तिक भक्त, स्वर्ग और मोक्ष आदिकी अभिलाषा रखनेवाले तथा आत्माराम योगी आदि सभीके लिए श्रीहरिके नामका पुनः पुनः

कीर्त्तन तथा स्मरण करना ही परम साधन और साध्य है। पूर्ववर्ती आचार्योंने ऐसे ही स्थिर सिद्धान्तकी घोषणा की है॥४२॥

नाम-कीत्तनमें प्रतिकूल—

जन्मैश्वर्यश्रुत-श्रीभिरेधमानमदः पुमान्।
नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिञ्चनगोचरम्॥४३॥

(श्रीमद्भागवत १/८/२६)

हे कृष्ण! सत्कुल, ऐश्वर्य, विद्या और सौन्दर्यको प्राप्तकर जिनका अहङ्कार अत्यन्त बढ़ गया है, वे व्यक्ति निरभिमान और निष्काम भक्तोंके ग्रहण योग्य आपके 'श्रीकृष्ण' 'गोविन्द' इत्यादि शुद्धनामोंका कीर्त्तन करनेमें निश्चय ही समर्थ नहीं होते॥४३॥

मुख्य एवं गौण भेदसे 'नाम' अनेक प्रकारके हैं—

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्तिस्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः।
एतादृशी तव कृपा भगवन्ममापि दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः॥४४॥

(शिक्षाष्टक २ श्लोक)

हे भगवन्! आपके नाम ही जीवोंके लिए सर्वमङ्गलप्रद हैं, अतः जीवोंके कल्याण हेतु आप अपने राम, नारायण, कृष्ण, मुकुन्द, माधव, गोविन्द, दामोदर आदि अनेक नामोंके रूपमें नित्य प्रकाशित हैं। आपने उन नामोंमें उन-उन स्वरूपोंकी सर्वशक्तियोंको स्थापित किया है। अहैतुकी कृपा हेतु आपने उन नामोंके स्मरणमें सन्ध्या-वन्दना आदिकी भाँति किसी निर्दिष्टकाल आदिका विचार भी नहीं रखा है अर्थात् दिन-रात किसी भी समय भगवन्नामका स्मरण-कीर्त्तन किया जा सकता है—ऐसा विधान भी बना दिया है। हे प्रभो! आपकी तो जीवोंपर ऐसी अहैतुकी कृपा है, तथापि मेरा तो नामापराधरूप ऐसा दुर्दैव है कि आपके ऐसे सर्वफलप्रद सुलभ नाममें भी अनुराग उत्पन्न नहीं हुआ॥४४॥

गौण नाम तथा उनके लक्षण—

जड़ाप्रकृतिर परिचये नाम जत।
प्रकृतिर गुणे गौण वेदेर सम्मत॥
सृष्टिकर्त्ता परमात्मा ब्रह्म स्थितिकर।
जगतसंहरता पाता यज्ञेश्वर हर॥४५॥

(श्रीहरिनामचिन्तामणि, नामग्रहणविचार)

वेदोंके अनुसार जड़ प्रकृतिसे सम्बन्धित नामसमूह गौण नाम हैं जैसे—सृष्टिकर्त्ता, परमात्मा, ब्रह्म, स्थितिकर्त्ता, जगत संहरता, जगन्नाथ, यज्ञेश्वर, तथा हर आदि॥४५॥

मुख्य तथा गौण नामोंके फलमें भेद—

एइरूप नाम, कर्मज्ञानकाण्डगत।
पुण्य मोक्ष दान करे शास्त्रेर सम्मत॥
नामेर जे मुख्य फल कृष्णप्रेमधन।
तार मुख्य नामे मात्र लभे साधुगण॥४६॥

(श्रीहरिनाम चिन्तामणि, नाम ग्रहणविचार)

शास्त्रोंके अनुसार ऐसे गौण नामोंका आश्रय करनेसे कर्म और ज्ञानकाण्डके अन्तर्गत पुण्य और मोक्षकी प्राप्ति होती है, किन्तु हरिनामका मुख्य फल कृष्णप्रेमरूप सम्पत्ति है। यह सम्पत्ति भगवान्‌के मुख्य नामोंसे ही प्राप्त होती है। श्रीयशोदानन्दन, नन्दनन्दन, गोपीनाथ तथा मदनमोहन आदि मुख्य नाम हैं॥४६॥

मुख्य नाम—

अघदमन-यशोदानन्दनौ नन्दसूनो
कमलनयन-गोपीचन्द्र-वृन्दावनेन्द्राः।
प्रणत-करुण-कृष्णावित्यनेकस्वरूपे
त्वयि मम रतिरुच्चैर्वर्द्धतां नामधेय॥४७॥

(श्रील रूपगोस्वामीकृत श्रीकृष्णनामस्तोत्र ५ वाँ श्लोक)

हे नाम भगवन्! पूर्वोक्त रूपसे अवितर्क्य महिमावाले आपमें मेरी प्रीति दिन दूनी, रात चौगुनी बढ़ती रहे। आपके अनेक स्वरूप इस प्रकारके हैं—हे अघ-दमन! हे यशोदानन्दन! हे नन्दसूनो! हे कमलनयन! हे गोपीचन्द्र! हे वृन्दावनेन्द्र! हे प्रणत करुण! हे कृष्ण! इत्यादि॥४७॥

निरपराधसे मुख्य नामोच्चारणका फल—

तुण्डे ताण्डविनी रतिं वितनुते तुण्डावलीलब्धये
कर्णक्रोड़कडम्बिनी घटयते कर्णार्बुदेभ्यः स्पृहाम्।
चेतः प्राङ्गणसङ्गिनी विजयते सर्वेन्द्रियाणां कृतिं
नो जाने जनिता कियद्भिरमृतैः कृष्णेति वर्णद्वयी॥४८॥

(विदग्धमाधव १/१२)

नान्दीमुखीजी योगमाया पौर्णमासीजीसे कह रही हैं—अहो! 'कृष्ण' इन दोनों अक्षरोंमें न जाने कितना अमृत भरा हुआ है अथवा ये दोनों अक्षर न जाने किस मधुर अमृतके सागरसे उत्पन्न हुए हैं। जिसका वर्णन करनेमें मैं सर्वथा असमर्थ हूँ। देखो, जब ये मुखमें (जिह्वापर) नृत्याङ्गनाकी भाँति नृत्य करते हैं, तब अनेकानेक

मुख पानेकी अपूर्व लालसा होती है; जब कर्ण कुहरोंमें प्रवेश करते हैं, तब करोड़ों-करोड़ों कर्णोंकी स्पृहा जग उठती है; और जब चित्त प्राङ्गणमें उदित होते हैं, तब समस्त इन्द्रियोंकी सारी क्रियाओंको स्तब्ध कर देते हैं॥४८॥

मुख्य नाम ग्रहणके प्रधान सात फल—

चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्नि-निर्वापणम्
श्रेयः कैरवचन्द्रिकावितरणं विद्यावधूजीवनम्।
आनन्दाम्बुधिवर्द्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं
सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तनम्॥४९॥

(शिक्षाष्टक १ श्लोक)

चित्तरूपी दर्पणको शोधित करनेवाले, संसाररूप महादावानलको सम्पूर्णरूपसे बुझा देनेवाले, जीवोंकी कल्याणरूपिणी कुमुदिनीको विकसित करनेके लिए भावरूपी चन्द्रिकाका वितरण करनेवाले, विद्यारूपी वधूके जीवन-स्वरूप, आनन्दरूपी समुद्रको निरन्तर वर्द्धित करनेवाले, पग-पगपर पूर्ण अमृतका रसास्वादन करानेवाले, बाहर-भीतरसे देह, धृति, आत्मा और स्वभाव सबको सर्वतोभावेन निर्मल और सुशीतल करनेवाले, केवलमात्र श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तन ही विशेषरूपसे सर्वोपरि जययुक्त हो॥४९॥

धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष आदि नामके आनुषङ्गिक फल—
मुख्य फल एकमात्र कृष्णप्रेम—

भक्तिस्त्वयि स्थिरतरा भगवन् यदि स्या-
द्दैवेन नः फलति दिव्यकिशोर मूर्त्तिः।
मुक्तिः स्वयं मुकुलिताञ्जलि सेवतेऽस्मान्
धर्मार्थकामगतयः समयप्रतीक्षाः॥५०॥

(कृष्णकर्णामृत १०७ श्लोक)

हे भगवन्! यदि आपके श्रीचरणकमलोंमें दृढ़ भक्ति हो तो आपके परम मनोहर दिव्य किशोरमूर्तिका दर्शनरूपी फल सहज ही प्राप्त हो जाता है। तदनन्तर मुक्ति तो हाथ जोड़कर सामने खड़ी ही रहती है। साथ ही धर्म, अर्थ तथा काम भी भक्तिपूर्ण हृदयवालोंकी सेवाके अवसरकी प्रतीक्षा करते रहते हैं॥५०॥

'नाम-सङ्कीर्त्तन'के द्वारा ही भजनके सभी अङ्गोंकी पूर्णता—

मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देशकालार्हवस्तुतः।
सर्वं करोति निश्छिद्रमनुसङ्कीर्त्तनं तव॥५१॥

(श्रीमद्भागवत ८/२३/१६)

श्रीशुक्राचार्यने कहा—मन्त्रोंके जप आदिमें (स्वर आदिके उच्चारणमें त्रुटिके कारण) तन्त्रमें (विपरीत क्रम द्वारा उत्पन्न त्रुटिसे) और देश, काल, पात्र तथा वस्तुमें (दक्षिणा आदिमें) जो-जो न्यूनताएँ होती हैं, वे सभी आपके नामसंङ्कीर्त्तन मात्रसे ही निश्छिद्र और परिपूर्ण हो जाते हैं॥५१॥

साधुसङ्गमें ही शुद्धनाम उदित होते हैं—

ममाहमिति देहादौ हित्वा मिथ्यार्थधीर्मतिन्।
धास्ये मनो भगवति शुद्धं तत्कीर्त्तनादिभिः॥५२॥
इति जातसुनिर्वेदः क्षणसङ्गेन साधुषु।
गङ्गाद्वारमुपेयाय मुक्तसर्वानुबन्धनः॥५३॥

(श्रीमद्भागवत ६/२/३८-३९)

अजामिलने मन ही मन कहा—अब मैंने परमसत्य तत्त्ववस्तुरूपी भगवान्‌को पहचान लिया है। अतः अब शरीरमें 'मैं' का भाव छोड़कर भगवन्नामके कीर्त्तन आदिसे अपने मनको शुद्धकर उसे भगवान्‌में लगाऊँगा। श्रीशुकदेव गोस्वामी परीक्षित महाराजजीसे कह रहे हैं—परीक्षित्! उन भगवान्‌के पार्षद महात्माओंका केवल थोड़ी ही देरके लिए सत्सङ्ग हुआ था, इतनेसे ही अजामिलके चित्तमें संसारके प्रति तीव्र वैराग्य हो गया, वे सबके सम्बन्ध और मोहको छोड़कर हरिद्वार चले गये॥५२-५३॥

सार्वभौम-सङ्गे तोमार कलुष कैल क्षय।
'कल्मष' घुचिले जीव 'कृष्णनाम' लय॥५४॥

(चै. च. म. १५/२७६)

श्रीमन्महाप्रभुजीने कहा—सार्वभौमके सङ्गसे तुम्हारे हृदयका कल्मष क्षय हो गया है क्योंकि कल्मष क्षय होनेपर ही जीव कृष्णनाम उच्चारण कर सकता है॥५४॥

असाधु-सङ्गे भाइ 'कृष्णनाम' नाहि हय।
'नामाक्षर' बाहिराय वटे, नाम कभु नय॥५५॥

(प्रेमविवर्त्त)

असाधुओंके सङ्गमें कदापि 'कृष्णनाम' नहीं हो सकता। मुखसे नामाक्षर उच्चारित होनेपर भी निश्चय ही वह शुद्धनाम नहीं है॥५५॥

नाम प्राकृत इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहणीय नहीं है—

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः।
सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः॥५६॥

(भ. र. सि. पूर्व २ ल. १०९)

श्रीकृष्णके नाम, रूप, गुण, लीला—ये सभी अप्राकृत तत्त्व हैं। प्राकृत चक्षु, कर्ण, नासिका, रसना आदि इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहणीय नहीं है। जब जीवोंके हृदयमें श्रीकृष्णकी सेवा करनेकी वासना उदित होती है, उस समय उनकी जिह्वा आदि इन्द्रियोंपर नाम स्वयं स्फुरित होते हैं॥५६॥

नामकी साधन प्रणाली—

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदा हरिः॥५७॥

(शिक्षाष्टक ३ श्लोक)

सर्वपददलित अत्यन्त तुच्छ, तृणसे भी अपनेको दीनहीन समझकर, वृक्षसे भी अधिक सहनशील बनकर, स्वयं अमानी होकर तथा दूसरोंको यथायोग्य मान देनेवाला बनकर निरन्तर श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तन करता रहे॥५७॥

श्रीकृष्णनामके अनुशीलनकी प्रणाली—

स्यात् कृष्णनामचरितादिसिताप्यविद्या-
पित्तोपतप्तरसनस्य न रोचिका नु।
किन्त्वादरादनुदिनं खलु सैव जुष्टा
स्वाद्वी क्रमाद्भवति तद्गदमूलहन्त्री॥५८॥

(उपदेशामृत ७ श्लोक)

अहो! जिनकी रसना अविद्यारूपी पित्तके द्वारा सन्तप्त है—अनादिकालसे कृष्ण-विमुख रहनेसे जो अविद्या द्वारा ग्रस्त हैं, उनको श्रीकृष्णनाम चरितादिरूप अत्यन्त मीठी मिश्री भी रुचिकर नहीं होती, कड़वी लगती है, किन्तु श्रद्धापूर्वक उसी श्रीकृष्णनाम-चरितादिरूप मिश्रीका निरन्तर सेवन करनेपर वह क्रमशः सुस्वादु लगने लगती है तथा कृष्ण-विमुखता-अविद्यारूपी पित्तरोगका समूल विनाशक भी बन जाती है॥५८॥

खण्ड-खण्ड हइ देह, जाय यदि प्राण।
तबु आमि वदने ना छाड़ि हरिनाम॥५९॥

(चै. भा. आ. १६/९४)

श्रीहरिदास ठाकुरजी कहते हैं—यदि इस शरीरके टुकड़े-टुकड़े भी हो जायें, भले ही प्राण चले जायें, तो भी मैं हरिनाम कदापि नहीं छोड़ सकता॥५९॥

नामकीर्त्तन द्वारा ही रूप–गुण–लीलाकी स्फूर्त्ति—

कृष्णनाम धरे कत बल।
विषय वासनानले, मोर चित्त सदा ज्वले,
रवितप्त मरुभूमि सम।
कर्णरन्ध्र पथ दिया, हृदि माझे प्रवेशिया,
वरिषय सुधा अनुपम।
हृदय हइते बले, जिह्वार अग्रेते चले,
शब्दरूपे नाचे अनुक्षण।
कण्ठे मोर भङ्गे स्वर, अङ्ग काँपे थर–थर,
स्थिर हइते ना पारे चरण॥
चक्षे धारा, देहे घर्म, पुलकित सब चर्म,
विवर्ण हइल कलेवर।
मूर्च्छित हइल मन, प्रलयेर आगमन,
भावे सर्वदेह जर जर॥
करि एत उपद्रव, चित्ते वर्षे सुधाद्रव,
मोरे डारे प्रेमेर सागरे॥
किछु ना बुझिते दिल, मोरे त, बातुल कैल,
मोर चित्त वित्त सब हरे॥
लइनु आश्रय जाँर, हेन व्यवहार ताँर,
वर्णिते ना पारि ए सकल।
कृष्णनाम इच्छामय, जाहे जाहे सुखी हय,
सेइ मोर सुखेर सम्बल॥
प्रेमेर कलिका नाम, अद्भुत रसेर धाम,
हेन बल करये प्रकाश।
ईषत विकसि पुनः, देखाय निज–रूप–गुण,
चित्त हरि' लय कृष्णपाश॥
पूर्ण विकसित हञा, ब्रजे मोरे जाय लइया,
देखाय मोरे स्वरूप–विलास।
मोरे सिद्धदेह दिया, कृष्णपाशे राखे गिया,
ए देहेर करे सर्वनाश॥

कृष्णनाम चिन्तामणि, अखिल रसेर खनि,
नित्यमुक्त, शुद्ध, रसमय।
नामेर बालाइ जत, सब लये हइ हत,
तबे मोर सुखेर उदय॥६०॥

मेरा चित्त सूर्यकी प्रखर किरणोंसे दहकती हुई मरुभूमिके समान विषय वासनारूपी आगसे झुलस रहा है। अहो! श्रीकृष्णनामका कितना अमित प्रभाव है कि यह नाम कर्णछिद्रोंके पथसे हृदयमें प्रवेशकर उपमारहित अमृतकी वर्षाकर तप्त हृदयको सुशीतल कर देता है। साथ ही हृदयसे निकलकर जिह्वापर शब्दके रूपमें निरन्तर नृत्य करने लगता है और मुझे भी नृत्य कराता है, कण्ठस्वर रुद्ध हो जाता है, सारे अङ्ग थरथर काँपने लगते हैं, चरण स्थिर नहीं हो पाते, नेत्रोंसे अविरल अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है, सारा शरीर पसीनेसे सराबोर हो जाता है, शरीरमें रोमाञ्च हो उठता है, शरीरका रङ्ग क्षण-क्षणमें बदलनेसे विवर्ण हो उठता है, देह-गेहकी सुध-बुध खो जाती है तथा अन्तमें मूर्च्छा आ जाती है। नामके प्रभावसे हृदयमें न जाने कितने प्रकारके भाव उठकर सारे शरीरको झकझोर देते हैं। इतने उपद्रवोंके पश्चात् हरिनाम मेरे अन्तर्हृदयमें अपूर्व मधुर सुधाकी वर्षाकर मुझे प्रेमके समुद्रमें डुबो देता है। मुझे कुछ भी समझने नहीं दिया, मुझे उन्मत्त कर दिया। इस प्रकार मेरा चित्त एवं वित्त (सम्पत्ति) सब कुछ हरण कर लिया।

मैंने जिस श्रीकृष्णनामका आश्रय ग्रहण किया उसका व्यवहार इस प्रकारका है कि जिसका वर्णन करनेमें मैं सर्वथा असमर्थ हूँ। हरिनाम स्वतन्त्र इच्छामय हैं। वे जैसे भी सुखी हों, वही मेरा काम्य है, उनके सुखमें ही मेरा सुख है। प्रथम अवस्थामें यह नाम प्रेमकी कलिका सदृश है, तथा अद्‌भुत रसका भण्डार है। पुनः वही थोड़ासा विकसित होकर अपने रूप-गुणको दिखाकर मेरे चित्तको हरणकर कृष्णके समीप ला देते हैं। तत्पश्चात् पूर्णरूपसे विकसित होकर मुझे ब्रजमें ले जाते हैं। तथा अपने स्वरूप-विलासका दर्शन कराकर अन्तमें मुझे सिद्ध देह प्रदानकर कृष्णके चरणोंमें समर्पितकर मेरे स्थूल व लिङ्ग शरीरको सदाके लिए दूर कर देते हैं। अहो! कृष्णनाम बलपूर्वक अनायास ही ऐसा कर देते हैं। यह श्रीकृष्णनाम चिन्तामणि सदृश है। अखिल रसका भण्डार, नित्यमुक्त, शुद्ध तथा रसमय है॥६०॥

चार प्रकारके नामाभास—

साङ्केत्यं परिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा।
वैकुण्ठ नामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥६१॥

(श्रीमद्भागवत ६/२/१४)

सङ्केत (दूसरी वस्तुको लक्ष्यकर भगवन्नाम उच्चारण), परिहास (उपहासपूर्वक नामोच्चारण), स्तोभ (असम्मानपूर्वक नामोच्चारण) और हेला (अनादरपूर्वक-नामोच्चारण)—ये चार छाया नामाभास हैं। पण्डितजन ऐसे नामाभासको अशेष पापनाशक मानते हैं॥६१॥

नामाभासका फल—

तं निर्व्याजं भज गुणनिधे पावनं पावनानां
श्रद्धा-रज्यन्मतिरतितरामुत्तमःश्लोकमौलिम्।
प्रोद्यन्नन्तःकरणकुहरे हन्त यन्नामभानो-
राभासोऽपि क्षपयति महापातकध्वान्तराशिम्॥६२॥

(भ. र. सि. द. वि. १/५१)

हे गुणनिधे! आप परम पावन उत्तम श्लोक श्रीकृष्णका श्रद्धामूलक मतिसे अर्थात् श्रद्धायुक्त मतिसे अतिशीघ्र ही सरलभावसे भजन करें। क्योंकि उनके नामरूपी सूर्यका आभास मात्र अन्तःकरणमें उदित होकर महापातकरूपी अन्धकार समूहका विनाश करता है॥६२॥

यदाभासोऽप्युद्यन् कवलितभवध्वान्तविभवो
दृशं तत्त्वान्धानामपि दिशति भक्तिप्रणयिनीम्।
जनस्तस्योदात्तं जगति भगवन्नामतरणे
कृती ते निर्वक्तुं क इह महिमानं प्रभवति॥६३॥

(श्रीरूपगोस्वामीकृत कृष्णनाम ३ स्तोत्र)

हे भगवन्नामरूप सूर्य! आपका आभास ही (अर्थात् साङ्केत्य आदि द्वारा उच्चारण किया गया) संसाररूपी अन्धकारको विनष्ट करता है तथा तत्त्वान्धव्यक्ति (अनभिज्ञ व्यक्ति) को कृष्णभक्ति-विषयक चक्षु (तत्त्वज्ञान) प्रदान करता है। इस जगतमें क्या कोई विद्वान व्यक्ति अपनी विद्वत्ताके बलपर आपकी महिमाको सम्पूर्णरूपसे वर्णन करनेमें समर्थ हो सकता है? कदापि नहीं॥६३॥

हरिदास कहेन,—जैछे सूर्येर उदय।
उदय ना हैते आरम्भ तमेर हय क्षय॥
चोर-प्रेत-राक्षसादिर भय हय नाश।
उदय हैले धर्म-कर्म-आदि परकाश॥
ऐछे नामोदयारम्भे पाप-आदिर क्षय।
उदय कैले कृष्णपदे हय प्रेमोदय॥६४॥

(चै. च. अ. ३/१८२-८३)

श्रीहरिदास ठाकुर कहते हैं—कि सूर्यके उदित होनेके कुछ समय पूर्व ही ब्राह्म मुहूर्तमें जैसे अन्धकार दूर हो जाता है, उस समय चोर-भूत-प्रेत-राक्षस आदिका भय दूर हो जाता है तथा सूर्यके उदित होनेपर धर्म-कर्म आदि शुभ कर्मोंका अनुष्ठान होने लगता है, उसी प्रकार शुद्ध नामके उदयके प्रारम्भमें ही पाप आदि नष्ट हो जाते हैं और नामोदय होनेपर श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें प्रेमका प्रादुर्भाव हो जाता है॥६४॥

नाम तथा नामाभासका फलभेद—

नामैकं यस्य वाचि स्मरणपथगतं श्रोत्रमूलंगतं वा
शुद्धं वाशुद्धवर्णं व्यवहितरहितं तारयत्येव सत्यम्।
तच्चेद्देहद्रविणजनतालोभपाषण्डमध्ये
निक्षिप्तं स्यान्न फलजनकं शीघ्रमेवात्र विप्र॥६५॥

(पद्मपुराण-स्वर्गखण्ड ४८ अध्याय)

हे विप्रवर! एक हरिनाम भी जिसकी जिह्वापर उदित हो जाते हैं अथवा कर्णेन्द्रियमें प्रवेश करते हैं या स्मरण-पथपर जागरूक हो जाते हैं, उसका वे नाम (प्रभु) अवश्य ही उद्धार करेंगे। यहाँ नामोच्चारणमें वर्णोंकी शुद्धता अथवा अशुद्धता या विधिके अनुसार शुद्ध नामोच्चारण या अशुद्ध उच्चारण आदिका महत्त्व नहीं, अर्थात् श्रीनाम इनका कुछ भी विचार नहीं करते, परन्तु विचारणीय यह है कि यदि वे सर्वशक्तिसम्पन्न नाम शरीर, गृह, अर्थ-सम्पत्ति, पुत्र-परिवार और लोभ (काञ्चन कामिनी और प्रतिष्ठादि) आदि पाषाणके ऊपर पतित हों अर्थात् उनके उद्देश्यसे लिये जायें, तो फल शीघ्र ही उत्पन्न नहीं होता॥६५॥

नामाभास और नामापराधका फल एक नहीं है—

यथा नामाभासबलेनाजामिलो दुराचारोऽपि वैकुण्ठं प्रापितस्तथैव स्मार्त्तादयः सदाचाराः शास्त्रज्ञा अपि बहुशो नामग्राहिणोऽप्यर्थवादकल्पनादि-नामापराधबलेन घोरसंसारमेव प्राप्यन्ते॥६६॥

(श्रीमद्भा. ६/२/९-१० श्लोककी 'सारार्थदर्शिनी' टीका)

जिस प्रकार अत्यन्त दुराचारी होनेपर भी अजामिलने नामाभासके बलसे ही वैकुण्ठ लोकको प्राप्त किया, स्मार्त्त लोग सदाचार सम्पन्न, शास्त्रज्ञ तथा बहुत नामग्रहण करने पर भी वैसी गतिको प्राप्त नहीं कर सकते। क्योंकि वे नाममें अर्थवाद और अर्थ कल्पना आदि नामापराध करनेके कारण घोर संसारमें ही पतित होते हैं॥६६॥

निरपराधसे नाम ग्रहण ही कर्त्तव्य—

तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद्गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः।
न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्ष॥६७॥

(श्रीमद्भागवत २/३/२४)

हरिनाम ग्रहण करनेपर भी जिसका हृदय द्रवीभूत नहीं होता, नेत्रोंसे अविरल अश्रुधारा प्रवाहित नहीं होती तथा रोमावली आनन्दसे पुलकित नहीं होती, हाय! उसका हृदय पाषाणसदृश कठोर होता है इसलिए नामग्रहणसे भी वह द्रवीभूत नहीं होता॥६७॥

अश्रुपुलकावेव चित्तद्रवलिङ्गमित्यपि न शक्यते वक्तुम्;
यदुक्तं श्रीमद्रूप-गोस्वामिचरणैः—
"निसर्गपिच्छिल-स्वान्ते तदभ्यासपरेऽपि च।
सत्त्वाभासं विनापि स्युः क्वाप्यश्रुपुलकादयः॥ इति

(भ. र. सि. द. वि. ल. ५२ श्लोक)

★ ★ ततश्च बहिरश्रुपुलकादयोः सतोरपि यद्हृदयं न विक्रियेत तदश्मसारमिति वाक्यार्थः। ततश्च हृदयविक्रिया-लक्षणान्यसाधारणानि क्षान्तिनामग्रहणासक्त्यादीन्येव ज्ञेयानि। ★ ★ कनिष्ठाधिकारिणां समत्सराणान्तु सापराधचित्तत्वान्नामग्रहणबाहुल्येऽपि तन्माधुर्यानुभवाभावे चित्तं नैवं विक्रियेत, तद्व्यञ्जकाः क्षान्त्यादयोऽपि न भवन्ति, तेषामेव अश्रुपुलकादिमत्त्वेऽप्यश्मसार हृदयतया निन्दैषा। किञ्च! तेषामपि साधुसङ्गेनानर्थनिवृत्ति-निष्ठारुच्यादि-भूमिकारूढ़ानां कालेन चित्तद्रवे सति चित्तस्याश्मसारत्वमपगच्छत्येव। येषान्तु चित्तद्रवेऽपि सति चित्तस्याश्मसारता तिष्ठेदेव, ते तु दुश्चिकित्स्या एव ज्ञेयाः" ॥६८॥

(श्रीमद्भा. २/३/२४ 'सारार्थदर्शिनी'-टीका)

यद्यपि हरिनामके द्वारा चित्त द्रवताका बाह्य लक्षण अश्रु-पुलक आदि है। परन्तु सब समय अश्रु तथा पुलक ही चित्त क्षोभका लक्षण है, यह भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि श्रील रूपगोस्वामीपाद कहते हैं कि जिन लोगोंका चित्त स्वभावतः ही पिच्छल है अर्थात् ऊपरसे कोमल परन्तु अन्दरसे कठोर है, [दुर्गम सङ्गमनी द्रष्टव्य] तथा जो व्यक्ति सात्त्विकभाव उदित करानेके लिए धारणाके द्वारा अभ्यास करते हैं, ऐसे व्यक्तियोंके हृदयमें सत्त्वाभासके बिना भी कभी-कभी अश्रु-पुलक आदि देखे जाते हैं। बाहरमें अश्रु-पुलक आदि लक्षण देखे जानेपर भी जिसका हृदय विकृत नहीं है, वह 'पाषाण' सदृश कठोर है। हृदयविकारके मुख्य लक्षणोंका वर्णन श्रील रूपगोस्वामीपादने भक्तिरसामृतसिन्धुके पूर्व विभाग तृतीय लहरी ११ वें श्लोकमें किया है— (१) क्षान्ति अर्थात् चित्त क्षोभका

कारण उपस्थित होनेपर भी चित्त क्षुब्ध न होना, (२) अव्यर्थ कालत्व अर्थात् निरन्तर भगवत् सेवामें रत रहना, (३) विरक्ति अर्थात् कृष्णेतर वस्तुओंमें स्वाभाविकी अरुचि (श्रीमद्भा. ५/१४/४३ द्रष्टव्य), (४) मानशून्यता—उत्तम होनेपर भी स्वयंको निष्कपट तृणाधम ज्ञान, (५) आशाबन्ध—भगवत् सेवा प्राप्तिके विषयमें दृढ़ विश्वास, (६) समुत्कण्ठा—कृष्ण प्रीति प्राप्तिके लिए अत्यन्त उत्कण्ठित होना, (७) भगवन्नाम कीर्त्तनमें रुचि, (८) भगवान्के गुणानुवादमें आसक्ति और (९) भगवान्के धामोंमें प्रीति।

जिस भाग्यवान् व्यक्तिके सेवोन्मुख जिह्वापर शुद्ध हरिनाम उदित होनेके कारण हृदयमें विकार आ गया है, उसमें उक्त नौ प्रकारके लक्षण निश्चय ही देखे जायेंगे। अतः असाधारण क्षान्ति, नामग्रहणमें असाधारण आसक्तिको ही हृदय विकारका लक्षण समझना चाहिए। मत्सरतायुक्त वैष्णवप्राय साधारण व्यक्तिके चित्तमें अपराध रहनेके कारण अनेक समय 'नाम' (अर्थात् नामापराध) ग्रहण करनेपर भी नाम-माधुर्यके अनुभवके अभावमें उनका चित्त द्रवित नहीं होता। अतः चित्तकी क्षुब्धताको प्रकाशित करनेवाले 'क्षान्ति' प्रभृति नौ प्रकारके लक्षण दिखनेपर उनका हृदय अपराधके कारण पाषाण सदृश कठोर होता है। अतः वे निन्दाके योग्य हैं। परन्तु साधुसङ्गके द्वारा अनर्थोंकी निवृत्तिके पश्चात् इनका चित्त क्रमशः निष्ठा, रुचि आदि पद्धतिपर अग्रसर होकर उचित समयपर द्रवित हो सकता है तथा तभी उनके हृदयका काठिन्यरूपी अपराध दूर हो जाता है। किन्तु जिनका चित्तके द्रवित होनेपर भी अपराधयुक्त होनेके कारण जिनके चित्तकी कठोरता दूर नहीं होती, उनका वह रोग असाध्य है॥६८॥

दश प्रकारके नामापराध—

सतां निन्दा नाम्नः परममपराधं वितनुते
यतः ख्यातिं यातं कथमुसहते तद्विगर्हाम्॥६९॥
शिवस्य श्रीर्विष्णोर्य इह गुणनामादि सकलं
धिया भिन्नं पश्येत् स खलु हरिनामाहितकरः॥७०॥

गुरोरवज्ञा श्रुतिशास्त्रनिन्दनं तथार्थवादो हरिनाम्नि कल्पनम्।
नाम्नोबलाद् यस्य हि पापबुद्धिर्नविद्यते तस्य यमैर्हि शुद्धिः॥७१॥
धर्मव्रतत्यागहुतादि सर्वशुभक्रिया साम्यमपि प्रमादः।
अश्रद्दधाने विमुखेऽप्यश्रृण्वति यश्चोपदेशः शिवनामापराधः॥७२॥

श्रुत्वापि नाममाहात्म्यं यः प्रीतिरहितोऽधमः।
अहंममादिपरमो नाम्नि सोप्यपराधकृत्॥७३॥

जाते नामापराधे तु प्रमादे तु कथञ्चन।
सदा सङ्कीर्त्तयन्नाम तदेकशरणो भवेत्॥७४॥
नामापराधयुक्तानां नामान्येव हरन्त्यघम्।
अविश्रान्ति–प्रयुक्तानि तान्येवार्थकराणि यत्॥७५॥

(पद्मपुराण–स्वर्गखण्ड ४८वाँ अध्याय)

(१) सन्तोंकी निन्दा श्रीनामके निकट भीषण अपराध विस्तार करती है, जिन नाम–परायण सन्त महात्माओंके द्वारा श्रीकृष्णनामकी महिमाका संसारमें प्रचार होता है, उनकी निन्दा श्रीनाम प्रभु कैसे सह सकते हैं? अतः साधु–सन्तोंकी निन्दा करना पहला अपराध है।

(२) इस संसारमें जो मनुष्य बुद्धि द्वारा परम मङ्गलमय श्रीविष्णुके नाम, रूप, गुण और लीला आदिको नामी–विष्णुसे पृथक् मानते हैं, उनका वह हरिनाम (नामापराध) निश्चय ही अहितकर है।

(३) नाम–तत्त्वविद् गुरुको मरणशील और पञ्चभौतिक शरीरयुक्त साधारण मनुष्य मानकर उनकी अवज्ञा करना।

(४) वेद और सात्त्वत पुराण आदि शास्त्रोंकी निन्दा करना।

(५) हरिनामकी महिमाको अति–स्तुति समझना।

(६) भगवन्नामको काल्पनिक समझना अपराध है।

(७) जिनकी श्रीनामके बलपर पापकर्मोंमें प्रवृत्ति होती है, उनकी अनेक यम, नियम, ध्यान, धारणा आदि कृत्रिम योग–प्रक्रियाओंके द्वारा भी शुद्धि नहीं होती—यह निश्चित है।

(८) धर्म, व्रत, त्याग, होम आदि प्राकृत शुद्ध कर्मोंको अप्राकृत भगवन्नामके समान या तुल्य समझना भी प्रमाद या असावधानी है।

(९) श्रद्धाहीन और नाम–श्रवण करनेसे विमुख मनुष्यको नामका उपदेश देना भी नामापराध है।

(१०) नामकी अद्भुत महिमाको सुनकर भी जो (रक्त, मांस और चमड़ेके) शरीरमें 'मैं' और सांसारिक भोग्य पदार्थोंमें 'मेरा' की बुद्धि रखते हैं तथा श्रीनामोच्चारणमें प्रीति या आग्रह नहीं दिखलाते, वे भी नामापराधी हैं। नामापराधयुक्त व्यक्तियोंके पाप और अपराध नाम ही नष्ट करते हैं। निरन्तर नाम करनेसे ही प्रेमरूप अर्थ या प्रयोजन प्राप्त होता है॥६९–७५॥

साधुनिन्दा वा प्रधान नामापराध—

नाश्चर्यमेतद्यदसत्सु सर्वदा महद्विनिन्दा कुणपात्मवादिषु।
सेर्ष्यं महापूरुष पादपांशुभिर्निरस्ततेजःसु तदेव शोभनम्॥७६॥

(श्रीमद्भागवत ४/४/१३)

जो लोग जड़ देहको आत्मा समझते हैं, वे असत् व्यक्ति सर्वदा महाजनोंकी निन्दा करेंगे इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं, यद्यपि महापुरुष अपनी निन्दा सहन कर लेते हैं, परन्तु उनकी चरणरेणु महत्पुरुषोंकी निन्दा सहन नहीं कर पाती। वे इन निन्दकोंके तेजको सम्पूर्णरूपसे नष्ट कर देती है। इसलिए महत्पुरुषोंका विद्वेष करना ही असत् पुरुषोंके लिए शोभनीय है क्योंकि उसके द्वारा उन्हें समुचितरूपमें प्रतिफल अर्थात् नरकादि दुख भोग ही प्राप्त होते रहते हैं॥७६॥

ये गो-गर्द्दभादय इव विषयेस्वेवेन्द्रियाणि सदा चारयन्ति को भगवान् का भक्तिः को गुरुरिति स्वप्नेऽपि न जानन्ति तेषामेव नामाभासादिरीत्या गृहीत-हरिनाम्नामजामिलादीनामिव निरपराधानां गुरुं विनापि भवत्येवोद्धारः। हरिर्भजनीय एव भजनं तत्प्रापकमेव तदुपदेष्टा गुरुरेव गुरूपदिष्टा भक्ता एव पूर्वे हरिं प्रापुरिति विवेकविशेषवत्त्वेऽपि—"नोदीक्षां न च सत्क्रियां न च पुरश्चर्यां मनागीक्षते मन्त्रोऽयं रसनास्पृगेव फलति श्रीकृष्णनामात्मक" इति (पद्यावली १८ अङ्कधृत स्वामिकृत-श्लोक) प्रमाणदृष्ट्या अजामिलादि-दृष्टान्तेन किं मे गुरुकरणश्रमेण नामकीर्त्तनादिभिरेव मे भगवत्प्राप्तिर्भाविनीति मन्यमानस्तु गुर्व्वज्ञा-लक्षणमहापराधादेव भगवन्तं न प्राप्नोति किन्तु तस्मिन्नेव जन्मनि जन्मान्तरे वा तदपराधक्षये सति श्रीगुरु चरणाश्रित एव प्राप्नोतीति॥७७॥ (श्रीमद्भा. ६/२/९ 'सारार्थदर्शिनी'-टीका)

जो व्यक्ति गधे आदि पशुओंकी भाँति ही अपनी इन्द्रियोंको सम्पूर्णरूपसे सर्वदा विषयोंमें लगाकर भटकते रहते हैं, वे लोग भगवान कौन हैं? भक्ति क्या है? तथा गुरु कौन हैं?—स्वप्नमें भी इन तत्त्वपूर्ण बातोंको नहीं जान सकते, ऐसे व्यक्ति भी यदि अजामिलकी भाँति नामापराधशून्य होकर नामाभास आदि विधिके अनुसार हरिनाम ग्रहण करते हैं तो उनका गुरु अर्थात् साधुसङ्गके बिना ही उद्धार हो सकता है; श्रीहरि भजनीय वस्तु हैं। उनकी प्राप्तिका उपाय भजन तथा भजनके विषयमें उपदेश प्रदान करनेवाले ही गुरु (साधु) हैं। पूर्व युगोंमें सभी भक्तोंने श्रीगुरुदेवसे उपदेश ग्रहण करके ही श्रीभगवानको प्राप्त किया है। इस प्रकार विवेकवान (तत्त्वसे अवगत) होनेपर भी 'कृष्णनामस्वरूप' महामन्त्र जिह्वासे स्पर्शमात्रसे ही फल प्रदान करता है। दीक्षा, सत्क्रिया, पुरश्चर्या आदि विधियोंकी किञ्चित् मात्र भी अपेक्षा नहीं करता। इस शास्त्र प्रमाण एवं अजामिल आदिका गुरुकरणके बिना ही नामाभाससे मुक्ति देखकर जो लोग समझते हैं कि मुझे गुरुकरणरूप (गुरुसेवारूप) परिश्रमकी क्या आवश्यकता है? नामसङ्कीर्त्तनके द्वारा ही तो मुझे भगवत्प्राप्ति हो सकती है। ऐसे मननशील (विचारवाले) व्यक्ति गुरु अवज्ञारूपी महाअपराधके कारण भगवत्प्राप्तिसे वञ्चित हो जाते हैं। किन्तु

उसी जन्ममें अथवा अनेक जन्मोंके बाद उनके अपराध नष्ट होनेपर श्रीगुरुचरणाश्रय करनेसे ही (अर्थात् महान्तगुरु या साधुओंका आनुगत्य होते ही) उनके लिए भगवत्प्राप्ति सम्भव हो जाती है॥७७॥

वैष्णव-निन्दकके मुखसे नाम कीर्त्तन नहीं होता या
भगवान् उनकी पूजा ग्रहण नहीं करते—

हेन वैष्णवेर निन्दा करे जेइ जन।
सेइ पाय दुःखजन्म जीवन-मरण॥
विद्या-कुल-तप सब विफल ताहार।
वैष्णवेर निन्दा करे जे पापी दुराचार॥
पूजाओ ताहार कृष्ण ना करे ग्रहण।
वैष्णवेरे निन्दा करे जे पापिष्ठ-जन॥७८॥

(चै. भा. अ. ४/३६०-६२)

ऐसे वैष्णवोंकी जो लोग निन्दा करते हैं, वे जन्म और मरणके चक्करमें पड़कर सर्वदा दुःखोंसे जर्जरित होते हैं। ऐसे वैष्णव निन्दकोंकी विद्या, उच्चकुलमें जन्म, तपस्या सभी कुछ विफल है। श्रीकृष्ण ऐसे दुराचारी एवं पापी व्यक्तियोंकी पूजा कभी भी ग्रहण नहीं करते॥७८॥

शूलपाणि सम यदि वैष्णवेर निन्दे।
तथापिओ नाश जाय कहे शास्त्रवृन्दे॥
इहा ना मानिया जे सुजन निन्दा करे।
जन्मे जन्मे से पापिष्ठ दैव-दोषे मरे॥७९॥

(चै. भा. म. २२/५५-५६)

शास्त्र कहते हैं कि शूलपाणि महादेवके समान समर्थवान व्यक्ति भी यदि वैष्णवोंकी निन्दा करता है तो उसका भी अवश्य ही विनाश हो जाता है। शास्त्रोंकी इन बातोंका उल्लंघनकर जो वैष्णवोंकी निन्दा करते हैं, वे पापिष्ठ जन्म-जन्मान्तरोंमें आधिदैविक आदि तापोंके द्वारा जर्जरित होकर कष्ट भोगते हैं॥७९॥

वैष्णव—निन्दकोंकी अपरिसीम सजा; महाप्रभुजीका वाक्य—

प्रभु बले,—वैष्णव निन्दये जेई जन।
कुष्ठरोग कोन तारे शास्ति जे एखन॥
आपाततः शास्ति किछु हइयाछे मात्र।
आर कत आछे यम-यातनार पात्र॥

चौराशी सहस्र यम-यातना प्रत्यक्षे।
पुनः पुनः करि भुञ्जे वैष्णव-निन्दके॥८०॥

(चै. भा. ४/३७५-३७७)

प्रभु बोले—जो व्यक्ति वैष्णवोंकी निन्दा करता है, उसके लिए कुष्ठरोग कोई विशेष दण्ड नहीं है। अभी तो यह एक साधारणसा दण्ड मिला है, इसके अतिरिक्त और कितनी यम-यातनाएं भोगनी पड़ेंगी उनका अन्त नहीं है। वैष्णव निन्दक पुनः पुनः चौरासी हजार यम-यातनाओंको भोगता है॥८०॥

वैष्णव-निन्दक पितृपुरुषोंके साथ महारौरव नरकमें पतित होते हैं;
पतनके छह कारण—

निन्दां कुर्वन्ति ये मूढ़ा वैष्णवानां महात्मनाम्।
पतन्ति पितृभिः सार्द्धं महारौरव-संज्ञिते॥८१॥
हन्ति निन्दति वै द्वेष्टि वैष्णवान्नाभिनन्दति।
क्रुध्यते याति नो हर्षं दर्शने पतनानि षट्॥८२॥

(स्कन्दपुराण)

जो मूर्ख व्यक्ति महात्मा वैष्णवोंकी निन्दा करते रहते हैं, वे अपने पितृवर्गसहित (कुलसहित) महारौरव नामक नरकमें जाते हैं। जो वैष्णवोंकी हिंसा करते हैं, निन्दा करते हैं, द्वेष करते हैं, वैष्णवोंके दर्शनकर प्रणाम नहीं करते, वैष्णवोंके प्रति क्रोध प्रकाश करते हैं तथा वैष्णवोंके दर्शनसे आनन्दित नहीं होते—ये छह प्रकारके लोग अधःपतित हो जाते हैं॥८१-८२॥

वैष्णव निन्दककी जिह्वा छेदनीय—

कर्णौ पिधाय निरियाद्यदकल्प ईशे
धर्मावितर्यसृणिभिर्नृभिरस्यमाने।
छिन्द्यात् प्रसह्य रुशतीमसतां प्रभुश्चे-
ज्जिह्वामसूनपि ततो विसृजेत् स धर्मः॥८३॥

(श्रीमद्भागवत ४/४/१७)

कोई दुष्ट व्यक्ति धर्मकी रक्षा करनेवाले स्वामीकी निन्दा करता है तो दासको उसे दण्ड देनेकी सामर्थ्य न रहनेपर कानोंको बन्दकर उस स्थानसे उठकर चला जाना चाहिये। परन्तु सामर्थ्य रहनेपर बलपूर्वक उसकी निन्दा करनेवाली जिह्वाको काट लेना चाहिए तथा स्वयं भी अपने प्राणोंको परित्याग कर देना चाहिए, यही धर्म है॥८३॥

वैष्णवनिन्दा-श्रवणसे भी महान् दोष—

"वैष्णवनिन्दाश्रवणेऽपि दोष उक्तः—
'निन्दां भगवतः शृण्वन् तत्परस्य जनस्य वा।
ततो नापैति यः सोऽपि यात्यधः सुकृताच्च्युतः॥इति
ततोऽपगमश्चासमर्थस्य एव। समर्थेन तु निन्दकजिह्वा छेत्तव्या, तत्राप्यसमर्थेन स्वप्राणपरित्यागोऽपि कर्त्तव्यः॥"८४॥

(भक्तिसन्दर्भ २६५ संख्या)

केवल वैष्णव निन्दाकारी व्यक्ति ही दोषी (अपराधी) हैं, ऐसी बात नहीं है, जो वैष्णव निन्दा श्रवण करते हैं, उनको भी अपराध होता है। शास्त्रोंमें वर्णन है कि भगवान् या भक्तोंकी निन्दा श्रवणकर जो उस स्थानका त्याग नहीं करते हैं, वे लोग भी सुकृतिसे च्युत होकर अधःपतित हो जाते हैं। ऐसे स्थानसे चले जानेकी विधि असमर्थ लोगोंके लिए है। समर्थवानोंके लिए प्राण परित्याग ही एकमात्र कर्त्तव्य है॥८४॥

वैष्णव अपराध खण्डनका उपाय—

जे वैष्णव स्थाने अपराध हय जार।
पुनः सेइ क्षमिले से घुचे, नहे आर॥८५॥
काँटा फुटे जेइ मुखे, सेइ मुखे जाय।
पाये काँटा फुटिले कि स्कन्धे बाहिराय॥८६॥

(चै. भा. म. २२/७२, अ. ४/३८०)

जिसका जिन वैष्णवोंके चरणोंमें अपराध हुआ है, वह उन्हीं वैष्णवोंके द्वारा क्षमा कर देनेपर ही दूर होता है। जहाँ काँटा चुभता है वहींसे उसे निकाला जा सकता है, पैरमें काँटा चुभनेसे वह कन्धे या सिरसे बाहर नहीं निकल सकता॥८५-८६॥

दूसरा नामापराध—

शिवः शक्तियुतः शश्वत् त्रिलिङ्गो गुणसंवृतः।
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा॥८७॥
हरिर्हि निर्गुणः साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः।
स सर्वदृगुपद्रष्टा तं भजन् निर्गुणो भवेत्॥८८॥

(श्रीमद्भागवत १०/८८/३, ५)

वैकारिक, तैजस तथा तामस—इन तीनों प्रकारके अहङ्कारोंके द्वारा संवृत एवं सर्वदा मायाशक्तिसे युक्त ही 'शिव' हैं, तथा श्रीहरि प्रकृतिसे अतीत साक्षात्

निर्गुण पुरुष हैं। वे सबके ज्ञाता एवं सबके द्रष्टा हैं; उनका भजन करनेसे जीव निर्गुण हो जाते हैं। (अतः शिव आदि देवताओंका भगवान् विष्णुसे पृथक् तथा स्वतन्त्र शक्तिसिद्ध माननेसे अपराध होता है। उन्हें भगवान्‌का सेवक माननेसे नामापराध नहीं होता)॥८८॥

तीसरा नामापराध—

रजस्तमश्च सत्त्वेन सत्त्वञ्चोपशमेन च।
एतत् सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत्॥८९॥
यस्य साक्षाद्भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ।
मर्त्यासद्धीः श्रुतं तस्य सर्वं कुञ्जरशौचवत्॥९०॥

(श्रीमद्भागवत ७/१५/२५-२६)

श्रीगुरुकी अवज्ञा एक प्रधान नामापराध है। सत्त्वके द्वारा रज तथा तमको एवं निवृत्तिके द्वारा सत्त्वको जय करनेकी विधि है। परन्तु गुरु भक्तिके द्वारा अनायास ही इन सबको जय किया जा सकता है। उन साक्षात् भगवदभिन्न विग्रह, हृदयमें तत्त्वज्ञानरूपी प्रकाश प्रदान करनेवाले गुरुदेवके प्रति जिसकी प्राकृत बुद्धि (मर्त्यबुद्धि) होती है, उसका सब साधन-भजन हाथीको स्नान करानेके समान व्यर्थ है॥८९-९०॥

चौथा नामापराध—

श्रद्धां भागवते शास्त्रेऽनिन्दामन्यत्र चापि हि॥९१॥

(श्रीमद्भागवत ११/३/२६)

नमः प्रमाणमूलाय कवये शास्त्रयोनये।
प्रवृत्ताय निवृत्ताय निगमाय नमो नमः॥९२॥

(श्रीमद्भागवत १०/१६/४४)

वैदिक किसी शास्त्रकी निन्दा नहीं करेंगे, भागवत शास्त्रमें विशेष श्रद्धा करेंगे। किन्तु, अन्यान्य शास्त्र उन-उन अधिकारियोंके लिए उपयोगी जानकर उनकी भी निन्दा नहीं करेंगे। प्रमाणोंके मूल शास्त्रोंकी रचना करनेवाले कवियोंको प्रणाम करता हूँ। प्रवृत्ति-निवृत्तिबोधक निगम शास्त्रोंको भी प्रणाम करता हूँ॥९१-९२॥

पाचवाँ नामापराध—

प्रायेण वेद तदिदं न महाजनोऽयं
देव्या विमोहितमतिर्बत माययालम्।
त्रय्यां जड़ीकृतमतिर्मधुपुष्पितायां
वैतानिके महति कर्मणि युज्यमानः॥९३॥

(श्रीमद्भागवत ६/३/२५)

बड़े-बड़े महाजनोंकी बुद्धि (पूर्वोक्त भागवतवेत्ता द्वादश महाजनोंके अतिरिक्त जैमिनी, याज्ञवल्क्य आदिकी बुद्धि) प्रायः भगवान्‌की मायासे विमोहित हो जाती है। वे मधुपुष्पितरूपी (दिखनेमें अत्यन्त सुन्दर परन्तु परिणाममें विषतुल्य) फलोंका वर्णन करनेवाली वेदवाणियोंसे मोहित होकर यज्ञ, याग आदि बड़े-बड़े कर्मोंमें ही संलग्न रहते हैं। परन्तु सुगमातिसुगम भगवन्नामकी महिमा नहीं जान पाते हैं अर्थात् श्रीनामसे ही सर्वसिद्धि हो जाती है—इस शास्त्र वचनको स्तुतिवादमात्र जानकर नाममें उनकी निष्ठा नहीं होती है॥९३॥

प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम्।
न निष्पुनन्ति राजेन्द्र सुराकुम्भमिवापगाः॥९४॥

(श्रीमद्भागवत ६/१/१८)

हे राजेन्द्र! जिस प्रकार मदिरासे भरा हुआ घड़ा जलमें धोनेपर भी पवित्र नहीं होता, उसी प्रकार भगवानसे विमुख होकर बहुत समय तक प्रायश्चित्त करनेपर भी निष्पाप नहीं हुआ जा सकता, अर्थात् नाम-माहात्म्यको अतिस्तुति मानकर उसके प्रति अविश्वासकर कर्मकाण्डके द्वारा प्राप्त होनेवाले लौकिक फलके प्रति आकृष्ट होनेसे सर्वसिद्धि फलप्रद श्रीनामप्रभुके चरणोंमें अपराध हो जाता है॥९४॥

छठा नामापराध—

तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनो वचः।
नृणां येनेह विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वरः॥९५॥
किं जन्मभिस्त्रिभिर्वेह शौक्र-सावित्र-याज्ञिकैः।
कर्मभिर्वा त्रयीप्रोक्तैः पुंसोऽपि विबुधायुषा॥९६॥

(श्रीमद्भागवत ४/३१/९-१०)

(अन्य शुभ कर्मोंके साथ नामकी तुलना करनेसे अपराध होता है) श्रीनारदजीने कहा—मनुष्यके जिस जन्मके द्वारा, कर्मोंके द्वारा, आयुके द्वारा, मनके द्वारा, वाणीके द्वारा विश्वात्मा श्रीहरिकी सेवा होती है वही जन्म सार्थक है। यदि श्रीहरिकी सेवा नहीं हुई तो तीनों प्रकारके जन्मसे [माता-पितासे (शौक्र जन्म), उपनयनके द्वारा 'सावित्र' जन्म, विष्णुकी आराधनारूप यज्ञ दीक्षाके द्वारा 'दैक्षजन्म' से), वेदोक्त कर्मोंसे, देवाताओंके समान दीर्घ आयुसे क्या लाभ?॥९५-९६॥

अन्य शुभ कर्मोंका विफलता—

अविस्मितं तं परिपूर्णकामं स्वेनैव लाभेन समं प्रशान्तम्।
विनोपसर्पत्यपरं हि बालिशः श्वलाङ्गुलेनातितितर्त्ति सिन्धुम्॥९७॥

(श्रीमद्भागवत ६/९/२२)

देवताओंने कहा—आपके लिए कोई नयी बात न होनेके कारण आप विस्मित नहीं होते हैं। ऐसे परमेश्वर विष्णुके अतिरिक्त जो व्यक्ति अन्यान्य देवी-देवताओंकी

शरण ग्रहण करता है, वह निश्चय ही अज्ञ है, क्योंकि वह कुत्तेकी पूँछ पकड़कर समुद्रको पार करनेकी इच्छा करता है। अर्थात् जिस प्रकार समुद्रसे पार होनेके लिए सुदृढ़ नौकाकी आवश्यकता होती है, कुत्तेकी पूँछ पकड़कर समुद्रसे पार नहीं हुआ जा सकता, उसी प्रकार श्रीविष्णुके अतिरिक्त अन्यान्य देवी-देवताओंकी शरण ग्रहण करनेसे संसारसागरको पार करना असम्भव है॥९७॥

सातवाँ अपराध—

मन्ये धनाभिजनरुपतपः श्रुतौजस्तेजः प्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः।
नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय॥९८॥

(श्रीमद्भागवत ७/९/९)

(अश्रद्धालु व्यक्तिको नामका उपदेश प्रदान करनेसे नामापराध होता है) प्रह्लादजीने नृसिंहदेवकी स्तुति करते हुए कहा—मैं समझता हूँ धन, कुलीनता, शारीरिक सौन्दर्य, तपस्या, विद्वता, इन्द्रिय नियन्त्रण, तेज (कान्ति), प्रभाव, शारीरिक बल पौरुष, बुद्धि तथा अष्टाङ्ग योग—ये बारह गुण भी भगवत् आराधनामें समर्थ नहीं हैं, परन्तु (श्रद्धा जात) भक्तिके द्वारा तो भगवान् गजेन्द्र पर भी सन्तुष्ट हो गये अर्थात् दीन व्यक्तिकी श्रद्धा ही उनकी आराधनाके योग्य है॥९८॥

आठवाँ नामापराध—

क्वचिन्निवर्त्ततेऽभद्रात् क्वचिच्चरति तत् पुनः।
प्रायश्चित्तमतोऽपार्थं मन्ये कुञ्जरशौचवत्॥९९॥

(श्रीमद्भागवत ६/१/१०)

इस जगतमें लोग प्रायश्चित्तके द्वारा कभी-कभी पापोंसे निवृत्त होते हैं तथा कभी प्रायश्चित्तकी आशासे पुनः उन समस्त पापोंको कर देते हैं। उनके लिए यह प्रायश्चित्त करना हाथीको स्नान करानेके समान निरर्थक है॥९९॥

नवाँ अपराध—

तस्मात् सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा।
श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च स्मर्त्तव्यो भगवान् नृणाम्॥१००॥

(श्रीमद्भागवत २/२/३६)

हे महाराज परीक्षित! (जिसके अतिरिक्त कोई दूसरा सरल, निर्विघ्न मार्ग नहीं है, वह भक्तियोग जिसके द्वारा उदित होता है) मनुष्यमात्रका कर्त्तव्य है कि केवल अपने चित्त तथा इन्द्रिय-वृत्तिको संयतकर (हृदयसे) सर्वत्र एवं सब समय उन भगवान् श्रीहरिका नाम आदिका श्रवण, कीर्त्तन एवं स्मरण आदि भक्तिके अङ्गोंका पालन करें॥१००॥

दशवाँ नामापराध—

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचिज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः॥१०१॥

(श्रीमद्भागवत १०/८४/१३)

जो मनुष्य वात, पित्त, कफ इन तीन धातुओंसे बने हुए शवतुल्य शरीरको ही आत्मा 'मैं', स्त्री, पुत्र आदिको ही 'मेरा' तथा मिट्टी, पत्थर, काष्ठ आदि पार्थिव विकारोंको ही इष्टदेव मानता है और जो केवल जलको ही तीर्थ समझता है—भगवद्भक्तोंको नहीं, वह मनुष्य होनेपर भी पशुओंमें नीच गधा ही है॥१०१॥

कृष्णनाम करे अपराधेर विचार।
'कृष्ण' बलिले अपराधीर ना हय विकार॥१०२॥

(चै. च. आ. ८/२४)

कृष्णनाम अपराधका विचार करते हैं। कृष्णनाम करनेपर भी नामापराधीका हृदय द्रवित नहीं होता है, अथवा उसके अङ्गोंमे पुलकादि कोई भी विकार नहीं होता॥१०२॥

तार मध्ये सर्वश्रेष्ठ नाम-सङ्कीर्त्तन।
निरपराधे नाम लइले पाय प्रेमधन॥१०३॥

(चै. च. अ. ४/१७)

चौसठ प्रकारके भक्ति अङ्गोंमें नौ प्रकारके भक्ति अङ्ग श्रेष्ठ हैं, पुनः नौमें से पाँच अङ्ग श्रेष्ठ हैं, उनमें भी श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तन सर्वश्रेष्ठ है। निरापराध होकर नाम लेनेसे शीघ्र ही प्रेम-सम्पत्ति (भक्ति) प्राप्त हो जाती है॥१०३॥

बहुजन्म करे यदि श्रवण-कीर्त्तन।
तबु त ना पाय कृष्णपदे प्रेमधन॥१०४॥

(चै. च. आ. ८/१६)

अनेक जन्मों तक श्रवण-कीर्त्तन करनेपर भी अपराधके रहते हुए श्रीकृष्णके चरणोंमें प्रेमरूप महाधनकी प्राप्ति नहीं होती॥१०४॥

एक कृष्णनाम करे सर्वपापनाश।
प्रेमेर कारण भक्ति करेन प्रकाश॥
अनायासे भवक्षय, कृष्णेर सेवन।
एक कृष्ण-नामेर फले पाइ एत धन॥१०५॥

(चै. च. आ. ८/२६-२८)

एक कृष्ण-नाम समस्त पापोंका विनाशकर प्रेमके द्वारा भक्तिका प्रकाश करते हैं, अनायास रूपमें सांसारिक आवागमनको दूरकर कृष्णकी साक्षात् सेवामें नियुक्त कर देते हैं। एक श्रीकृष्णनामके फलसे इतनी सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है॥१०५॥

हेन कृष्ण-नाम यदि लय बहुबार।
तबु यदि प्रेम नहे, नहे अश्रुधार॥
तबे जानि ताहाते अपराध प्रचुर।
कृष्णनाम-बीज ताहे ना करे अङ्कुर॥१०६॥

(चै. च. म. ८/२९-३०)

ऐसे माहात्म्ययुक्त श्रीकृष्णनामको बारम्बार ग्रहण करनेपर भी यदि श्रीकृष्णप्रेमका प्रादुर्भाव नहीं होता और नेत्रोंसे अविरल अश्रुधारा प्रवाहित नहीं होती तो ऐसा समझना चाहिये कि मेरे प्रचुर अपराध हैं॥१०६॥

मायावादी या नामापराधीके मुखमें नामका उदय नहीं होता—

अतएव तार मुखे ना आइसे कृष्णनाम।
'कृष्ण-नाम' 'कृष्ण-स्वरूप'—दुइ त' समान॥
'नाम' 'विग्रह' 'स्वरूप'—तिन एकरूप।
तिने 'भेद' नाहि—तिन चिदानन्द-रूप॥
देह-देहीर, नाम-नामीर कृष्णे नाहि 'भेद'।
जीवेर-धर्म नाम-देह स्वरूपे 'विभेद'॥
अतएव कृष्णेर 'नाम', 'देह', 'विलास'।
प्राकृतेन्द्रिय ग्राह्य नहे, हय स्वप्रकाश॥१०७॥

(चै. च. म. १७/१३०-१३२, १३४)

मायावादी एवं भगवद् अपराधियोंके मुखमें शुद्ध कृष्णनामका उदय नहीं होता। कृष्णनाम और कृष्ण दोनों अभिन्न हैं। श्रीनाम, श्रीविग्रह एवं श्रीस्वरूप इन तीनोंमें कोई भेद नहीं हैं—ये तीनों सच्चिदानन्द हैं। श्रीकृष्णमें देह-देही और नाम-नामीका भेद नहीं है, किन्तु बद्धजीवके स्वरूपसे उसके नाम, रूप, देह आदिमें सम्पूर्ण भेद है। इसलिए कृष्णके नाम, देह और विलास आदि प्राकृत-इन्द्रियोंके द्वारा ग्राह्य नहीं है। ये स्वप्रकाश हैं अर्थात् स्वेच्छासे ही कहीं प्रकाशित होते हैं॥१०७॥

नामकीर्त्तन नृत्य-गीत आदिके द्वारा जीविकार्जन नामापराध—

गीत-नृत्यानि कुर्वीत द्विजदेवादितुष्टये।
न जीवनाय युञ्जीत विप्रः पापभिया क्वचित्॥१०८॥

(ह. भ. वि. ८/१११)

देवताओं और ब्राह्मणोंकी प्रीतिके लिए ही गीत-नृत्य आदि करना, किन्तु कभी भी जीविकार्जनके लिए मत करना। जीविका कमानेके लिए नृत्य-गीत आदि करनेसे पाप लगता है॥१०८॥

क्वचित् कदाचिदपि जीवनाय निजवृत्त्यर्थं न युञ्जीत न कुर्यात्। तत्र हेतुः पापाद्भिया तथा सति पापं स्यादित्यर्थः॥१०९॥

(श्रीलसनातन गोस्वामी-टीका)

अपनी जीविका अर्जनके लिए कदापि कीर्त्तन-नृत्यादि न करें अन्यथा पापमें डूबना पड़ेगा॥१०९॥

धनशिष्यादिभिर्द्वारैर्या भक्तिरुपपद्यते।
विदूरत्वादुत्तमताहान्या तस्याश्च नाङ्गता॥११०॥

(भ. र. सि. पू. २/१२८ संख्याधृत श्रीलरूपगोस्वामीचरणकृत-कारिका)

धन तथा शिष्य आदिके द्वारा जिस भक्तिका उदय होता है, उसे कभी भी उत्तमा भक्तिका अङ्ग नहीं कहा जा सकता क्योंकि उससे शैथिल्यवशतः उत्तमताकी हानि ही होती है। (तात्पर्य यह है कि 'ज्ञानकर्माद्यनावृतम्' अर्थात् ज्ञान कर्म आदिसे अनावृत इस वाक्यमें 'आदि' पदसे शिथिलता प्रभृति समस्त भक्तिके प्रतिकूल अङ्गोंको समझना चाहिए। धन तथा शिष्य आदिके द्वारा जो भक्ति होती है वह स्थायी नहीं होती, उनके अभावमें शिथिल हो जाती है। अतः धन-शिष्य आदिके द्वारा प्राप्त भक्तिको कदापि उत्तमा भक्तिका अङ्ग नहीं कहा जा सकता)॥११०॥

काय-मनो-वाक्य द्वारा जीवको कृष्णभक्तिमें उन्मुख करना ही सर्वापेक्षा श्रेष्ठ दया वा मंगलाचरण—

एतावज्जन्मसाफल्यं देहिनामिह देहिषु।
प्राणैरर्थैर्धिया वाचा श्रेय आचरणं सदा॥१११॥

(श्रीमद्भागवत १०/२२/३५)

प्राण अर्थ, बुद्धि और वाणीके द्वारा दूसरोंका सर्वदा श्रेय (आत्म कल्याण) करनेमें ही देहधारी मनुष्यके जन्मकी सफलता है अर्थात् भगवद्-विमुख जीवोंको भगवद्-उन्मुख करनेमें ही मनुष्य जन्मकी सार्थकता है॥१११॥

प्राणिनामुपकाराय यदेवेह परत्र च।
कर्मणा मनसा वाचा तदेव मतिमान् भजेत्॥११२॥

(विष्णुपुराण ३/४२)

कर्म, मन तथा वाक्य (वाणीके) द्वारा इस लोकमें तथा परलोकमें प्राणियोंका जैसे भी कल्याण होता है, बुद्धिमान् लोग वैसा ही आचरण करते हैं॥११२॥

आचार और प्रचार करना ही जगद्गुरुका कार्य है,
यही उनकी जीवोंके ऊपर कृपा है—

आपने आचरे केह, ना करे प्रचार।
प्रचार करेन केह, ना करे आचार॥
'आचार', 'प्रचार',—नामेर करह दुइ कार्य।
तुमि—सर्व-गुरु, तुमि—जगतेर आर्य॥११३॥

(चै. च. अ. ४/१०२-१०३)

कोई-कोई स्वयं आचरण तो करते हैं, किन्तु प्रचार नहीं करते, कुछ लोग प्रचार तो करते हैं, किन्तु स्वयं आचरण नहीं करते; किन्तु हे हरिदास ठाकुर! आप स्वयं नामका जप व कीर्त्तन करते हैं तथा साथ ही उसका प्रचार भी करते हैं। इसलिए आप जगद्गुरु एवं जगतमें सर्वश्रेष्ठ महापुरुष हैं॥११३॥

गौरसुन्दरके आनुगत्यमें कृष्णनाम प्रचारके द्वारा
ही महाप्रभुजीका सङ्ग प्राप्त होता है—

जारे देख, तारे कह 'कृष्ण' उपदेश।
आमार आज्ञाय गुरु हञा तार एइ देश॥
कभु ना बाधिबे तोमाय विषय-तरङ्ग।
पुनरपि एइ ठाञि पाबे मोर सङ्ग॥११४॥

(चै. च. म. ७/१२८-१२९)

जिसे भी देखो उसको कृष्णनाम करनेका उपदेश करो। मेरी आज्ञासे गुरु बनकर इस देशका उद्धार करो। इससे विषयोंमें तुम्हारी आसक्ति नहीं होगी, विषयोंकी तरङ्गें तनिक भी बाधा नहीं दे सकतीं। पुनः इसी जगह पर मेरा सङ्ग पाओगे॥११४॥

भारत भूमिमें जन्म ग्रहणकर जीवोंको कृष्णोन्मुख करना ही कर्त्तव्य है—

भारत-भूमिते हैल मनुष्य-जन्म जार।
जन्म सार्थक करि कर पर-उपकार॥११५॥

(चै. च. आ. ९/४१)

पवित्र भारत भूमिमें मनुष्य योनिमें जिनका जन्म हुआ है वे अपना जन्म सार्थककर परोपकार करें अर्थात् श्रीगुरु पदाश्रयकर शुद्धाभक्तिका साधन करें तथा दूसरोंसे करायें, यही श्रेष्ठ उपकार है॥११५॥

परिशिष्ट

ब्रह्मयामल नामक ग्रन्थमें शिवजीके वाक्यमें महामन्त्रका स्वरूप
इस प्रकार लिखा है—

हरिं विना नास्ति किञ्चित् पाप निस्तारक कलौ।
तस्माल्लोकोद्धारणार्थं हरिनाम प्रकाशयेत्।
सर्वत्र मुच्यते लोको महापापात् कलौ युगे॥
हरे कृष्ण पदद्वन्द्वं कृष्णेति च पदद्वयम्।
तथा हरे पदद्वन्द्वं हरे राम इति द्वयम्॥
तदन्ते च महादेवि! राम राम द्वयम् वदेत।
हरे हरे ततो ब्रूयाद् हरिनाम समुद्धरेत्॥
महामन्त्रं च कृष्णस्य सर्वपापप्रणाशकमिति॥१॥

हे महादेवी! कलियुगमें श्रीहरिनामके बिना कोई भी साधन सरलतासे पाप निस्तारक नहीं है। अतः सर्व-साधारणका उद्धार करनेके लिये श्रीहरिनामको प्रकाशित कर देना चाहिए। कलियुगमें 'महामन्त्र' का सङ्कीर्त्तन करनेसे व्यक्तिमात्र सभी जगह विमुक्त हो सकते हैं। महामन्त्रमें पहले 'हरे कृष्ण' 'हरे कृष्ण' ये दो पद बोलने चाहिए। उसके बाद 'कृष्ण कृष्ण' ये दो पद बोलने चाहिए। तत्पश्चात् 'हरे हरे' ये दो पद बोलने चाहिए। उसके बाद 'हरे राम' 'हरे राम' ये दो पद बोलकर तथा 'राम राम' ये दो पद बोलकर 'हरे हरे' इन दो पदोंको बोलकर सर्वपाप विनाशक श्रीकृष्णके 'महामन्त्र' का समुद्धरण करना चाहिए॥१॥

राधा-तन्त्रमें भी भक्त बोले कि—

श्रृणु मातर्महामाये! विश्वबीज स्वरूपिणि!
हरिनाम्नो महामाये! क्रमं वद सुरेश्वरि!॥२॥

हे विश्वबीज स्वरूपिणी! सुरेश्वरि! महामाये! मातः! मेरी प्रार्थना है कि आप मुझे श्रीहरिनाम 'महामन्त्र'के उच्चारणके क्रमका उपदेश कीजिए॥२॥

देवीने उत्तर दिया—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥
द्वात्रिंशदक्षराण्येव कलौ नामानि सर्वदम्।
एतन्मन्त्रं सुतश्रेष्ठ! प्रथमं श्रृणुयान्नरः॥३॥

हे पुत्रश्रेष्ठ! सर्वसिद्धिप्रद 'हरे कृष्ण हरे कृष्ण' इत्यादि बत्तीस अक्षरोंको ही कलियुगमें 'महामन्त्र' कहा जाता है। अतः अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको श्रीगुरुके द्वारा पहले उस महामन्त्रका श्रवण करना चाहिए॥३॥

पद्मपुराणमें भी कहा है कि—

"द्वात्रिंशदक्षरं मन्त्रं नामषोडशकान्वितम्।
प्रजपन् वैष्णवो नित्यं राधाकृष्णस्थलं लभेत्॥४॥

सोलह नामोंसे युक्त बत्तीस अक्षरोंवाले 'हरे कृष्ण' इत्यादि 'महामन्त्र' को नित्य जप करनेवाला वैष्णव, श्रीराधाकृष्णके गोलोक धामको प्राप्त कर लेता है॥४॥

ब्रह्माण्डपुराणके राधाहृदयखण्डमें भी वेदव्यासजीके प्रति,
रोमहर्षणका प्रश्न इस प्रकार है—

"यत्वया कीर्त्तितं नाथ! हरिनामेति संज्ञितम्।
मन्त्रं ब्रह्मपदं सिद्धिकरं तत् वद नो विभो॥"५॥

हे विभो! हे स्वामिन्! आपने श्रीहरिनामक ब्रह्मस्वरूप एवं सिद्धिप्रद जो मन्त्र कहा है, उसका स्वरूप कृपाकर हमें बतावें॥५॥

"ग्रहणाद् यस्य मन्त्रस्य देही ब्रह्ममयो भवेत्।
सद्यः पूतः सुरापोऽपि सर्वसिद्धियुतो भवेत्।
तदहं तेऽभिधास्यामि महाभागवतो ह्यसि॥
"हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥
इति षोडशकं नाम्नां त्रिकालकल्मषापहम्।
नातः परतरोपायः सर्ववेदेषु विद्यते॥६॥

देखो पुत्र! जिस मन्त्रके ग्रहण करनेसे देहधारी प्राणी ब्रह्ममय हो जाता है, एवं मद्यपान करनेवाला व्यक्ति भी तत्काल पवित्र होकर सब सिद्धियोंसे युक्त हो जाता है, उस मन्त्रको मैं तुम्हें अवश्य कहूँगा, क्योंकि तुम विशिष्ट भगवद्भक्त हो। देखो! 'हरे कृष्ण' इत्यादि सोलह नामोंवाला 'महामन्त्र' त्रैकालिक पापोंको विनष्ट करनेवाला है। चारों वेदोंमें इस 'महामन्त्र' की अपेक्षा संसारसे पार होनेका अन्य कोई भी श्रेष्ठ उपाय नहीं बताया है॥६॥

सनत्कुमार संहिता भी कहती है कि—

"हरे कृष्ण द्विरावृत्तौ कृष्ण तादृक् तथा हरे।
हरे राम तथा राम तथा तादृक् हरे पुनः॥
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥"७॥

'हरे कृष्ण' पद दो बार उसी प्रकार 'कृष्ण' पद तथा 'हरे' पदको भी क्रमानुसार दो-दो बार तथा उसी प्रकार 'हरे राम' 'राम' और 'हरे' पदको भी क्रमानुसार दो-दो बार उच्चारण करें॥७॥

श्रीभक्तिचन्द्रिकाके सप्तम पटलमें कहा है कि—

"अथ मन्त्रवरं वक्ष्ये द्वात्रिंशदक्षरान्वितम्।
सर्वपापप्रशमनं सर्वदुर्वासनाऽनलम्॥
चतुर्वर्गप्रद सौम्यं भक्तिदम् प्रेमपूर्वकम्।
दुर्बुद्धिहरणं शुद्धसत्त्वबुद्धिप्रदायकम्॥
सर्वाराध्यं सर्वसेव्यं सर्वेषां कामपूरकम्।
सर्वाधिकारसयुक्तं सर्वलोकैकबान्धवम्॥
सर्वाकर्षणसयुक्तं दुष्टव्याधिविनाशनम्।
दीक्षाविधिविहीनं च कालाकालविवर्जितम्॥
वाङ्मात्रेण सर्वेषां फलदायकम्।
देशकाल च नियमितं सर्ववादि सुसम्मतम्॥८॥

यह 'महामन्त्र' बत्तीस अक्षरोंसे युक्त है, समस्त पापोंका नाशक है, सभी प्रकारकी दुर्वासनाओंको जलानेके लिए अग्निस्वरूप है, धर्म-अर्थ-काम-मोक्षको देनेवाला है, दुर्बुद्धिको हरनेवाला है, शुद्धसत्त्वस्वरूप भगवद्वृत्तिवाली बुद्धिको देनेवाला है, सभीका आराधनीय एवं सेवनीय है, सभीकी कामनाओंको पूर्ण करनेवाला है। महामन्त्रके सङ्कीर्त्तनमें सभीका अधिकार है, यह मन्त्र सभीका मुख्य बान्धव है, दीक्षाविधि आदिकी अपेक्षासे रहित है, वाणीमात्रसे पूजित करनेयोग्य है, बाह्यपूजा विधिकी अपेक्षा नहीं करता है, केवल जिह्वाके स्पर्शमात्रसे फलदायक है, देश काल आदिके नियमसे विमुक्त है। अतः यह सर्ववादीजनके द्वारा सुसम्मत है॥८॥

श्रीचैतन्यभागवतमें भी कहा गया है—

"प्रभु बले, "कृष्णभक्ति हउक सबार।
कृष्णनाम गुण बई ना बलिह आर॥
आपने सबारे प्रभु करे उपदेशे।
"कृष्णनाम महामन्त्र सुनह हरिषे॥
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥
प्रभु बले, "कहिलाञ एइ महामन्त्र।
इहा जप गिया सबे करिया निर्बन्ध॥

इहा हैते सर्वसिद्धि हइबे सबार।
सर्वक्षण बल इथे विधि नाहि आर॥९॥

(चै. भा. म. १३/७४-७८)

प्रभु बोले—सभीको कृष्ण-भक्ति प्राप्त हो, कृष्णके नाम व गुणानुवर्णनके अतिरिक्त मुखसे कुछ भी न कहना। प्रभुजी स्वयं सबको उपदेश देने लगे—सभी लोग प्रसन्नचित्त होकर कृष्णनाम महामन्त्रका ही श्रवण करो। मैंने जो यह महामन्त्र बतलाया है, सब लोग जाकर एकाग्रचित्तसे इसका जप करो—इससे समस्त प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त हो जायेंगी। सदा-सर्वदा इसका जप करो, इसमें किसी प्रकारकी विधि या नियमकी अपेक्षा नहीं है॥९॥

कि शयने कि भोजने किवा जागरणे।
अहर्निश चिन्त कृष्ण बलह वदने॥१०॥

(चै. भा. म. २८/२८)

सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते—सर्वदा 'हरे कृष्ण' बोलो और उसीका ही स्मरण करो॥१०॥

सर्वदा श्रीमुखे 'हरे कृष्ण हरे कृष्ण' बले।
बलिते आनन्द धारा निरवधि झरे॥११॥

(चै. भा. अ. १/१९९)

'हरे कृष्ण हरे कृष्ण' बोलते-बोलते श्रीचैतन्य महाप्रभुकी आँखोंसे निरन्तर आनन्दाश्रुकी धारा प्रवाहित होती है॥११॥

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥
एइ श्लोक नाम बलि लय महामन्त्र।
षोल नाम बत्तीस अक्षर एइ तन्त्र॥
साधिते-साधिते जबे प्रेमाङ्कुर हबे।
साध्य-साधन तत्त्व जानिबे से तबे॥१२॥

(चै. भा. आ. १४/१४५-१४७)

सोलह नाम, बत्तीस अक्षरका यह श्लोक महामन्त्रके नामसे जाना जाता है, यह तन्त्र भी है। इसका साधन करते-करते जब प्रेम अङ्कुरित होगा, उसके प्रभावसे ही साध्य-साधन तत्त्व जाना जा सकता है॥१२॥

कृष्णनामका स्वभाव—

कृष्णनाम-महामन्त्रेर एइ त स्वभाव।
जेइ जपे, तार कृष्णे उपजये भाव॥

कृष्ण विषयक प्रेमा-परम पुरुषार्थ।
जार आगे तृणतुल्य चारि पुरुषार्थ॥
पञ्चम पुरुषार्थ प्रेमानन्दामृत सिन्धु।
ब्रह्मादि आनन्द जार नहे एक बिन्दु॥
कृष्णनामेर फल-'प्रेमा' सर्वशास्त्रे कय॥१३॥

(चै. च. आ. ७/८३-८६)

कृष्णनाम महामन्त्रका ऐसा ही स्वभाव है, जो उसका जप करता है, उसका कृष्णमें भाव उत्पन्न हो जाता है। कृष्ण विषयक प्रेम ही परम पुरुषार्थ है जिसके आगे चारों पुरुषार्थ तृणके समान हैं। पञ्चम पुरुषार्थ प्रेम-आनन्दामृत सिन्धुके समान है एवं ब्रह्मानन्द उस प्रेमानन्दके एक बूँदके समान भी नहीं है॥१३॥

म्रियमाणो हरेर्नाम गृणन् पुत्रोपचारितम्।
अजामिलोऽप्यगाद्धाम किं पुनः श्रद्धया गृणन्॥१४॥

(श्रीमद्भागवत ६/२/४९)

परीक्षित्! देखो—अजामिल जैसे पापीने मृत्युके समय पुत्रके बहाने भगवान्के नामका उच्चारण किया। उसे भी वैकुण्ठकी प्राप्ति हो गयी। फिर जो लोग श्रद्धाके साथ भगवन्नामका उच्चारण करते हैं, उनकी तो बात ही क्या है॥१४॥

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः।
भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः॥१५॥

(श्रीमद्भागवत ६/३/२२)

इस जगत्में जीवोंके लिए बस, यही सबसे बड़ा कर्त्तव्य—परम धर्म—है कि वे नाम-कीर्त्तन आदि उपायोंसे भगवान्के चरणोंमें भक्तिभाव प्राप्त कर लें॥१५॥

जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं
चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम्।
कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि
तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान्॥१६॥

(श्रीमद्भागवत ६/३/२९)

जिनकी जीभ भगवान्के गुणों और नामोंका उच्चारण नहीं करती, जिनका चित्त उनके चरणारविन्दोंका चिन्तन नहीं करता और जिनका सिर एक बार भी भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें नहीं झुकता, उन भगवत्सेवाविमुख पापियोंको ही मेरे पास लाया करो॥१६॥

अहं हरे तव पादैकमूल दासानुदासो भवितास्मि भूयः।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते गृणीत वाक् कर्म करोतु कायः॥१७॥

(श्रीमद्भागवत ६/११/२४)

(भगवान्‌का प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए वृत्रासुरने प्रार्थना कि—) प्रभो! आप मुझपर ऐसी कृपा कीजिए कि अनन्यभावसे आपके चरणकमलोंके आश्रित सेवकोंकी सेवा करनेका अवसर मुझे अगले जन्ममें भी प्राप्त हो। प्राणवल्लभ! मेरा मन आपके मङ्गलमय गुणोंका स्मरण करता रहे, मेरी वाणी उन्हींका गान करे और शरीर आपकी सेवामें ही संलग्न रहे॥१७॥

न हि भगवन्नघटितमिदं त्वद्दर्शनान्नृणामखिलपापक्षयः।
यन्नामसकृच्छ्रवणात् पुल्कसकोऽपि विमुच्यते संसारात्॥१८॥

(श्रीमद्भागवत ६/१६/४४)

भगवन्! आपके दर्शनमात्रसे ही मनुष्योंके सारे पाप क्षीण हो जाते हैं, यह कोई असम्भव बात नहीं है, क्योंकि आपका नाम एकबार सुननेसे ही नीच चाण्डाल भी संसारसे मुक्तहो जाता है॥१८॥

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥१९॥

(श्रीमद्भागवत ३/३३/७)

अहो! वह चाण्डाल भी इसी कारण सर्वश्रेष्ठ है कि उसकी जिह्वाके अग्रभागमें आपका नाम विराजमान है। जो श्रेष्ठ पुरुष आपका नाम उच्चारण करते हैं, उन्होंने तप, हवन, तीर्थस्नान, सदाचारका पालन और वेदाध्ययन—सब कुछ कर लिया॥१९॥

एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम्।
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्त्तनम्॥२०॥

(श्रीमद्भागवत २/१/११)

जो लोग इस लोक या परलोककी किसी भी वस्तुकी इच्छा रखते हैं अथवा इसके विपरीत संसारमें दुःखका अनुभव करके जो उससे विरक्त हो गये हैं और निर्भय मोक्षपदको प्राप्त करना चाहते हैं, उन साधकोंके लिये तथा योगसम्पन्न सिद्ध ज्ञानियोंके लिये भी समस्त शास्त्रोंका यही निर्णय है कि वे भगवान्‌के नामोंका प्रेमसे संकीर्त्तन करें॥२०॥

मन्यामहे कीर्त्तनमेव सत्तमं लोलात्मकैक स्वहृदि स्फुरत्स्मृतेः।
वाचि स्वयुक्ते मनसि श्रुतौ तथा दीव्यत् परानप्युपकुर्वदात्मवत्॥२१॥

(बृहद्भागवतामृतम् २/३/१४८)

हमारा तो यह मत है कि कीर्त्तन भक्ति ही स्मरणसे श्रेष्ठ है क्योंकि स्मरण भक्ति एकमात्र चञ्चल मनमें ही प्रकाशित होती है और कीर्त्तन भक्ति जिह्वा, कान तथा मनमें प्रकाशित होते हुए भी अपने आसपास रहनेवाले दूसरे जीवोंको भी अपनी तरह सुख प्रदान करती है॥२१॥

कृष्णस्य नानाविधकीर्त्तनेषु तन्नामसंकीर्त्तनमेव मुख्यम्।
तत्प्रेमसम्पज्जनने स्वयं द्राक् शक्तं ततः श्रेष्ठतमं मतं तत्॥२२॥

(बृहद्भागवतामृतम् २/३/१५८)

यद्यपि श्रीकृष्णके नानाप्रकारके कीर्त्तन हैं, तो भी उनमें प्रभुके नामोंका कीर्त्तन करना ही मुख्य है। क्योंकि नाम कीर्त्तनमें प्रेम सम्पत्ति जल्दी ही प्रकट करानेकी सामर्थ्य है, इसलिए हमारे मतमें कीर्त्तन ही सर्वश्रेष्ठ है॥२२॥

मत्कथावाचकं नित्यं मत्कथाश्रवणे रतम्।
मत्कथाप्रीतिमनसं नाहं त्यक्षामि तं नरम्॥२३॥

(भक्तिसन्दर्भ २६९)

विष्णु-धर्म तथा स्कन्दपुराणमें श्रीभगवान्ने कहा है—जो व्यक्ति सदा मेरी कथा कहता है, मेरी कथा सुननेमें अनुरक्त रहता है तथा मेरी कथा सुनकर सन्तुष्ट चित्त होता है, मैं उस व्यक्तिका कभी भी त्याग नहीं करता॥२३॥

नाहं बसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥२४॥

(भक्तिसन्दर्भ २६९)

पद्मपुराणान्तर्गत कार्त्तिक माहात्म्यमें श्रीभगवान्के वचन हैं—हे नारद! मैं वैकुण्ठमें अथवा योगियोंके हृदयमें वास नहीं करता हूँ (कभी वास करता हूँ कभी वहाँसे चला भी जाता हूँ) किन्तु जहाँ मेरे भक्त मेरे नाम-गुण-लीलाका गान करते हैं, वहाँ मैं बैठा ही रहता हूँ—निरन्तर वहाँ वास करता हूँ॥२५॥

तारकाज्जायते मुक्तिः समधिकेति भावः॥२६॥

(श्रीकृष्णसन्दर्भ पृष्ठ १५६)

मुक्तिदान हेतु (दानके कारण) रामनामको तारक कहा गया है और प्रेम प्रदान हेतु कृष्णनामको पारक कहकर पीछे कहा गया है कि—तारकसे मुक्ति एवं पारकसे प्रेमभक्ति लाभ होती है। महादेवके वाक्यका तात्पर्य यह है कि—राम नाममें मोचकता (मुक्तित्व) शक्ति अधिक और कृष्णनाममें मोक्षसुखको तिरस्कृत करनेवाला प्रेमानन्द दानशक्ति समधिक है॥२६॥

नाम्नां मुख्यतमं नाम कृष्णाख्यं मे परन्तपेति॥२७॥

(कृष्णसन्दर्भ पृष्ठ १५७)

नारद कुशध्व संवादमें श्रीभगवान्ने कहा—हे परन्तप! (शत्रुको पीड़ा देनेवाले) मेरा मुख्य एवं गौण जितने प्रकारके नाम हैं, उनमेंसे सर्वश्रेष्ठतम नाम है 'कृष्ण'॥२७॥

इति गौड़ीय-कण्ठहारमें 'श्रीनाम-तत्त्व' वर्णन नामक सत्रहवाँ रत्न समाप्त।

U U U

अठारहवाँ रत्न

प्रयोजन-तत्त्व

भाव-संज्ञा—

शुद्धसत्त्वविशेषात्मा प्रेमसूर्यांशु साम्यभाक्।
रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते॥१॥

(भ. र. सि. पू. वि. ३/१)

विशुद्धसत्त्वमय प्रेमरूपी सूर्यकी किरण सदृश तथा भगवत् प्राप्तिकी अभिलाषासे जिस भक्तिके द्वारा चित्त द्रवित हो जाता है, उसका नाम 'भाव' है अर्थात् प्रेमाभक्तिकी प्रारम्भिक स्थिति ही भाव है॥१॥

भावसम्बन्धीय महाप्रभुकृत श्लोक—

नयनं गलदश्रुधारया वदनं गद्गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति॥२॥

(शिक्षाष्टक ६ श्लोक)

हे नाथ! आपका नाम ग्रहण करनेसे कब मेरे नेत्र अविरलरूपसे बहती हुई अश्रुधारासे सुशोभित होंगे?॥२॥

प्रस्फुटित नाममें स्वविस्मापक श्रीमूर्तिकी मुग्ध भावोदय क्रिया—

यन्मर्त्त्यलीलौपयिकं स्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतम्।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्॥३॥

(श्रीमद्भागवत ३/२/१२)

भगवान्ने अपनी योगमायाका बल (प्रभाव) दिखानेके लिए नरलीलाके उपयोगी अपने जिस श्रीविग्रहको प्रकट किया, वह इतना मनोहर था कि उसे देखकर वे स्वयं भी विस्मित हो जाते थे। उस रूपमें सौभाग्य तथा सुन्दरताकी पराकाष्ठा थी जिससे आभूषण भी विभूषित हो जाते थे॥३॥

माधुर्य पुरुषका सर्वैश्वर्यभाव—

स्वयन्त्वसाम्यातिशयस्त्र्यधीशः स्वाराज्य-लक्ष्याप्तसमस्तकामः।
बलिं हरद्भिश्चिरलोकपालैः किरीटकोटीड़ितपादपीठः॥४॥

(श्रीमद्भागवत ३/२/२१)

स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण तीनों लोकोंके अधीश्वर हैं। उनके समान अथवा उनसे श्रेष्ठ दूसरा कोई भी नहीं है। वे सर्वदा अपने परमानन्दस्वरूपसे (अपने स्वतः सिद्ध ऐश्वर्यसे) ही पूर्णकाम हैं। इन्द्र आदि असंख्य लोकपालगण नाना प्रकारके उपहार प्रदानकर अपने-अपने मुकुटोंके अग्रभागसे भगवान्के चरण रखनेकी चौकीको प्रणाम करते हैं अर्थात् करोड़ों-करोड़ों मुकुटोंकी झङ्कार मानो चरण रखनेकी चौकीकी स्तुति करती हैं॥४॥

रतिलक्षणा भक्तिमें अन्य भक्तोंके साथ नामानुशीलन—

परस्परानुकथनं पावनं भगवद्यशः।
मिथो रतिर्मिथस्तुष्टिर्निवृत्तिर्मिथ आत्मनः॥५॥
स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम्।
भक्त्या सञ्जातया भक्त्या विभ्रत्युत्पुलकां तनुम्॥६॥

(श्रीमद्भागवत ११/३/३०-३१)

भगवान्का यश परम पावन है—भक्तगण परस्पर भगवान्के उसी परम पावन यशका गुणगान करते हैं, जिससे भक्तोंका परस्पर एक दूसरेसे प्रेम, सन्तुष्टि तथा संसारसे निवृत्ति हो जाती है। परस्पर अघासुरका वध करनेवाले श्रीहरिका स्मरण करते हुए तथा स्मरण कराते हुए साधन भक्तिका आचरण (पालन) करनेसे उनके हृदयमें पराभक्ति (प्रेमाभक्ति) का उदय होता है, जिससे वे पुलकित हो जाते हैं॥५-६॥

व्यवहारका भावलक्षण—

क्षान्तिरव्यर्थकालत्वं विरक्तिर्मानशून्यता।
आशाबन्धः समुत्कण्ठा नामगाने सदा रुचिः॥७॥
आसक्तिस्तद्गुणाख्याने प्रीतिस्तद्वसतिस्थले।
इत्यादयोनुभावाः स्युर्जाते भावांकुरे जने॥८॥

(भ. र. सि. पू. वि. ३/११)

क्षान्ति (क्षमा), अव्यर्थकालत्व अर्थात् ऐसा यत्न जिससे कि कृष्णसेवाके अतिरिक्त समय व्यर्थ न हो, विरक्ति अर्थात् कृष्णेतर वस्तुओंसे वैराग्य, मानशून्यता अर्थात् अपना सम्मान न चाहना, आशाबन्ध अर्थात् भगवत् प्राप्तिकी दृढ़ आशा तथा साधनमें उत्कण्ठा, सर्वदा कृष्ण नाम सङ्कीर्त्तनमें रुचि, कृष्णकी लीला कथाओंके वर्णनमें आसक्ति और कृष्णकी लीलास्थलियोंमें प्रीति—ये छह प्रकारके अनुभाव भावाङ्कुर होनेपर मनुष्यके स्वभावमें दिखाई देते हैं॥८॥

रागमार्गसे साधक और सिद्धरूपसे दो प्रकारकी सेवा—

सेवा साधकरूपेण सिद्धरूपेण चात्र हि।
तद्भावलिप्सुना कार्या व्रजलोकानुसारतः॥९॥

(भ. र. सि. पू. वि. २/१५१)

जिसका रागात्मिका भक्तिके प्रति लोभ हो चुका है, वह भगवान्‌की सेवा ब्रजवासियोंके भावानुसार साधकरूपसे (साधक देहसे) तथा सिद्धस्वरूपसे (सिद्ध शरीरसे) करता है। साधकरूपसे श्रवण-कीर्त्तन आदि नवविधा वैधी भक्तिका आचरण करता है तथा सिद्धस्वरूपसे ब्रजवासियोंके आनुगत्यमें मानस (भाव) सेवा करता है॥९॥

बाह्य, अभ्यन्तर,—इहार दुइ त' साधन।
बाह्ये 'साधक'-देहे करि श्रवण-कीर्त्तन॥
मने निज-सिद्धदेह करिया भावन।
रात्रिदिने करे व्रजे कृष्णेर सेवन॥
निजाभीष्ट कृष्णप्रेष्ठ पाछे त' लागिया।
निरन्तर सेवा करे अन्तर्मना हञा॥१०॥

(चै. च. म. २२ १५१-१५२, १५४)

रागानुगा भक्तिका साधन दो प्रकारसे होता है—बाह्य (साधक देहसे) तथा अभ्यन्तर (सिद्ध देहसे)। साधक-देहसे श्रवण-कीर्त्तन आदि साधन-भक्तिका पालन तथा अपने सिद्ध देहकी भावनाके द्वारा ब्रजमें दिन-रात निरन्तर कृष्णकी सेवा करते हैं तथा अपने अभिलषित किसी कृष्णके परिकरका अनुसरणकर उनके आनुगत्यमें अन्तर्मनसे श्रीश्रीराधाकृष्ण युगलकी सेवा करते हैं॥१०॥

प्रेमवृद्धिक्रममें स्नेह, राग, अनुराग, भाव और महाभाव पर्यन्त—

स्याद्दृढ़ेऽयं रतिः प्रेम्णा प्रोद्यन् स्नेहः क्रमादयम्।
स्यान्मनः प्रणयो रागोऽनुरागो भाव इत्यपि॥११॥
बीजमिक्षुः स च रसः स गुड़ः स खण्ड एव सः।
स शर्क्करा सिता सा च सा यथा स्यात् सितोत्पला॥१२॥

(उज्ज्वल, स्थायीभाव प्र. ४४)

यदि यह रति (भाव) विरुद्धभावोंके द्वारा अभेद्यरूपमें दृढ़ हो जाती है अर्थात् प्रतिकूल भावोंके द्वारा चालित नहीं होती है, तब उस रति (भाव) को प्रेम कहा जा सकता है। जिस प्रकार गन्नेका बीज ही क्रमशः गन्ना, रस, गुड़, मिश्री, चीनी तथा सीतोपलकी अवस्थाको प्राप्त होता है, उसी प्रकार रति भी क्रमशः प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुरागकी स्थितिको प्राप्त होती है॥११-१२॥

साधन-भक्ति हइते हय रतिर उदय।
रति गाढ़ हइले तार प्रेम नाम कय॥
प्रेम-वृद्धिक्रमे नाम स्नेह, मान, प्रणय।
राग, अनुराग, भाव, महाभाव हय॥१३॥

(चै. च. म. १९/१७७-१७८)

साधन-भक्तिके द्वारा ही साधकके हृदयमें रति उदित होती है, पुनः वही रति परिपक्व अवस्थामें प्रेम एवं यही प्रेम बढ़ते-बढ़ते क्रमानुसार स्नेह, मान, प्रणय, राग, भाव और महाभावकी अवस्थाको प्राप्त करता है॥१३॥

भक्तिरूपी नेत्रोंसे ही श्रीभगवान्‌को देखा जाता है—

प्रेमाञ्जनच्छुरित भक्तिविलोचनेन सन्तः सदैवहृदयेऽपिविलोकयन्ति।
यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥१४॥

(ब्रह्मसंहिता ३८ श्लोक)

भक्तगण प्रेमरूपी अञ्जन (काजल) से रञ्जित भक्तिनेत्रोंके द्वारा जिन अचिन्त्यगुणोंवाले श्यामसुन्दर कृष्णका अपने हृदयमें दर्शन करते हैं, उन आदि पुरुष भगवान्‌का मैं भजन करता हूँ॥१४॥

मधुर-रसाश्रिता भक्ति—

आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविताभिस्ताभिर्य एव निजरूप तयाकलाभिः।
गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥१५॥

(ब्रह्मसंहिता ३७ वाँ श्लोक)

मैं उन आदिपुरुष गोविन्दका भजन करता हूँ, जो प्राणिमात्रके आत्मस्वरूप होकर भी अथवा गोलोक निवासी अन्य प्रियवर्गोंके परमप्रेष्ठ होनेके कारण, जीवात्माकी तरह उनके निकट रहकर भी आनन्द चिन्मय रस अर्थात् परम प्रेममय उज्ज्वल नामक रसके द्वारा सराबोर रूपावली एवं निजस्वरूप होनेके कारण, ह्लादिनीशक्तिकी वृत्तिस्वरूपा गोपियोंके साथ, गोलोक धाममें ही निवास करते हैं॥१५॥

अन्वय और व्यतिरेक भावसे रसास्वादन—

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनात्मनः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा॥१६॥

(भा. २/९/३५)

जो आत्मतत्त्व जिज्ञासु हैं, वे अन्वय व्यतिरेक भावके द्वारा इस विषयमें विचारपूर्वक जो वस्तु सर्वत्र सर्वदा नित्य है, उसीका अनुसन्धान करते हैं॥१६॥

रसकी संज्ञा—

व्यतीत्य भावनावर्त्म यश्चमत्कारभारभूः।
हृदि सत्त्वोज्ज्वले बाढ़ं स्वदते स रसो मतः॥१७॥

(भ. र. सि. द. वि. ५ ल. ७९)

भावनाओंका पथ अतिक्रमपूर्वक अतिशय चमत्कारका आधारस्वरूप जो स्थायीभाव शुद्धसत्त्व परिमार्जित उज्ज्वल हृदयमें आस्वादित होता है, उसे ही रस कहा जाता है॥१७॥

मधुर-रसका अधिकार—

यदि हरिस्मरणे सरसं मनः यदि विलास-कलासु कुतूहलम्।
मधुर-कोमल-कान्त पदावलीं श्रृणु तदा जयदेव-सरस्वतीम्॥१८॥

(गीतगोविन्द १/३)

यदि कृष्णके स्मरणसे किसीका हृदय रसपूर्ण (द्रवित) हो गया है, यदि राधाकृष्णकी रासकुञ्ज सम्बन्धी रासलीलामें प्रवेश करनेके लिए लोभ उत्पन्न हो गया है, तो कवि जयदेवकी मधुर, कोमल और रमणीय पदावलियोंका श्रवण करें॥१८॥

अनधिकारीके प्रति निषेध वाक्य—

नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः।
विनश्यत्याचरेन्मौढ्याद् यथारुद्राब्धिजं विषम्॥१९॥

(श्रीमद्भागवत १०/३३/३०)

सामर्थ्यहीन अनधिकारी व्यक्ति मनके द्वारा भी कदापि इस प्रकारका आचरण न करें। शङ्करजीने समुद्रसे उत्पन्न विषको पान कर लिया परन्तु मूखर्तापूर्वक यदि कोई सामर्थ्यहीन व्यक्ति ऐसा आचरण करे तो उसका अवश्य ही विनाश होगा॥१९॥

मधुर रसमें विप्रलम्भ—

युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम्।
शून्यायितं जगत् सर्वं गोविन्द-विरहेण मे॥२०॥

(शिक्षाष्टक ७ वाँ श्लोक)

हे गोविन्द! आपका दर्शन पाकर मुझे एक निमेषका समय भी एक युगके समान प्रतीत होता है। नेत्रोंसे वर्षाके जलकी भाँति अविरल अश्रुधारा प्रवाहित हो रही है। सारा जगत् शून्य प्राय प्रतीत होता है॥२०॥

अमून्यधन्यानि दिनान्तराणि हरे त्वदालोकनमन्तरेण।
अनाथबन्धो करुणैकसिन्धो हा हन्त हा हन्त कथं नयामि॥२१॥

(कृष्णकर्णामृत ४१ वाँ श्लोक)

हे देव! हे अनाथ बन्धो! हे करुणासिन्धो! आपके दर्शनके बिना मैं किस प्रकार कष्टपूर्वक दिवारात्रि (समय) व्यतीत करूँ॥२१॥

आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टुमामदर्शनान्मर्महतां करोतु वा।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटोमत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः॥२२॥

(शिक्षाष्टक ८ वाँ श्लोक)

कृष्ण आलिङ्गन प्रदानकर इस चरणसेविकाका सौभाग्य वर्द्धन करें अथवा दर्शन न देकर कष्ट प्रदान करें, वे लम्पट पुरुष हैं, हमारे प्रति जैसा भी व्यवहार क्यों न करें, वे दूसरे कोई नहीं मेरे प्राणनाथ हैं॥२२॥

सुदीर्घ विप्रलम्भ-भाव—

अयि दीनदयार्द्रनाथ हे मथुरानाथ कदावलोक्यसे।
हृदयं त्वदालोककातरं दयित भ्राम्यति किं करोम्यहम्॥२३॥

(पद्यावलीधृत-माधवेद्रपुरीवाक्य)

हे दीनदयार्द्रनाथ! हे मथुरानाथ! कब आपका दर्शन करूँगा? आपके दर्शनके अभावमें अर्थात् दर्शन प्राप्त न कर मेरा कातर हृदय विचलित हो गया है। हे दयित! मैं अब क्या करूँ?॥२३॥

मधुर-रसाश्रित भजनकारीकी निष्ठा—

न धर्मं नाधर्मं श्रुतिगणनिरुक्तं किल कुरु
व्रजे राधाकृष्णप्रचुरपरिचर्यामिह तनु।
शचीसूनुं नन्दीश्वरपतिसुतत्वे गुरुवरं
मुकुन्दप्रेष्ठत्वे स्मर परमजस्रं ननु मनः॥२४॥

(मनःशिक्षा २ श्लोक)

हे मेरे प्यारे मन! श्रुतियोंमें कथित धर्म और अधर्म कुछ भी मत करो, बल्कि श्रुतियोंने चरम सिद्धान्तके रूपमें जिनको सर्वोपादेय चरम उपास्य एवं सर्वोपरि परम तत्त्व निर्धारित किया है, उन श्रीराधाकृष्ण युगलकी प्रेममयी प्रचुर परिचर्या करो। श्रीराधाभाव-कान्ति सुवलित शचीनन्दन श्रीचैतन्य महाप्रभुको श्रीनन्दनन्दनसे अभिन्न तथा श्रीगुरुदेवको श्रीमुकुन्दप्रेष्ठ (प्रिय) जानकर उनका सर्वदा स्मरण करो॥२४॥

परिशिष्ट

सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते॥१॥

(भ. र. सि. १/४/१)

भाव अत्यन्त गाढ़ताको प्राप्त होकर जब सम्यक्‌रूपसे चित्तकी आर्द्रता सम्पादन कर श्रीकृष्णमें अतिशय ममत्वबुद्धि उत्पन्न करता है तभी उसे प्रेम कहते हैं॥१॥

अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसङ्गता।
भक्तिरित्युच्यते भीष्मप्रह्लादोद्धवनारदैः॥२॥

(भ. र. सि. १/४/२)

जहाँ अन्योंके साथ (देहगृहादि विषयमें) ममतासे रहित, ममता केवल विष्णुमें ही संगत होती है, उस भावभक्तिको ही भीष्म, प्रह्लाद, नारद, उद्धव प्रमुखने प्रेमभक्ति कहा है॥२॥

मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥३॥

(श्रीमद्भागवत ९/४/६६)

जैसे सती स्त्री अपने पातिव्रत्यसे सदाचारी पतिको वशमें कर लेती है, वैसे ही मेरे साथ अपने हृदयको प्रेम-बन्धनसे बाँध रखनेवाले समदर्शी साधु भक्तिके द्वारा मुझे अपने वशमें कर लेते हैं॥३॥

तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता मयैव वृन्दावनगोचरेण।
क्षणार्धवत्ताः पुनरङ्ग तासां हीना मया कल्पसमा बभूवुः॥४॥

(श्रीमद्भागवत ११/१२/११)

तुम जानते हो कि मैं ही उनका एकमात्र प्रियतम हूँ। जब मैं वृन्दावनमें था, तब उन्होंने बहुत-सी रात्रियाँ (रासकी रात्रियाँ) मेरे साथ आधे क्षणके समान बिता दी थीं; परन्तु प्यारे उद्धव! मेरे बिना वे ही रात्रियाँ उनके लिए एक-एक कल्पके समान हो गयीं॥४॥

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।
रध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः॥५॥

(श्रीमद्भागवत १०/२१/५)

गोपियाँ मन-ही-मन देखने लगीं कि श्रीकृष्ण ग्वालबालोंके साथ अपने श्रीचरणकमलोंसे अङ्कित श्रीवृन्दावनमें प्रवेशकर रहे हैं। उनके सिरपर मोरपंख है और अल्हड़पनके कारण कानोंमें कनेरका एक ही फूल है, श्रीअङ्गपर सुनहरा पीताम्बर विराजमान है, गलेमें पांच प्रकारके सुगन्धित पुष्पोंकी ग्रथित वैजयन्ती माला है। श्रेष्ठ नट जैसा क्या ही सुन्दर वेष है। वेणुके छिद्रोंको वे अपने अधरामृतसे भर रहे हैं। उनके पीछे-पीछे ग्वालबाल उनकी लोकपावन कीर्तिका गान कर रहे हैं॥५॥

नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीतमावर्तलक्षितमनोभवभग्नवेगाः।
आलिङ्गनस्थगितमूर्मिभुजैर्मुरारेर्गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः॥६॥

(श्रीमद्भागवत १०/२१/१५)

अरी सखी! देवता, गौओं और पक्षियोंकी बात क्यों करती हो? वे तो चेतन हैं। इन जड़ नदियोंको नहीं देखती? इनमें जो भँवर दीख रहे हैं, उनसे इनके हृदयमें श्यामसुन्दरसे मिलनेकी तीव्र आकाङ्क्षाका पता चलता है। उसके वेगसे ही तो इनका प्रवाह रुक गया है। इन्होंने भी प्रेमस्वरूप श्रीकृष्णकी वंशीध्वनि सुन ली है। देखो, देखो! ये अपनी तरङ्गोंके हाथोंसे उनके चरण पकड़कर कमलके फूलोंका उपहार चढ़ा रही हैं और उनका आलिङ्गन कर रही हैं; मानो उनके चरणोंपर अपना हृदय ही निछावर कर रही हैं॥६॥

पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगायपदाब्जरागश्रीकुंकुमेन दयितास्तनमण्डितेन।
तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरूषितेन लिम्पन्त्य आननकुचेषुजहुस्तदाधिम्॥७॥

(श्रीमद्भागवत १०/२१/१७)

अरी भटू! हम तो वृन्दावनकी इन भीलनियोंको ही धन्य और कृतकृत्य मानती हैं। ऐसा क्यों सखी? इसलिए कि इनके हृदयमें बड़ा प्रेम है। जब ये हमारे प्यारे श्यामसुन्दरको देखती हैं, तब इनके हृदयमें भी उनसे मिलनेकी तीव्र आकाङ्क्षा जाग उठती है। इनके हृदयमें भी प्रेमकी व्याधि लग जाती है। उस समय ये क्या उपाय करती हैं, यह भी सुन लो। हमारे प्रियतमकी प्रेयसी गोपियाँ अपने वक्षःस्थलपर जो केसर लगाती हैं, वह श्यामसुन्दरके चरणोंमें लगी होती है और वे जब वृन्दावनके घास-पातपर चलते हैं, तब उनमें भी लग जाती है। ये सौभाग्यवती भीलनियाँ उन्हें उन तिनकोंपरसे छुड़ाकर अपने स्तनों और मुखोंपर मल लेती हैं और इस प्रकार अपने हृदयकी प्रेम-पीड़ा शान्त करती हैं॥७॥

हन्तायमद्रिरबला हरिदासवर्यो यद् रामकृष्णचरणस्पर्शप्रमोदः।
मानं तनोति सहगोगणयोस्तयोर्यत् पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूलैः॥८॥

(श्रीमद्भागवत १०/२१/१८)

अरी गोपियो! यह गिरिराज गोवर्द्धन तो भगवान्‌के भक्तोंमें बहुत ही श्रेष्ठ है। धन्य है इसका भाग्य! देखती नहीं हो, हमारे प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण और नयनाभिराम बलरामके चरणकमलोंका स्पर्श प्राप्त करके यह कितना आनन्दित रहता है! इसके भाग्यकी सराहना कौन करे? यह तो उन दोनोंका तथा ग्वालबालों और गौओंका बड़ा ही सत्कार करता है। स्नान-पानके लिए झरनोंका जल देता है, गौओंके लिये सुन्दर हरी-हरी घास प्रस्तुत करता है। विश्राम करनेके लिए कन्दराएँ और खानेके लिए कन्द-मूल-फल देता है। वास्तवमें यह धन्य है!॥८॥

निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनं व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः॥९॥

(श्रीमद्भागवत १०/२९/४)

भगवान्‌का वह वंशीवादन, भगवान्‌के प्रेमको, उनके मिलनकी लालसाको अत्यन्त उकसानेवाला और बढ़ानेवाला था। यों तो श्यामसुन्दरने पहलेसे ही गोपियोंके मनको अपने वशमें कर रखा था। अब तो उनके मनकी सारी वस्तुएँ—भय, सङ्कोच, धैर्य, मर्यादा आदिकी वृत्तियाँ भी छीन लीं। वंशीध्वनि सुनते ही उनकी विचित्र गति हो गयी। श्रीकृष्णको पतिरूपमें प्राप्त करनेके लिए जिन्होंने एकसाथ साधना की थी, वे गोपियाँ भी एक-दूसरेको सूचना न देकर—यहाँतक कि एक दूसरेसे अपनी चेष्टाको छिपाकर जहाँ वे थे, वहाँके लिए चल पड़ीं। परीक्षित्! वे इतने वेगसे चली थीं कि उनके कानोंके कुण्डल झोंके खा रहे थे॥९॥

का स्त्र्यङ्ग ते कलपदायतमूर्च्छितेन
सम्मोहिताऽऽर्यचरितान्न चलेस्त्रिलोक्याम्।
त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं
यद् गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन्॥१०॥

(श्रीमद्भागवत १०/२९/४०)

प्यारे श्यामसुन्दर! तीनों लोकोंमें भी और ऐसी कौन-सी स्त्री है, जो मधुर-मधुर पद और आरोह-अवरोहक्रमसे विविध प्रकारकी मूर्च्छनाओंसे युक्त तुम्हारी वंशीकी तान सुनकर तथा इस त्रिलोकसुन्दर मोहिनी मूर्तिको—जो अपने एक बूँद सौन्दर्यसे त्रिलोकीको सौन्दर्यका दान करती है एवं जिसे देखकर गौ, पक्षी, वृक्ष और हरिन भी रोमाञ्चित और पुलकित हो जाते हैं—अपने नेत्रोंसे निहारकर आर्य-मर्यादासे विचलित न हो जाय, कुल-कान और लोकलज्जाको त्यागकर तुममें अनुरक्त न हो जाय॥१०॥

अटति यद्भवानह्नि काननं त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते जड़ उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम्॥११॥

(श्रीमद्भागवत १०/३१/१५)

प्यारे! दिनके समय जब तुम वनमें विहार करनेके लिए चले जाते हो, तब तुम्हें देखे बिना हमारा एक-एक क्षण युगके समान हो जाता है और जब तुम सन्ध्याके समय लौटते हो तथा घुँघराली अलकोंसे युक्त तुम्हारा परम सुन्दर मुखारविन्द हम देखती हैं, उस समय पलकोंका गिरना हमारे लिए भार हो जाता है और ऐसा प्रतीत होता है कि इन नेत्रोंकी पलकोंको बनानेवाला विधाता मूर्ख है॥११॥

मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधेलुब्धधर्मा
स्त्रियमकृत विरूपांस्त्रीजितः कामयानाम्।
बलिमपि बलिमत्त्वावेष्टयद् ध्वाङ्क्षवद् य-
स्तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः॥१२॥

(श्रीमद्भागवत १०/४७/१७)

रे मधुप! जब वे राम बने थे, तब उन्होंने कपिराज बालिको व्याधके समान छिपकर बड़ी निर्दयतासे मारा था। बेचारी शूर्पणखा कामवश उनके पास आयी थी, परन्तु उन्होंने अपनी स्त्रीके वश होकर उस बेचारीके नाक-कान काट लिये और इस प्रकार उसे कुरूप कर दिया। ब्राह्मणके घर वामनके रूपमें जन्म लेकर उन्होंने क्या किया? बलिने तो उनकी पूजा की, उनकी मुँहमाँगी वस्तु दी और उन्होंने उसकी पूजा ग्रहण करके भी उसे वरुणपाशसे बाँधकर पातालमें डाल दिया। ठीक वैसे ही, जैसे कौआ बलि खाकर भी बलि देनेवालेको अपने अन्य साथियोंके साथ मिलकर घेर लेता है और परेशान करता है। अच्छा, तो अब जाने दे हमें कृष्णसे क्या, किसी भी काली वस्तुके साथ मित्रतासे कोई प्रयोजन नहीं है। परन्तु यदि तू कहे कि 'जब ऐसा है तब तुमलोग उनकी चर्चा क्यों करती हो?, तो भ्रमर! हम सच कहती हैं, एक बार जिसे उसका चसका लग जाता है, वह उसे छोड़ नहीं सकता। ऐसी दशामें हम चाहनेपर भी उनकी चर्चा छोड़ नहीं सकतीं॥१२॥

यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुट्-
सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्मा विनष्टाः।
सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना
बहव इह विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति॥१३॥

(श्रीमद्भागवत १०/४७/१८)

श्रीकृष्णकी लीलारूप कर्णामृतके एक कणका भी जो रसास्वादन कर लेता है, उसके राग-द्वेष सुख-दुःख आदि सारे द्वन्द्व छूट जाते हैं। यहाँ तक कि बहुतसे लोग तो अपनी दुःखमय—दुःखसे सनी हुई घर-गृहस्थी छोड़कर अकिञ्चन हो जाते हैं, अपने पास कुछ भी संग्रह-परिग्रह नहीं रखते, और पक्षियोंकी तरह चुन-चुनकर भिक्षावृत्तिके द्वारा जीवन निर्वाह करते हैं तथा उनके सांसारिक सम्बन्ध सम्पूर्णरूपसे छूट जाते है, फिर भी श्रीकृष्णकी लीलाकथा छोड़ नहीं पाते। वास्तवमें उसका रस, उसका चसका ऐसा ही है। यही दशा हमारी हो रही है॥१३॥

इति गौड़ीय-कण्ठहारमें 'प्रयोजन-तत्त्व' वर्णन नामक अठारहवाँ रत्न समाप्त।

U U U

दोलक

प्रमाण-तत्त्व

श्रीमद्भागवतमें चार प्रमाणोंका उल्लेख—

श्रुतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं चतुष्टयम्।
प्रमाणेष्वनवस्थानाद् विकल्पात् स विरज्यते॥१॥

(श्रीमद्भागवत ११/१९/१७)

श्रुति, प्रत्यक्ष, अनुमान, ऐतिह्य—ये चार प्रकारके प्रमाण हैं। इन समस्त प्रमाणोंका अनुसन्धान करनेपर किसी भी प्रकार यदि सन्देह उत्पन्न हो जाय तो इन समस्त प्रमाणोंको ही अनवस्थ (अस्थिर) जानकर उनका परित्याग कर दे॥१॥

मनुसंहितामें तीन प्रमाणोंका उल्लेख—

प्रत्यक्षञ्चानुमानञ्च शास्त्रञ्च विविधागमम्।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता॥२॥

(मनु १२/१० ५)

जो धर्मके तत्त्वको जाननेके इच्छुक हैं, उनके लिए प्रत्यक्ष, अनुमान एवं वेदमूलक स्मृति आदि विविध आगमसमूह—इन तीनोंके विषयमें जानना अति आवश्यक है॥२॥

वृद्धवैष्णव श्रीमध्वाचार्यके अनुसार तीन प्रकारके प्रमाण—

प्रत्यक्षेऽन्तर्भवेद् यस्मादैतिह्यं तेन देशिकः।
प्रमाणं त्रिविधं प्रेख्यात् तत्र मुख्या श्रुति-र्भवेत्॥३॥

(प्रमेयरत्नावली ९/२)

ऐतिह्य प्रत्यक्ष प्रमाणके अन्तर्गत होनेके कारण देशिक प्रवर मध्वमुनिने तीन प्रकारके प्रमाणोंको ही स्वीकार किया है तथा उक्त तीनों प्रमाणोंमेंसे 'श्रुति' या 'अपौरुषेय'के वाक्यको ही मूल प्रमाणके रूपमें गणना की गई है॥३॥

शब्दप्रमाण ही मूल प्रमाण—

यद्यपि प्रत्यक्षानुमान-शब्दार्षोपमानार्थापत्त्यभाव-सम्भवैतिह्यचेष्टाख्यानि दश प्रमाणानि विदितानि, तथापिभ्रम-प्रमाद-विप्रलिप्सा-करणापाटव-दोष-रहितवचनात्मकः शब्द एव मूल प्रमाणम्॥४॥

(तत्त्वसन्दर्भीय-सर्वसम्वादिनी)

यद्यपि प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, आर्य, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, सम्भव, ऐतिह्य तथा चेष्टा—इन दश प्रकारके प्रमाणोंका उल्लेख मिलता है। परन्तु इनमेंसे भ्रम, प्रमाद, वञ्चनेच्छा, इन्द्रियोंकी अपटुता आदि-दोषोंसे रहित होनेके कारण वचनात्मक शब्द प्रमाण ही मूल प्रमाण हैं॥४॥

प्रमाणेर मध्ये श्रुति-प्रमाण प्रधान।
श्रुति जे मुख्यार्थ कहे, सेइ से प्रमाण॥
जीवेर अस्थि-विष्ठा दुइ शङ्ख-गोमय।
श्रुतिवाक्ये सेइ दुइ महापवित्र हय॥
स्वतःप्रमाण वेद सत्य जेइ कय।
'लक्षणा' करिते स्वतःप्रामाण्य-हानि हय॥५॥

(चै. च. म. ६/१३५-१३७)

समस्त प्रकारके प्रमाणोंमें श्रुति प्रमाण ही प्रधान प्रमाण है। श्रुतियोंका मुख्य अर्थ ही प्रधान प्रमाण है। जीवकी अस्थि (हड्डी) एवं विष्ठा, शङ्ख एवं गोमूत्र (गोबर) के रूपमें प्रयुक्त होती है, जो कि श्रुति वाक्योंके अनुसार परम पवित्र है। स्वतः प्रमाण वेद जो कुछ भी कहते हैं वह परमसत्य होता है परन्तु 'लक्षणा' वृत्तिके द्वारा उसका अर्थ करनेपर स्वतः प्रामाण्यताकी हानि होती है॥५॥

U U U

मध्यमणि

गुर्वष्टक

(श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती–ठाकुर–कृत)

संसार–दावानल–लीढ़–लोक–
त्राणाय कारुण्यघनाघनत्वम्।
प्राप्तस्य कल्याण–गुणार्णवस्य
वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम्॥१॥

संसार–दावानलसे सन्तप्त लोगोंकी रक्षाके लिए जो करुणाके घने मेघस्वरूप होकर कृपावारिका वर्षण करते हैं, मैं उन्हीं कल्याण–गुणनिधि श्रीगुरुदेवके पादपद्मोंकी वन्दना करता हूँ॥१॥

महाप्रभोः कीर्त्तन–नृत्य–गीत–
वादित्रमाद्यन्मनसो रसेन।
रोमाञ्च–कम्पाश्रु–तरङ्ग–भाजो
वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम्॥२॥

संकीर्त्तन, नृत्य, गीत, वाद्यादिके द्वारा उन्मत्तचित्त श्रीमन्महाप्रभुके प्रेमरसमें जिन्हें रोमाञ्च, कम्प और अश्रुतरंग उद्‌गत होते हैं, मैं उन्हीं श्रीगुरुदेवके पादपद्मोंकी वन्दना करता हूँ॥२॥

श्रीविग्रहाराधन – नित्य – नाना–
शृङ्गार – तन्मन्दिर – मार्ज्जनादौ।
युक्तस्य भक्तां च नियुञ्जतोऽपि
वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम्॥३॥

जो श्रीभगवद्विग्रहकी नित्य–सेवा, शृङ्गाररसोद्दीपक तरह–तरहकी वेष रचना और श्रीमन्दिरके मार्जन आदि सेवाओंमें स्वयं नियुक्त रहते हैं तथा (अनुगत) भक्तजनको भी नियुक्त करते हैं, उन्हीं श्रीगुरुदेवके पादपद्मोंकी मैं वन्दना करता हूँ॥३॥

चतुर्विध – श्रीभगवत्प्रसाद
स्वाद्वन्नतृप्तान् हरिभक्तसङ्घान्।
कृत्वैव तृप्तिं भजतः सदैव
वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम्॥४॥

जो श्रीकृष्णभक्तोंको चर्व्य, चुष्य लेह्य और पेय—इन चार प्रकारके रस–समन्वित सुस्वादु प्रसादान्न द्वारा परितृप्तकर (अर्थात् प्रसाद–सेवनके द्वारा) प्रपञ्च–नाश और प्रेमानन्दका उदय कराकर स्वयं तृप्ति लाभ करते हैं, उन्हीं श्रीगुरुदेवके पादपद्मोंकी मैं वन्दना करता हूँ॥४॥

श्रीराधिकामाधवयोरपार-
माधुर्य-लीला-गुण-रूप-नाम्नाम्।
प्रतिक्षणास्वादन - लोलुपस्य
वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम्॥५॥

जो राधमाधवके अनन्त-माधुर्यका आस्वादन करनेके लिए सर्वदा लुब्धचित्त हैं, उन्हीं श्रीगुरुदेवके पादपद्मोंकी मैं वन्दना करता हूँ॥५॥

निकुञ्जयूनो रतिकेलिसिद्ध्यै
या यालिभिर्युक्तिरपेक्षणीया।
तत्रातिदाक्षादतिवल्लभस्य
वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम्॥६॥

निकुञ्ज विहारी 'व्रज-युव-द्वन्द्वके' रतिक्रीड़ा- साधनके निमित्त सखियाँ जो युक्ति अवलम्बन करती हैं, उस विषयमें अति निपुण होनेके कारण जो उनके अतिशय प्रिय हैं, उन्हीं श्रीगुरुदेवके पादपद्मोंकी मैं वन्दना करता हूँ॥६॥

साक्षाद्धरित्वेन समस्तशास्त्रै-
रुक्तस्तथा भाव्यत एव सद्भिः।
किन्तु प्रभोर्यः प्रिय एव तस्य
वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम्॥७॥

निखिल शास्त्रोंने साक्षात् हरिके अभिन्न-विग्रहरूपमें जिनका गान किया है एवं साधुगण भी जिनकी उसी प्रकारसे चिन्ता किया करते हैं, तथापि जो भगवान्के एकान्त प्रिय हैं, उन्हीं (भगवान्के-अचिन्त्य- भेदाभेद-प्रकाश-विग्रह) श्रीगुरुदेवके पादपद्मोंकी मैं वन्दना करता हूँ॥७॥

यस्य प्रसादाद्भगवत्प्रसादो
यस्याप्रसादान्नगतिः कुतोऽपि।
ध्यायंस्तुवंस्तस्य यशस्त्रिसन्ध्यं
वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम्॥८॥

एकमात्र जिनकी कृपा द्वारा ही भगवत्-अनुग्रह लाभ होता है, जिनके अप्रसन्न होनेसे जीवोंका कहीं भी निस्तार नहीं है, मैं तीनों संध्याओंमें उन्हीं श्रीगुरुदेवके कीर्त्तिसमूह स्तव और ध्यान करते-करते उनके पादपद्मोंकी मैं वन्दना करता हूँ॥८॥

श्रीमद्गुरोरष्टकमेतदुच्चै-
ब्राह्मेमुहूर्त्ते पठति प्रयत्नात्।
यस्तेन वृन्दावननाथ-साक्षात्-
सेवैव लभ्या जनुषोऽन्त एव॥९॥

जो व्यक्ति इस गुरुदेवाष्टकका ब्राह्म-मुहूर्त्तमें (अरुणोदयसे चार दण्ड पहले) अतिशय यत्नके साथ उच्चस्वरसे पाठ करते हैं, वे वस्तु-सिद्धिके समय वृन्दावनचन्द्रका सेवाधिकार प्राप्त करते हैं॥९॥

U U U

महाप्रभुकी वन्दना

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरञ्चिनुतं शरण्यम्।
भृत्यार्तिहं प्रणतपाल भवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुषं ते चरणारविन्दम्।२॥

(श्रीमद्भागवत ११/५/३)

हे शरणागत रक्षक! हे पुरुषोत्तम महाप्रभो! निरन्तर ध्यानयोग्य, आप सर्वदा ध्यानयोग्य हैं। आपके ध्यानके लिए न कालका नियम है और न देशका (नाम नामी अभेदके कारण) इन्द्रिय तथा कुटुम्ब आदिसे होनेवाले तिरस्कार आदिके आप विनाशक हैं। श्रीगौड़-ब्रज-क्षेत्रमण्डलादि तीर्थोंके आश्रय हैं अथवा ब्रह्मसम्प्रदायाचार्य श्रीमध्वानुगत श्रीरूपानुग महाभागवतोंके आश्रयस्वरूप हैं। शिवावतार श्रीमदद्वैताचार्य एवं ब्रह्मावतार नामाचार्य हरिदास ठाकुरके द्वारा वन्दनीय, अपने भृत्य कुष्ठ विप्रकी आर्तिको दूर करनेवाले, सार्वभौम, प्रतापरुद्रके भोग-मोक्षरूप कुवासनाको दूर करनेवाले, शुद्धभक्तिके विरोधी अन्याभिलाष-कर्म-ज्ञान-योग आदि विविध कुमार्गोंको नष्ट करनेवाले, कृष्णप्रेम प्रदान करनेवाले भवसागरसे पार करनेके लिए जहाज सदृश आपके श्रीचरणकमलोंकी मैं वन्दना करता हूँ॥२॥

त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्।
मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद् वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥३॥

(श्रीमद्भागवत ११/५/३४)

प्राणोंसे भी दुस्त्यज तथा देवताओं द्वारा भी अभिलषित लक्ष्मीस्वरूपिणी विष्णुप्रिया देवीको भी त्यागकर ब्राह्मणके वचन सत्य करनेके लिए जो वनमें चले गये (संन्यास ग्रहण किया)। कलत्र, पुत्र, वित्त आदि रूप मायाको ढूढ़नेवाले अर्थात् संसाराविष्ट जनोंके पीछे कृपा करनेके लिए दौड़नेवाले अतिशय दयाविशिष्ट संसाररूपी समुद्रमें गिरे हुए पतित जीवोंको प्रेमरूपी समुद्रमें निमग्न करनेवाले महापुरुष श्रीचैतन्यमहाप्रभुके श्रीचरणकमलोंकी मैं वन्दना करता हूँ॥३॥

U U U

श्रीकृष्णनामस्तोत्रम्

(श्रील रूपगोस्वामीपाद–विरचितम्)

निखिलश्रुतिमौलिरत्नमाला, – द्युतिनीराजितपादपङ्कजान्त।
अयि मुक्तकुलैरुपास्यमानं, परितस्त्वां हरिनाम संश्रायामि॥१॥

हे हरिनाम! मैं, आपका सर्वतोभावसे आश्रय ग्रहण करता हूँ, क्योंकि आपका महत्व विचित्र है। देखो, समस्त श्रुतियोंकी मुकुटमणिरूप उपनिषद्स्वरूप रत्नोंकी मालाकी चमचमाती हुई कान्तिके द्वारा, आपके चरणकमलोंके अन्तभागकी अर्थात् नखोंकी आरती उतारी जाती है और मुक्तमुनिगण भी आपकी उपासना करते रहते हैं। तात्पर्य—सर्वोपनिषदोंके पुरुषार्थरूपसे प्रतिपाद्य एवं मुक्तमुनिकुलसेव्य आप ही हैं॥२॥

जय नामधेय! मुनिवृन्दगेय!, जनरञ्जनाय परमक्षराकृते।
त्वमनादरादपि मनागुदीरितं, निखिलोग्रतापपटलीं विलुम्पसि॥२॥

हे मुनिगणोंके द्वारा गायन करने योग्य एवं भक्तोंके अनुरञ्जनके लिए ही, अक्षरोंकी आकृति धारण करनेवाले हरिनाम! आपकी जय हो, अर्थात् आपका उत्कर्ष सदैव विद्यमान रहे अथवा अपने उत्कर्षको प्रकट करें। प्रभो! वह उत्कर्ष यह है कि, आप तो अनादरपूर्वक अर्थात् साङ्केत्य, परिहासादिके रूपसे, किञ्चित् उच्चारित होनेपर भी, लिङ्गदेहपर्यन्त समस्त भयङ्कर पापसमूहको समूल नष्ट कर देते हैं। अतः मुझे भी अपनी शरणागति अवश्य प्रदान करेंगे तथा अपने प्रभावका स्मरण करके, मुझको भी पवित्र कर दीजिए, क्योंकि मैं, आपके यशका प्रचारक हूँ॥२॥

यदाभासोऽप्युद्यनकवलितभवध्वान्तविभवो
दृशं तत्त्वान्धानामपि दिशति भक्तिप्रणयिनीम्।
जनस्तस्योदात्तं जगति भगवन्नामतरणे!
कृती ते निर्वक्तुं क इह महिमानं प्रभवति?॥३॥

हे भगवन्नामरूप सूर्य! इस संसारमें, कौन प्रवीण पण्डितजन, आपकी असमोर्ध्व महिमाको, यथार्थरूपसे कहनेमें समर्थ है? अर्थात् कोई भी नहीं। क्योंकि आपका आभासमात्र भी प्रकट होकर, संसारमें अज्ञानरूप अन्धकारके वैभवको, कवलित (ग्रास) कर लेता है और तत्त्वदृष्टिसे विहीन जनोंके लिए, श्रीहरिभक्ति देनेवाली दृष्टि प्रदान करता है॥३॥

यद्ब्रह्मसाक्षात्कृतिनिष्ठयापि, विनाशमायाति विना न भोगैः।
अपैति नाम! स्फुरणेन तत्ते, प्रारब्धकर्मेति विरौति वेदः॥४॥

हे नाम भगवन्! जो प्रारब्धकर्म, भोगोंके बिना, ब्रह्मकी अविच्छिन्न तैलधारावत् की गयी साक्षात्कारकी निष्ठाके द्वारा भी, विनष्ट नहीं हो पाता; वह प्रारब्धकर्म, आपके स्फूर्तिमात्रसे अर्थात् भक्तोंकी जिह्वापर स्फुरण होनेमात्रसे दूर भाग जाता है, इस बातको वेद उच्चस्वरसे कहते है, अर्थात् ब्रह्मविद्याके साक्षात्कारसे, संचित एवं क्रियमाण कर्मोंका नाश तो हो जाता है, किन्तु फल देनेके लिए प्रवृत्त पुण्य-पापरूप प्रारब्धकर्मका नाश तो भोगसे ही होता है, ब्रह्मविद्यासे नहीं। परन्तु वह प्रारब्धकर्म भी, नामोच्चारणमात्रसे विनष्ट हो जाता है॥४॥

अघदमनयशोदानन्दनौ! नन्दसूनो! कमलनयन-गोपीचन्द्र-वृन्दावनेन्द्राः।
प्रणतकरुण-कृष्णाावित्यनेकस्वरूपे त्वयि मम रतिरुच्चैर्वर्धतां नामधेय॥५॥

"हे नाम भगवन्! पूर्वोक्त रूपसे अतर्क्य महिमावाले; आपमें मेरी प्रीति दिन दूनी, रात चौगुनी बढ़ती रहे। आपके अनेक स्वरूप इस प्रकारके हैं—"हे अघदमन! हे यशोदानन्दन! हे नन्दसूनो! हे कमलनयन! हे गोपीचन्द्र! हे वृन्दावनेन्द्र! हे प्रणतकरुण! हे कृष्ण! इत्यादि।"।५॥

वाच्यं वाचकमित्युदेति भवतो नाम! स्वरूपद्वयं
पूर्वस्मात परमेव हन्त करुणं तत्रापि जानीमहे।
यस्तस्मिन् विहितापराधनिवहः प्राणी समन्ताद्भवे-
दास्येनेदमुपास्य सोऽपि हि सदानन्दाम्बुधौ मज्जति॥६॥

हे नाम! आपके वाच्य एवं वाचकरूपसे दो स्वरूप, संसारमें प्रकट होते हैं, अर्थात् 'वाच्य' शब्दसे सच्चिदानन्द-विग्रहवाले परमात्माके लिए कहलाये जाते हैं और 'वाचक' शब्दसे श्रीकृष्ण, गोविन्द इत्यादि वर्णसमूहरूप नाम कहलाते हैं। इन दोनोंके मध्यमें पहले वाच्यकी अपेक्षा, दूसरे वाचक श्रीकृष्ण आदि नाम-स्वरूपवाले आपको हम अधिक दयालु जानते हैं; क्योंकि जो प्राणी, आपके वाच्य-स्वरूपके प्रति अनेक अपराध कर चुका है, वह भी, वाचक स्वरूप आपकी जिह्वाके स्पर्शमात्रसे, उपासना करके, सदैव आनन्दसमुद्रमें गोता लगाता रहता है॥६॥

सूदिताश्रितजनार्तिराशये, रम्यचिद्घन-सुखस्वरूपिणे।
नाम! गोकुलमहोत्सवाय ते, कृष्ण! पूर्णवपुषे नमो नमः॥७॥

"हे आश्रितजनोंके पीड़ासमूहको नष्ट करनेवाले, रमणीय सच्चिदानन्द स्वरूपवाले, गोकुलके महोत्सवस्वरूप एवं व्यापक स्वरूपवाले हे कृष्णनाम! पूर्वोक्त गुणविशिष्ट आपके प्रति मेरा बारम्बार नमस्कार है।"।७॥

नारदवीणोज्जीवन! सुधोर्मि-निर्यास माधुरीपुर!।
त्वं कृष्णनाम! कामं, स्फुर मे रसने रसेन सदा॥८॥

हे नारदकी वीणाको सचेत करनेवाले, हे अमृतमय तरङ्गोंके सारके समान मधुरताके समूह! हे कृष्णनाम! आप मेरी जिह्वापर स्वेच्छापूर्वक रसयुक्त होकर, सदैव स्फूर्ति पाते रहें॥८॥

U U U